

भूख का असली चेहरा

देवेन्द्र शर्मा

साउथ एशियन डॉयलॉगस् ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी
नई दिल्ली

Published by
South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
(With financial support from Simenpuu Foundation, Finland)
383, II Floor, Bank Street
Munirka Village
New Delhi-110067
Phone: 011-26101580
Email: info@saded.in
networkscommunication@gmail.com

प्रकाशक:
साउथ एशियन डॉयलॉगस् ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी
(सीमेनपू फाउंडेशन के वित्तीय सहयोग से)
383 द्वितीय तल, बैंक स्ट्रीट
मुनिरका, नई दिल्ली- 110067

लेसरटाईपसेटस : केपिटल क्रियेशंस, नई दिल्ली
मुद्रण : ऑक्सलियम प्रिंटिंग सर्वीसस, नई दिल्ली

समर्पण

मेरी माँ श्रीमती संतोष शर्मा को सादर समर्पित ।

जिन्होंने दरिद्र नारायण के प्रति करुणा,
सम्मान और सहानुभूति की भावना मुझ में बचपन से ही
भरी और वही मेरे जीवन का लक्ष्य बन गया ।

विषय सूची

| |
|---|
| भूमिका |
| अर्थव्यवस्था की वृद्धि के साथ बढ़ती भूख |
| भाग एक – फिर से माल्थस के चंगुल में? |
| 1. खाद्यान्न : एक हथियार |
| • हरित क्रांति |
| • अकालों से छुटकारा |
| • भूरे इलाके |
| • गिरावट |
| 2. भारतीय कृषि के लिए खतरे की घंटी |
| • समस्याएं ही समस्याएं |
| • फूड फैक्टरियां |
| • खाद्य सुरक्षा को दाव पर लगाना |
| • सब कुछ किसान-विरोधी |
| • अनुचित प्रौद्योगिकी |
| • हत्यारे खेत |
| • मिलावटी दवाएं |
| • कीटनाशी में कीट |
| • समाधान है कीटनाशी-मुक्त कृषि |
| • सही समाधान |
| • कम निवेश वाली खेती |
| • गन्ना-उत्पादन से सबक |
| • तम्बाकू : गलत प्राथमिकताएं |
| 3. केवल गरीबी ही टिकाऊ है |
| • असफलता की खिचड़ी |
| • आर्थिक वृद्धि की कीमत |
| • कडुई सचाइयां |
| • केवल चुनावी मुद्दा |
| • जलवायु-परिवर्तन गिरा रहा है बिजली |
| • वापस परंपरागत ज्ञान की ओर |
| • भरमार के बीच भुखमरी |
| • खाद्य सुरक्षा की नींव खिसकाना |
| • भारतीय खाद्य निगम बढ़ावा देता है गरीबी को |
| • भूख से कमाई |
| • भारतीयों को पशु-दाना |
| • भूख से छुटकारा : सही रास्ता यह है |
| 4. कृषि अनुसंधान की नीतियां |
| • तिकड़मबाजी का विज्ञान |
| • सड़ांध का भंडोफोड़ |
| • गुलाबों की सेज नहीं |

| |
|---|
| • बीज आलू भी बाहर से मंगाओ! |
| • उपज के रिकार्ड |
| भाग दो – कृषि के विरुद्ध जैव-युद्ध |
| 5. जीन यानी वंशाणुओं से छेड़-छाड़ |
| • मीडिया का बायोटेक बोध |
| • दानवीय बीज |
| • मीडिया में घुसपैठ |
| • बाहें मरोड़ना |
| • बहस |
| • तीसरी दुनिया |
| • भयावह भविष्य |
| 6. जैव प्रौद्योगिकी भूख नहीं मिटाएगी |
| • तीसरी दुनिया के लिए नहीं |
| • यह भूख का हल नहीं |
| • पक्षपात |
| • टर्मीनेटर |
| • भूखे लोग क्या आंकड़े चबाएंगे ? |
| • तीसरी दुनिया और पराजीनी खाद्य |
| • भारत में पटकी जा रही है जीनियोगरी |
| • कड्डुए फल |
| • चीनी की जगह ज्यादा मीठे करने वाले पदार्थ |
| • कड्डुई फसल |
| भाग तीन – वैज्ञानिक और आर्थिक अलगाववाद |
| 7. पेटेण्ट-युद्ध |
| • खाद्य-असुरक्षा के बीज |
| • लाइसेंस लेना ज़रूरी |
| • जड़ीबूटियाँ हड़पने की साजिश |
| • 'हल्दी' से मिले सबक |
| • एशिया की जैवविविधता को ही पेटेण्ट करा लें |
| 8. भेदभाव |
| • जैव-दस्युता तरे कई नाम |
| • बीज बचाओ |
| • अधिकार का सवाल |
| • अभिलेखन |
| • एकाधिकार |
| • जैवदस्युता से आंखें फेरना |
| • पेटेण्टों की आड़ में दादागीरी |
| 9. पेटेण्ट से अनजान हिन्दुस्तान |
| भाग चार – वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन – यानी गलत व्यापार संगठन |
| 10. अमरीका की दादागीरी |
| • अमरीका की दूसरी लड़ाई |

| |
|--|
| • विश्व-राजनीति का शिकार |
| • राजनीतिक मजबूरी |
| • जरूरत है 'किसान' की नयी परिभाषा की |
| 11. खाद्य असुरक्षा का व्यापार |
| • बाजारों में पहुंच |
| • घरेलू रियायतें |
| • सुरक्षित अन्न भंडार |
| • खाद्य सुरक्षा पेटी |
| 12. बरबादी का नुस्खा |
| • शांति के लिए खाद्यान्न |
| • सस्ता खाद्यान्न आयात |
| • खाद्य-व्यापार का भूमंडलीय कूड़ाघर |
| • कारगिल का सबक |
| • सूअरों को बना रहे हैं फैक्टरी |
| • ताकि श्वेत क्रांति फट जाए |
| • बसंती क्रांति का अंत |
| क्या भारत भूख का इतिहास बनाना चाहता है ? |
| Bibliography |

भूमिका

विश्व की अर्थव्यवस्था में एकीकरण के नाम पर भूमंडलीकरण थोपा गया है। कहा गया है कि सारी दुनिया के देश जब अपने बाजार एक दूसरे के लिए खोल देंगे तो खुली प्रतियोगिता होगी और सबकी समृद्धि के द्वार खुल जाएंगे। इस तरह की नीतियों के बारे में जो भी सवाल उठाए गए हैं, उनका टालू जवाब यह दिया गया है कि यह तो शुरूआती अड़चनें हैं, आगे सब ठीक हो जाएगा और खुले बाजारों की अर्थव्यवस्था विश्व को नई खुशहाली की ओर ले जाएगी। लगता है जैसे विश्व के अर्थतंत्र पर कोई माफिया गुट हावी हो गया है, जो आर्थिक विचारों में किसी भी तरह के प्रतिवादी स्तरों को सहने के लिए तैयार नहीं है। बढ़ती गरीबी, विषमता, भूख, विस्थापन, बेकारी और अलगाव तथा सामाजिक ताने-बाने का बिखराव जैसे मुद्दे उठाए जाएं तो इसे कुछ सनकी सिरफरों का प्रलाप कहकर दुनिया को वरगलाया जाता है।

दुनिया पर बाजारूपन के हावी होने की शुरूआत हुई सन् 1995 की पहली जनवरी से जब विश्व व्यापार संगठन (वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन, डब्ल्यू टी ओ) स्थापित किया गया। तभी से विकास की एक नई परिभाषा चल पड़ी कि विकास का मतलब है संकट से निपटना। हर तरह के संकट गिना-गिना कर दुनिया को डराया जाने लगा – 'आर्थिक संकट', 'सामाजिक संकट', 'पर्यावरण संकट', 'गरीबी का संकट' और 'जनतंत्र पर संकट'। इस तरह के तमाम संकटों की बौछार कर दी गई और सभी देशों के राष्ट्रीय विकास की नीतियों और योजनाओं में इनके छींटे नजर आने लगे। द्विपक्षीय वित्तीय समझौतों और दानदाता संगठनों के लिए ये संकट वेदवाक्य बन गए।

इस संकट-वर्षा में असली मुद्दे बह गए। जहां तक भारत और अन्य दक्षिण एशियाई देशों का सवाल है, इनकी अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, खेती। आज से नहीं, शुरू से ही। इन देशों की खेती पर कोई संकट है, तो यह कि पहले जितने लोग कृषि के सहारे अपनी जीविका टिकाऊ तौर पर चला रहे थे, अब नहीं चला पा रहे। अब खेती में उतना रोजगार नहीं रहा। इसका एक बड़ा कारण यह है कि बाजारू दबाव के चलते भू-स्वामियों ने अनाज की जगह नगदी फसलों को उगाने पर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया है। लिहाजा भूमिहीनों को अब खेतों पर पूरे साल मजदूरी करने के मौके घटते जा रहे हैं। बहुत छोटे किसान भी इस बाजारू दौड़ में पिछड़ने के कारण परेशान हैं। वे जमीनें बेच रहे हैं और कर्ज में डूब रहे हैं। यही नहीं तुरंत मुनाफा कमाने की होड़ पैदा करके मिट्टी, पानी और जंगल जैसे बुनियादी प्राकृतिक संसाधनों को बर्बादी की ओर धकेला गया है। अमीरों के मौजमजे के लिए पैदावार बढ़ाने में सब कुछ झाँक दो। इस तरह गरीब और गरीब होते जा रहे हैं और अमीर और अमीर।

रोजगार की तलाश में लाखों खेतिहर मजदूर गांव छोड़-छोड़कर शहरों की तरफ भाग रहे हैं। वे जहां भी जाते हैं वहां पगार पूरी नहीं मिलती, न पूरा रोजगार है। अपना धंधा शुरू करें तो बीस झंझट हैं। लिहाजा खुली आबोहवा छोड़कर प्रदूषण और गंदगी की चपेट में अपना स्वास्थ्य भी गंवा रहे हैं और अपनी अस्मिता और मानवाधिकार भी। जैसे –तैसे गुजारा करने वाले ये लोग समाज पर बोझ बन कर जी रहे हैं।

इधर नई वैज्ञानिक तकनीकों का भी झांसा दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए जैव प्रौद्योगिकी (बायोटेक्नोलॉजी) को ऐसी चमत्कारी जादुई पुड़िया बताया जा रहा है जो दुनिया के गरीब मुल्कों की हर समस्या हल कर देगी। सभी विकासशील देशों की खेतीबाड़ी में आत्मनिर्भरता पर संकट मंडरा रहा है। बीज पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अधिकार जमाने के चक्कर में हैं, क्योंकि बीज ही खेती की बुनियाद है। हर तरह से किसानों को लुभाने की कोशिश हो रही है ताकि वह अधिक पैदावार देने वाले संकट और पराजीनी (ट्रांसजेनिक) बीजों के फेर में खुद के बीज पैदा करना छोड़ दें और हर बार बाजार से बीज खरीदें ताकि बीज कंपनियों की चांदी हो। इन कंपनियों ने बीजों के पेटेंट ले रखे हैं और कोई भी किसान चाहे भी तो भी उन्हें पैदा नहीं कर सकता। बड़ी-बड़ी कंपनियां बीज, खाद्यान्न, व्यंजन और दवा के क्षेत्र में और भी बड़ी कंपनियों के साथ मिलकर सुरसा का रूप धारण करके विश्व की अर्थव्यवस्था को निगलने के लिए मुंह बाएं खड़ी है। सबसे पहले उनका ग्रास बन रही है विश्व-कृषि। परंपरागत ज्ञान पर भी उनकी गिद्ध दृष्टि पड़ गई है। उसको भी पेटेंट करा रहे हैं। सजीव वस्तुओं को भी पेटेंट करा रहे हैं। मतलब यह कि गरीब के लिए ऐसा कुछ भी मत छोड़ो कि वह अपने बूते जी सके। उससे हर तरह से औरों के सहारे जीना सिखाओ। पराश्रित बना दो।

इस किताब में जो तमाम मुद्दे उठाए गए हैं उनका किसी भी राजनीतिक विचारधारा से कोई टकराव नहीं है; और सिर्फ किसानों से ही नहीं बल्कि उपभोक्ताओं, व्यापारियों और अन्य वर्गों से जुड़े हुए हैं। सभी देशों के सभी नागरिकों के सिर पर असली संकट है बाजारवाद का जो इंसान को भी जिंस बनाए दे रहा है।

देवेन्द्र शर्मा

अर्थव्यवस्था की वृद्धि के साथ बढ़ती भूख

अर्थव्यवस्था की वृद्धि के साथ-साथ भूख भी अपने पैर पसारती जा रही है। जिस समय हमारी अर्थव्यवस्था औसत रूप से 7 से 8 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है उस समय लगभग उसी दर से भूखमरी भी बढ़ रही है।

राष्ट्रीय नमूनी सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) के 2006-07 की रिपोर्ट ने इस कड़वे सत्य को जाहिर कर दिया, उनके अनुसार भूख तथा आर्थिक वृद्धि दर का आपस में सकारात्मक सहसंबंध है – जितनी अधिक आर्थिक वृद्धि होगी उतने ही अधिक लोग भूखे रहेंगे। इन चुनौतियों से पता चलता है कि आर्थिक वृद्धि से गरीबों और भूखों की संख्या और अधिक बढ़ती है।

वितरण की रिपोर्ट किसी भी देश को झकझोड़ कर विचलित कर सकती है तथा यह वैश्विक आर्थिक समुदाय के लिए एक सबक भी है लेकिन इसे बहुत ही असानी से दबा दिया गया है। जबकि आज विश्व भर में विद्यमान वित्तीय मंदी के प्रभावों से बचने के सभी संभव उपाय किए जा रहे हैं वहीं राज्य अपनी आबादी को भोजन प्रदान करने में बहुत कम प्रयास कर रहे हैं और उनके इस प्रयास में कई रुकावटें आ रही हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे कि भारत को प्राचीन समय में कल्याणकारी राज्य की परिभाषा दी जाती है और अभी तक भारत ऐसा प्रयास भी करता रहता था लेकिन आज इस व्याख्या का अर्थ केवल सामूहिक कल्याण ही रह गया है। आज आर्थिक रेडार पद्धति से गरीब और भूखे लोग अदृश्य हो गए हैं। केवल मात्र पोषण पर एक खण्ड की स्थापना करने के बाद प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह आर्थिक मंदी को दूर करने में व्यस्त हैं। अपने पूर्वाधिकारियों की तरह मुश्किल से कोई ऐसा दिन नहीं होगा जब उन्होंने उद्योगपतियों से बातचीत न की हो। यदि सरकारें गरीबी और भूखमरी से निरन्तर लड़ने के लिए उद्योग और व्यापारों के प्रति ही समर्पित रहे तो भारत में भूख की हालत और बिगड़ती जाएगी जो कि 2008 में वैश्विक भूख सूची के अनुसार विश्व में 88 भूखे देशों में भारत 66 वें स्थान पर है। जो कि बहुत निदानीय बात है। हमारे अपेक्षा सब- सहारा अफ्रीका की स्थिति भी भारत से बेहतर है। वैश्विक भूखमरी की तालिका को अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान (आई एफ पी आर आई) ने बनाया और उसके अनुसार भारत में भूखों की संख्या 2000 लाख है – जो कि विश्व में भूखों की सबसे अधिक संख्या है– और वास्तविकता से कम आंका गया है। और दूसरी और असंगठित क्षेत्रों में उद्योगों के राष्ट्रीय आयोग ने आंकड़ें दिए हैं जिनके अनुसार 8370 लाख लोग प्रतिदिन 20 रुपए से (50 सेंट से कम) कम खर्च करते हैं। और ये सच है कि प्रतिदिन 20 रुपए खर्च करके दो वक्त का खाना भी नहीं खरीदा

जा सकता देश की 77 प्रतिशत आबादी 'हाशिए' पर रह रही है और किसी न किसी तरह से अपने-आपको केवल मात्र जीवित रखे हुए है।

1991 में आर्थिक उदारता के बाद एनएसएस ने बताया कि देश में अनाजों की खपत धीरे-धीरे घटती जा रही है और उसके साथ-साथ और अधिक पोषक तत्वों जैसे अंडों, सब्जियों, फलों और दूध की उपभोग मात्रा में भी किसी तरह की वृद्धि नहीं हो रही है जो कि देश में भूख की स्थिति के संकट को और भी खतरनाक स्थिति में होने का एहसास दिलाती है, इसका अर्थ है कि देश में भूख की स्थिति और अधिक बढ़ रही है और अब ये और अधिक विशाल रूप में फैल रही है और इसने देश को पूरी तरह से जकड़ लिया है। यहां तक कि लोगों को ये महसूस हो रहा है कि हमारी खाने की आदतें बदल रही हैं लोगों ने अनाज खाने की अपेक्षा फल, सब्जियां तथा दूध जैसे पोषक तत्वों को ग्रहण करना शुरू किया है। लेकिन ये मान्यता पूरी तरह से सच नहीं है।

अनाजों के उपभोग में होने वाली कमी ग्रामीण और शहरी दोनों ही इलाकों में हो रही है और यह ग्रामीण इलाकों में और भी अधिक है। देश के ग्रामीण इलाकों में प्रति माह, प्रति व्यक्ति अनाजों का उपभोग 1993-94 में 13.4 किलोग्राम से घटकर 2006-07 में 11.7 किलोग्राम रह गया है। यह कमी 2004 से 2007 में भी अधिक रही जब सिर्फ तीन सालों में ही अनाजों की खपत 12.1 किलोग्राम से घटकर 11.7 किलो रह गई। शहरी क्षेत्रों में वर्ष 1993-94 में अनाजों की खपत 10.6 किलोग्राम से कम होकर 2006-07 में 9.6 किलोग्राम तक पहुंच गई। एक विशाल शाकाहारी समाज में अनाजों का उपभोग, पोषण का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत है और इसलिए भारत के संदर्भ में अनाजों के उपभोग में होने वाली यह कमी बड़ी बात है।

यह वास्तविक चित्र नहीं है। एनएसएसओ सर्वेक्षण ने वर्ष 2007-08 को शामिल नहीं किया है जब विश्व में वैश्विक अनाजों की कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किसी भी स्थिति में भोजन पर औसत परिवारों की खपत में बढ़त दिखाई देती है लेकिन इसका अर्थ ये नहीं कि भोजन के उपभोग में वृद्धि हो रही है। इसका केवल एक अर्थ है कि खाने की कीमतों में वृद्धि हो रही है और गरीब अपना पेट मुश्किल से भर पा रहे हैं। वर्तमान समय में कीमतों में होने वाली वृद्धि में गरीबों को उनका पेट भरने में और भी मुश्किलें खड़ी कर दी है। इसलिए 2007-08 में अनाजों का उपभोग और अधिक कम होने की आशंका है और इससे स्पष्ट है कि इसका असर गरीबों और भूखों पर साफ देखा जाएगा।

यह स्पष्ट है कि भारत हानि तथा हताशा के दलदल में बहुत तेजी से धंसता जा रहा है। इस आधार को अनदेखा करते हुए कि आर्थिक वृद्धि का सीधा अर्थ मानवीय विकास नहीं है। प्रधानमंत्री बार-बार कहते हैं कि बाजार को खोलने से विदेशी निवेशक आकर्षित होते हैं और तेज गति से वृद्धि होती है लेकिन हमें यह कहते हुए बहुत ही निराशा होती है कि राजनैतिक आर्थिक पद्धति को अच्छी तरह समझे बिना भारत जैसा कोई देश अपनी आर्थिक नीतियों में केवल जीडीपी को बढ़ाने के एकमात्र

लक्ष्य को ध्यान में रखता है तो हम एक ऐसे रास्ते पर चल रहे हैं जो कि भीषण गरीबी तथा चिरकालिक कुपोषण की ओर धकेलता है।

क्या ये विचित्र बात नहीं है कि इस तरह की विस्तृत तथा तीव्र अमानवीय परिस्थितियां वृद्धि के प्रक्षेप को दूर तक प्रभावित करती हैं। इसका अर्थ है कि यहां आर्थिक वृद्धि के परिकलन की प्रक्रिया में कहीं न कहीं गलती है। 36 अरब का शुद्ध आर्थिक मूल्य भारत के सकल घरेलू उत्पाद का एक तिहाई है जो कि बहुत आसानी से जटिल गरीबी तथा गंदगी को छिपा देता है जिसमें कि 8370 भारतीय रहते हैं। यहां तक कि हम वैश्विक भूख तालिका के संकलन को मानते हैं, वह वृद्धि के प्रक्षेप में 2000 लाख भूखों को छिपा देती है। वृद्धि प्रक्षेप भारत के वास्तविक चेहरे को छिपा देता है— जो कि विश्व में भूख के मामले में विशाल आकार में है।

मैं प्रायः पाकिस्तान के पूर्व वित्त मंत्री और यूएनडीपी के मानव विकास रिपोर्ट के लेखक स्वर्गीय मेहबूब-उल-हक का उद्धरण देता हूं उन्होंने एक बार कहा था, "जब हम कहते हैं कि हम सकल घरेलू उत्पाद को सुधारने की कोशिश कर रहे हैं और यह अपने-आप ही गरीबी को सुधार देगी तो हम गलत सोचते हैं हम इसका उल्टा कर देते हैं। हमें गरीबी को सुधारने का प्रयास करना चाहिए और इससे सकल घरेलू उत्पाद अपने-आप ही सुधर जाएगा।" उन्होंने एक बार मुझसे कहा जैसे पाकिस्तान के वित्त मंत्री ने 1960 में सकल घरेलू उत्पाद दर को 7 प्रतिशत तक कर दिया "और फिर भी लोगों ने हमें वोट नहीं दिया"। उन्होंने यह भी कहा "कि इस बात ने मुझे झकझोड़ कर रख दिया। मैंने महसूस किया कि आर्थिक वृद्धि मानवीय विकास की सूचक नहीं है।"

सभी रास्ते ग्रामीण भारत की ओर जाते हैं

अब सबकी आंखें ग्रामीण इलाकों पर लगी हैं। उपभोक्ता वस्तुओं से लदे ट्रक नजदीक के गांवों की ओर जा रहे हैं। अब ग्रामीण इलाकों पर कब्जा करने की तैयारी हो रही है।

ये केवल गांव की धूल भरी दुकानों में सिर पर लगाने वाले तेल, दंतमंजन, शैम्पू, पेय पदार्थों, आलू के चिप्स तक ही सीमित नहीं है। अब निगमित भारत इस बात पर विश्वास करता है कि ऋण देने वाली राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम (एनआरईजीए) तथा निरन्तर भरी-पूरी फसल से ग्रामीण समुदाय के हाथों में अतिरिक्त पैसा ला दिया है। इस प्रकार अब समय आ गया है कि वो ग्रामीण इलाकों से पैसा भुनाएं।

क्या ग्रामीण भारत वास्तव में समृद्ध हो रहा है ? या निगमित भारत 'का लालच' उन्हें पीछे की ओर चला रहा है। जमीनी सच्चाई को देखने से पहले यह देखते हैं कि

बाजार किस तरह से अपनी दिशा बदल रहे हैं ? मोबाइल फोन ने पहले ही आक्रमण का सा रुख अपना लिया है। सरकारी सहायता के ई-शासित कार्यक्रमों की मदद से कम्प्यूटरों की बिक्री को बढ़ावा मिल रहा है। कार, दुपहिया तथा उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं का व्यापार करने वालों की आंखें छोटे बाजारों पर लगी हैं। कोका कोला, पेप्सी तथा डाबर इंडिया ने विशिष्ट बाजारी कार्यक्रमों को पुनः बाजार में उतारा है। विवाह उद्योग भी छोटे शहरों की ओर प्रचार कर रहा है। और वायदा बाजार भी उत्साहित है।

नई रिपोर्ट के अनुसार, सैमसंग, नोकिया, सैन्सुई, फिलिप्स, मारुति, महिन्द्रा एंड महिन्द्रा, एलजी, टाटा मोटर्स, हुन्डई, टाटा स्काई, हीरोहोंडा, एयरटले, वोडोफोन, बीएसएनएल, आईसीआईसीआई तथा नैस्ले और कई अन्य निगमित बड़ी कंपनियों की नजरें ग्रामीण बाजार पर हैं। वहां कई असंख्य छोटी कंपनियां भी हैं जो अपने बाजार को बहुत छोटे शहरों और मध्यम दर्जे के शहरों की ओर ढालना चाहते हैं।

लेकिन इसका अर्थ ये नहीं कि ग्रामीण भारत में आर्थिक क्रांति आ गई है बल्कि इसका अर्थ यह है कि इस उम्मीद के साथ गांवों की ओर झुक रहे हैं कि वो ग्रामीणों की जेब के बचे-खुचे पैसे से अपना लाभ कमा लें। निगमों का गांवों की ओर मुड़ना उद्योगिक थिंक-टैंक, व्यवहारिक आर्थिक अनुसंधान का राष्ट्रीय परिषद (एनसीईईआर) है। यह माना जा रहा है कि ग्रामीण मध्यम वर्ग धीरे-धीरे वृद्धि कर रहा है और निगम, ग्रामीण भारत से प्रति वर्ष 60 प्रतिशत की ब्रिकी (टर्न ओवर) की उम्मीद करते हैं।

भारत के ग्रामीण इलाकों पर न केवल भारत के घरेलू उद्योगों की नजर है बल्कि विश्व की कई बड़ी कंपनियों की भी नजर है अमेरिकी बड़े कृषि व्यापारी- मोन्सेनटो, कारगिल, वैलमार्ट और एडीएम जैसी विश्व की बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां कृषि अनुसंधान पर भारत-अमेरिकी उपक्रम, विकास तथा विपणन समझौता (केआईए) के तहत भी ग्रामीण खुदरा बाजार में पांव जमा रहे हैं। इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने पहले ही ये स्पष्ट कर दिया है कि वे कृषि अनुसंधान के साथ सहयोग करने में भी रुचि नहीं रखते लेकिन वो अपने उत्पादों को वहां बेचने के इच्छुक भी हैं।

इस समझौते के तहत दो अमेरिकी सीनेट सदस्य बाजार की संभावनाओं से संतुष्ट नहीं थे, वे भारतीय कृषि बाजार की संभावनाओं या क्षमताओं को जांचने के लिए एक विस्तृत अध्ययन करने की मांग कर रहे हैं। वे भारतीय कृषि क्षेत्र को अमेरिका कृषि उत्पादों के लिए खोलने का तर्क देते हैं। वर्तमान समय में केवल 5 प्रतिशत अमेरिकी उत्पाद भारतीय कृषि में मौजूद है। पर स्पष्ट है कि बड़ी चीलों की तरह बड़ी कंपनियां चूहे रूपी ग्रामीण और छोटे इलाकों पर नजरें गढ़ाए हैं। और गांव के छोटे चूहे अर्थात् छोटे किसान और व्यापारियों को खुद अपने-आप को उनसे बचाने में कठिनाई महसूस हो रही है।

मैं आईसीआईसीआई के अध्यक्ष श्री एच.वी.कामथ की कुछ समय पहले कही बात को समझ नहीं पा रहा हूं उन्होंने कहा "ग्रामीण क्षेत्रों से बहुत पैसा बनाया जा सकता है।"

यदि ये सच है तो इस बात में कोई शक नहीं है कि भारत को 2008 में हुई वैश्विक भूख की तालिका में 88 में से 66 वें स्थान पर था क्योंकि इन परिस्थितियों में तो उसे वहीं रहना था। भारत के 18 में से 12 राज्यों में गुजरात, तकनीकी रूप से समृद्ध कर्नाटक, बढ़ती आत्महत्याओं की घटनाओं वाले महाराष्ट्र तथा चावल के लिए प्रसिद्ध तमिलनाडु में 'संकट' की स्थिति है और इस सूची में उन्हें 'खतरनाक' के वर्ग में डाला गया है। यहां तक कि भारत भूख की सूची में सब-सहारा अफ्रीका से भी बहुत नीचे है। यहां तक कि पंजाब जो कि भारत के अन्न भंडार के रूप में जाना जाता है उसकी स्थिति भी वियतनाम और गबोन से बुरी है।

भारत के गांव परंपरागत रूप से व्यापार में सताए हुए हैं। पिछले सालों में इन गांवों से जितना पैसा लिया गया उससे बहुत कम पैसे का वहां निवेश हुआ। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि 1000 एकड़ की ग्रामीण भूमि में कृषि आधारित निवेश कंपनियों खाद, कीटनाशक, तथा बीजों सहित उस स्थान के आधार पर प्रति वर्ष औसत 30 करोड़ से 70 करोड़ रुपए के बीच खर्चा करती है।

यदि ये पैसा भी गांवों में वापिस पहुंच जाए तो भारत के गांवों की सूरत अधिक चमकती हुई और खुशहाल दिखाई देगी। वहां पर आपको संगठित कर्ज देने वालों की जरूरत नहीं है बल्कि वहां सूक्ष्म वित्तीय रास्ते से गरीब भोले-भाले लोगों का शोषण किया जाता है। यद्यपि 500 लाख गरीब परिवारों को सूक्ष्म वित्त प्रदान किया गया है। वास्तव में गरीबों को कर्ज देने के बाद उनसे जबरदस्ती औसत से 20 से 24 रुपए की दर से उच्च ब्याद देना होता है। यदि आप शहरी केन्द्रों में इतना ब्याज देंगे तो आपका हाथ ऊपर होगा और तब गरीबों को "समर्थ" करना होगा।

बढ़ता कृषि संकट

द्वितीय हरित क्रांति की उलझनों को समझने से पहले यह आवश्यक है कि हम पहले से समझ लें कि किस तरह से तीव्र कृषि पद्धति ने हाशिए पर रहने वाले किसानों तथा छोटे किसानों को लाभ पहुंचाया। कृषि से होने वाला लाभ आज लगातार घट रहा है। इसलिए लगभग 40 प्रतिशत किसानों ने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) को बताया कि अब कृषि-उद्योग लाभकारी नहीं रह गया तथा अब वे कृषि क्षेत्र को छोड़कर अन्य विकल्पों की तलाश कर रहे हैं।

आज कृषि क्षेत्र के कारण होने वाली समृद्धि अदृश्य होती जा रही है और कुछ सालों बाद किसानों पर ऋण भार की मात्रा बहुत बढ़ जाएगी। हाल ही में हुई पी.ए.यू. के अध्ययन के अनुसार पंजाब में लगभग 89 प्रतिशत किसान परिवार कर्ज के बोझ से दबे हैं। प्रत्येक कृषि-परिवार पर लगभग 1.78 लाख रुपए का कर्ज है। अन्य शब्दों में प्रत्येक हेक्टेयर भूमि रखने वाले किसान पर 50,140 रुपए का कर्ज बाकी है। कृषि

मजदूरों की स्थिति तो और भी बदतर है। और इसका अंदाजा गांवों में लगातार होने वाली मौतों से स्पष्ट होता है।

1997 से राष्ट्रीय क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार 1.82 लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्या कर ली है। यहां तक कि अन्न समृद्ध समझे जाने वाले उत्तरी राज्य पंजाब के किसान भी अपनी जान ले रहे हैं। पिछले 9 साल में पंजाब के कुल 20 में से केवल दो जिलों भटिंडा और संगरूर के 2990 किसानों ने आत्महत्या की। उत्तर प्रदेश में गन्ना किसानों ने, महाराष्ट्र में कपास पैदा करने वालों ने भी आत्महत्याएं की। केरल, पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा तथा तमिलनाडु के किसानों ने भी आत्महत्याएं की।

हरित क्रांति के 40 साल बाद आज कृषि एक घाटे का उद्योग हो गई है प्रत्येक वर्ष और अधिक से अधिक किसानों की हालत खराब होती जा रही है। यहां तक कि कृषि के क्षेत्र में समृद्ध माने जाने वाले और देश के लोगों की थाली में अनाज पहुंचाने वाले पंजाब के किसान की औसत आय प्रतिमाह केवल 3,200 रुपए पर सिमट गई है। अब हमारे मन में ये सवाल कौंधता है कि हमारी ग्रामीण समृद्धि को क्या हो गया है ? शायद हम सब इसका जवाब जानते हैं, कि क्यों आज पंजाब के अधिक से अधिक किसान कृषि छोड़ने को मजबूर हैं ?

कृषक आबादी के लगभग 80 प्रतिशत किसानों को अपनी 85 प्रतिशत आय कृषि कार्यों तथा परिवार के सदस्यों द्वारा रोजगार सृजन कार्यक्रमों में मजदूरी करके प्राप्त होती है। बल्कि चौंकाने वाला तथ्य सामने आया है कि पिछले कुछ सालों में औसत किसानों की आय देश के ध्याड़ी मजदूरों से भी कम हो गई है।

उत्तर प्रदेश के किसानों की आय सबसे कम अर्थात् प्रति माह 1630 रुपए है। मध्य प्रदेश , राजस्थान तथा उड़ीसा के किसानों की आय उनसे थोड़ी बेहतर है। जम्मू कश्मीर में प्रति माह 5,500 रुपए को उच्च कृषि आय माना गया है। उसके बाद पंजाब और केरल के किसानों की आय आती है। कृषि मंत्रालय के अध्ययनों के अनुसार पिछले पांच सालों में किसानों की आय में कमी आई है। और यह कमी उस दौरान अधिक आई जब शहरी क्षेत्र ऊपर की ओर वृद्धि करते दिखाई दे रहे थे।

पंजाब में गैर कृषि रोजगार अवसर भी कम होते जा रहे हैं, कभी धन्न-धान्य के रूप में समृद्ध समझे जाने वाले किसान आज काम के लिए विदेशों में जाने में ही समझदारी समझने लगे हैं। ट्रेवल एजेंसियां विदेशों में सेवा उद्योग क्षेत्र में जल्दी और अच्छी नौकरी दिलाने का वादा कर रही है। पंजाब के किसान भी इन्हीं अच्छी समझी जाने वाली आर्थिक नीतियों के शिकार हैं जो कि वास्तव में किसानों का नुकसान कर रही हैं।

मुझे इसी तरह की प्रवृत्ति अन्य स्थानों पर भी दिखाई देती है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज एक नई तरह की समृद्धि के लिए उत्साह है। वे कह रहे हैं कि आज भारत चमक

रहा है। आज अखबारों की सुर्खियां बता रही हैं कि किसानों को समृद्धि का नया रास्ता मिल गया है। हम आज ग्रामीण इलाकों के प्रत्येक कोने और देश के प्रत्येक किनारे पर एक छोटी कृषि क्रांति के बारे में सुनते हैं। हमें ये कहा जा रहा है कि अगले भाग में ग्रामीण बाजार तथा ग्रामीण भारत में वृद्धि की उम्मीद है। घरेलू खुदरा बाजार के लेखे में लगभग आधे से अधिक अर्थात् लगभग 300 अरब अमेरिकी डालर की वृद्धि होने की उम्मीद है। और आज मीडिया सफलता की इन कहानियों से भरा पड़ा है।

2008 में 71,000 करोड़ ऋण माफ किया गया, जिससे कृषि की वृद्धि दुगनी अर्थात् 3 प्रतिशत हो गई है। कुछ ये भी कहते हैं कि एनआरईजीए के तहत 100 दिन के रोजगार गारंटी कार्यक्रम से ग्रामीण भूमिहीन लोगों को समर्थ बनाया जा रहा है इस बात से कोई भी इंकार नहीं करता कि पिछले चार सालों में चावल तथा गेहूं की उपलब्ध कीमतों में क्रमशः 61 प्रतिशत से 69 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। 2007-08 में कपास की उपलब्ध कीमतें प्रति किलो 2050 से बढ़कर 2008-09 में 3000 प्रति किलो हो गई हैं जिसके परिणामस्वरूप 90 प्रतिशत अनाज सरकारी एजेंसियों द्वारा खरीद लिया गया। यह गरीबी से घिरे ग्रामीण समुदाय के लिए राहत है और वर्ष 2009 में होने वाले आम चुनावों के बाद ये स्थिति और स्पष्ट हो जाएगी।

खाद्य डाकूओं द्वारा भूमि पर कब्जा

कोर्क, आयरलैंड में हुए ईरिस अकाल के 150 साल पूरे होने के बाद इसके बारे में बात करते हुए शहर के मेयर ने लोगों को संबोधित करते हुए कहा "हमारा समाज कितना बर्बर था कि जब लोग भूख और भुखमरी से मर रहे थे उस समय देश का अनाज जहाजों में लदकर पड़ोसी देश ब्रिटेन में निर्यात किया जा रहा था।"

कोर्क आयरलैंड, में लगभग 160 साल पहले विशाल इरिस आलू आकाल (इरिस पेटेटो) पड़ा। आज उस आकाल के 160 साल बाद ऐसा लगता है कि आज विश्व उस बर्बर हालत से भी अधिक बर्बर और अमंगलकारी स्थिति के लिए जमीन तैयार कर रहा है। इस समय विश्व, विदेशी कृषि भूमि में निवेश का ग्वाह है – आज सौ हजारों हेक्टेयर उपजाऊ भूमि खरीद रहे हैं – और वे उन्हें भूमि संपदा बनाने में लगे हैं। कई खाद्य तथा वित्तीय कंपनियां विदेशों में कृषि भूमि में निवेश कर रही हैं तथा वे अपने खुद के लिए कृषि मजदूर रखकर तकनीकी तथा उपकरणों से उत्पादन कर रहे हैं।

वैश्विक वित्तीय मंदी ने लाभ का निजीकरण और नुकसान का सामाजीकरण कर दिया। आज खाद्य उत्पादन की नई अवधारणा 'आउटसोर्सिंग' का चलन है— इसमें विदेशों में जमीन खरीदकर अन्न पैदा किया जाता है— इससे निवेशक देश को तो खाद्य सुरक्षा मिल जाती है तथा अन्य लोग भूख, भुखमरी तथा भोजन की कमी से ग्रस्त हो जाते हैं। उच्च स्तर की कृषि प्राप्त करने के वातावरण में— मृदा का सर्वनाश

होता है, जमीन के नीचे का पानी सूख गया तथा रसायनों ने परिस्थिति को नष्ट कर दिया जिसका नुकसान बाकी देशवासियों को चुकाना पड़ रहा है।

खाद्य सुरक्षा के नाम पर सबसे कठिन बात यह है कि विश्व खाद्य उत्पादन तथा वितरण चैनल कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापारिक कंपनियों के हाथ में आ गया है जो बड़े फंडों से घिरे हैं। भूमि हथियाने के कारण आबादी का बड़ा भाग विस्थापित हो रहा है और विश्व बैंक इसे प्रोत्साहित कर रहा है। खाद्य श्रृंखला को नियंत्रित कर रहा है और निजी निवेशकों के हाथ में दे रहा है।

विश्व भर में ऐसा ही हो रहा है। भारत में कर्नाटक में पहले जमीन की रखीद पर रोक लगी थी जिसे अब हटाए जाने की तैयारी की जा रही है जिससे विदेशी निवेशकों को भ्रम में डाला जा रहा है। निजी क्षेत्र आधारित राज्य व्यापार निगम (एसटीसी) सहित गुजरात अंबुजा, रुचि सोया उद्योग तथा झुनझुनवाला वनस्पति लि. 10,000 हेक्टेयर उत्पादक भूमि को परागुये, उरगुवे तथा लैटिन अमेरिका में ब्राजील में ले रही है। सोयाबीन तथा तिलहन की खेती के लिए ले रही है। भारतीय कंपनियां दालों का उत्पादन करने के लिए बर्मा का रुख कर रही हैं तथा इंडोनेशिया में खजूर की खेती करना चाहता है। इसके बाद आस्ट्रेलिया और कनाडा में भूमि की खरीदारी की जा रही है।

राष्ट्रीय कानूनों में सुधार हो रहा है। भारतीय खाद्य तथा कृषि मंत्रालय आउटसोर्सिंग में रुचि ले रहा है। रिजर्व बैंक इक्सिम बैंक के साथ वर्तमान में इन कंपनियों के द्वारा विदेशों में भूमि खरीदने, ऋण प्रदान करने के वर्तमान कानून से चिंतित है। न केवल भारत में बल्कि राष्ट्रीय कानून अर्जेन्टीना से मंगोलिया तथा आस्ट्रेलिया से रुस तक दोबारा लिखे जा रहे हैं ताकि विदेशों में कृषि भूमि खरीदने में आसानी हो और विदेशी कंपनियां आसानी से जमीन खरीद पाएं।

पाकिस्तान में अन्न के संकट के लिए प्रधानमंत्री युसुफ रज़ा गिलानी ने साउदी अरब की यात्रा से लौटने के बाद जून माह के मध्य में इस नए तरीके पर उत्साह दिखाया। आखिरकार विदेशी निवेश की आवश्यकता महसूस की गई और उन्होंने हजारों हेक्टेयर उत्पादक कृषि भूमि को बेचने का फैसला किया। तभी कटार ने अपने खाद्य उत्पाद का पाकिस्तान में पंजाब को आउसोर्स करना तय किया। जहां, 25,000 गांवों को विस्थापित होना पड़ा था। साउदी अरब भी इंडोनेशिया में मिरायुक अनुमानतः 16 लाख हेक्टेयर भूमि को चावल पैदा करने के लिए लेना चाहता है ताकि वह अपने खुद के देश से दोबारा निर्यात कर सके।

साउदी अरब की एकमात्र खाड़ी देश नहीं है जो कि किसी अन्य स्थान पर भूमि की तलाश कर रहा है। साउदी अरब बहरान, कुवैत, कतार, ओमन, जोर्डन तथा संयुक्त अरब अमीरात सहित खाड़ी निगमित परिषद (जीसीसी) की सदस्यता वाले अन्य देश भी निवेश के बदले में विदेशी भूमि को अस्वीकार करते हैं। भूमि के सौदे एशिया में लाउस, इंडोनेशिया, फिलीपीन्स, वियतनाम, कंबोडिया, पाकिस्तान, थाईलैंड तथा बर्मा;

केन्द्रीय एशिया तथा यूरोप में युक्रेन, कजाकिस्तान, जिर्जिया, रूस तथा टर्की; अफ्रीका में सुडान, युगान्डा में भी भूमि समझौते प्रभावित कर रहे हैं। इस बात की अनुभूति है कि तेल से होने वाली आमदनी इतनी आबादी का पेट नहीं भर सकती, जैसे कि वर्तमान में वैश्विक खाद्य संकट के दौरान देखा गया जब सुपर बाजार की दुकानों से खाद्य सामग्री गायब हो गई, खाड़ी देश अपनी भविष्य की खाद्य जरूरतों के लिए निवेश कर रहे हैं।

भूमि पर कब्जा करने में चीन भी एक महत्वपूर्ण देश हो गया है। बढ़ते हुए विध्वंस के बाद उसकी खेती पर जीवित रहने वाली या खेती करने वाली आबादी शहरों की ओर पलायन कर रही है, आज चीन भूमि पर बहुत खर्च कर रहा है। अभी तक 30 भूमि समझौते किए जा चुके हैं जिनमें अधिकतर अफ्रीका, केन्द्रीय एशिया, आस्ट्रेलिया, फिलिपीन्स में हैं। चीन खाद्य उत्पाद का आउटसोर्सिंग करने के लिए एक कृषि नीति बनाने की तैयारी कर रहा है। इनमें से कई समझौते तो चुपचाप कर लिए गए हैं। रुचिकर बात है कि चीन अपने राज्य क्षेत्र से बाहर भूमि देख रहा है, जापान की कृषि व्यापारिक कंपनियां दक्षिण कोरिया तथा अमेरिका अपनी कृषि व्यापारिक गतिविधियों पर नियंत्रण रख रहा है।

चीन में आबादी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रही है— किसान कृषि क्षेत्रों को छोड़कर शहरों की ओर जा रहे हैं— जिससे सामाजिक ताने-बाने को नुकसान हो रहा है और कभी-कभी तो यह सामाजिक अशांति खूनी रूप भी ले लेती है। चीन के अखबारों से स्पष्ट है कि चीन सरकार के आधिकारिक लोगों के अनुसार ग्रामीण प्रतिरोध में वृद्धि हो रही है। जहां पिछले 11 साल पहले ये 10,000 थे वहां आज 2005-06 में ये 75,000 हो गए हैं। अनुमानतः रोज 250 प्रतिरोध हो रहे हैं। देहात में बढ़ते ओद्योगीकरण से स्थापित कृषि पद्धति का विनाश हुआ है। इसलिए देश के बाहर कृषि भूमि की तलाश करना जरूरी हो गया। भारत भी चीन की तरह अंधी दौड़ में शामिल हो गया है वह भी उन्हीं दोषपूर्ण रास्तों पर चल निकला है।

मिश्र, जहां हाल ही में खाद्य दंगे हुए और जब रहस्य खुला तो पता चला कि 840,000 हेक्टेयर या युगांडा की कृषि भूमि का 2.2 प्रतिशत भूमि को पट्टे पर देने के समझौता जारी था। गेहूं और ज्वार के उत्पादन के लिए उन्हें वापस ले लिया गया। उसी समय मिश्र के किसानों ने क्यूना जिले में जापानी बड़े कृषि व्यापारी कोबिबूसान के स्वामित्व वाली 16,000 हेक्टेयर भूमि को बचाने के लिए संघर्ष किया। कई अन्य देशों को भी इसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है – जबकि वो कहीं ओर भूमि की तलाश कर रहे हैं। उनकी खुद की कृषि भूमि अन्य विदेशी कंपनियों द्वारा खरीदी जा रही है।

एक रिपोर्ट के अनुसार “कब्जा: 2008 खाद्य तथा वित्तीय सुरक्षा के लिए भूमि पर कब्जा” यह बर्सिलोना आधारित ग्रैन, जापान के खाद्य निगम अशाई, इटोयू,

सुमिटोमो तथा मिसूबिसी- ने 2006-08 में जैविक खाद्य पदार्थों के उत्पादन के लिए पट्टे लिए, चीन, ब्राजील, अफ्रीका तथा केन्द्रीय एशिया में जमीन खरीदी। इसमें हैरानी की बात नहीं कि जापान न केवल निगमों को उसकी कृषि भूमि खरीदने की अनुमति दे रहा है बल्कि इन कंपनियों को हर जगह हरे चारागाह दिखाई दे रहे हैं। साउथ-कोरिया में जहां सरकार आउसोर्स की मदद कर रही है वो प्रिस्टीन मंगोलिया में जमीन खरीद रही है और उस संबंध में धमकी दे रहे हैं, वे विश्व के प्राकृतिक धन प्रदान करने वाली पारिस्थितिकीय पद्धति को धमकी दे रहे हैं।

आपको यह जानकर हैरानी होगी कि 'कर' देने वालों को बहुत अधिक पैसे देने पड़ते हैं। गोल्डमेन सचस तथा डओवेच बैंक चीन के पशुधन उद्योग पर नजर गढ़ाए हैं। मोरगन स्टेनली ने युक्रेन में 40,000 हेक्टेयर भूमि खरीदी। ब्रिटिश निवेश दल लैंडकोम ने युक्रेन में 100,000 हेक्टेयर भूमि ली। दो स्वीडीसी निवेश कंपनी ब्लैक अर्थफार्मिंग तथा एलपकोट-एग्रो ने क्रमशः 331,000 हेक्टेयर तथा 128,000 हेक्टेयर कृषि भूमि रूस में खरीदी। साउथ-कोरिया की बड़ी कंपनी डेबू भूमि पर कब्जा करने वाली सभी कंपनियों में से सबसे बड़ी कंपनी है। उसने मेडाघास्कर में 12 लाख हेक्टेयर भूमि को 99 साल के पट्टे पर लिया, जो कि इस अफ्रीकी देश में लगभग आधी है। लोगों के प्रतिरोध ने अंत में इस समझौते को टुकरा दिया।

खाद्य सामग्री की राजनीतिक अर्थव्यवस्था निश्चित रूप से दोबारा लिखी जानी चाहिए, क्योंकि इसमें बहुत उलझनें हैं।

भाग एक

फिर से माल्थस के चंगुल में

1. खाद्यान्न : एक हथियार

कृषि मंत्री सी. सुब्रह्मण्यम अपने वरिष्ठ अधिकारियों से फिरे बैठे हैं। वातावरण में तनाव व्याप्त है। 12000 मील दूर से आयातित खाद्यान्न पर निर्भरता ने मुसीबत पैदा कर दी है, क्योंकि अनाज थोड़ा-थोड़ा टपकाया जा रहा है। यह अपमानजनक स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति लिण्डन जॉनसन की नाराजगी की वजह से पैदा हुई है जो कि भारत को सबक सिखाना चाहते हैं। हमारे कृषि मंत्री सुब्रह्मण्यम साहब इसलिए परेशान हैं कि पूरे देश को खिलाने लायक अनाज बस दो हफ्ते की भरपाई कर सकेगा और बाहर से अनाज आने के आसार नजर नहीं आ रहे। "आखिरी कदम के रूप में मैंने अपने अधिकारियों और विशेषज्ञों से कहा कि पता करो कि गेहूं से भरा कोई जहाज हमारे आसपास के समुद्र से कहीं जा रहा हो तो हम अमरीकी राष्ट्रपति से विनती करेंगे कि वे उसका रुख हमारे देश की ओर मोड़ने के आदेश जारी करें, क्योंकि दूसरे देश शायद छह-सात हफ्ते इंतजार कर सकेंगे।"

यह घटना है सन् 1966-67 की। उस साल भयंकर सूखा पड़ा था और भारत को 110 लाख टन अनाज आयात करना पड़ा था। उससे सालभर पहले 100 लाख टन अनाज मंगाना पड़ा था। इन्हीं दिनों उन पैडोक-बंधुओं की किताब "फैमीन: 1975" छपकर आई, जिन्हें 'विनाश का मसीहा' कहा जाता है। उन्होंने फतवा दिया था कि सन् सत्तरादिक के मध्य तक कम से कम आधा हिन्दुस्तान भुखमरी का शिकार हो चुकेगा। विलियम पैडोक और पॉल पैडोक के इस निष्कर्ष से असहमत होने वाले लोग कम ही थे, क्योंकि एक तो भारत में अकाल और भूख का लंबा सिलसिला गुलामी के दिनों से ही चला आ रहा था और आजादी के बाद भी शुरू में सरकार इस दिशा में कोई ठोस काम नहीं कर पाई थी।

जो देश 'जहाज से मुंह' की स्थिति में गुजारा कर रहा हो, उसके बचने की उम्मीद कैसे की जाती। सन् 1947 में स्वतंत्र होते ही भारत खाद्यान्न सहायता का मुंह जोहने लगा था और असल में इस सदी का सबसे बड़ा खाद्य आयातक बन गया था। सबसे पहले सन् 1951 में देश के कई हिस्सों में पड़े सूखे से पैदा हुई अनाज की कमी पूरी करने के लिए कोई 20 लाख टन अनाज बाहर से मंगाना पड़ा था। आजादी के बाद का यह पहला बड़ा खाद्य संकट था। पिछले लगभग एक सौ वर्षों में अकाल और भुखमरी से भारत को न जाने कितनी बार जूझना पड़ा है।

सन् 1947 से पहले का भारतीय इतिहास अकाल, सूखा और अनाज के संकट का इतिहास माना जा सकता है। सन् 1770 से लेकर सन् 1880 तक अनाज की कमी और अकाल की 27 घटनाएं दर्ज की गईं। सन् 1850 से शुरू हुए 20 अकाल लगभग 200 लाख भारतवासियों को निगल गए। इसका एक बड़ा कारण था गलत उपनिवेशी नीतियां, जिनका एक ही लक्ष्य था कि हिन्दुस्तान के लोग जिएं या मरें, हमें तो लंदन की तिजोरियां भरनी हैं। जब अंग्रेजों ने पूरे देश में 19वीं सदी के पूर्वाद्ध में सड़क और रेल परिवहन शुरू करा दिया तो वे किसानों पर दबाव डालने लगे कि वे ऐसी फसलें उगाएं जिनका निर्यात किया जा सके। इस तरह किसान नगदी फसलें उगाने के लिए मजबूर किए गए जैसे कि नील की खेती, कपास, पोस्त (अफीम) और ईख। इस तरह अनाज वाली फसलों की खेती सिकुड़ती चली गई। दूसरे शब्दों में कहें तो गुलाम भारत में अंग्रेजों ने खेती के सुधार की दिशा ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करने की ओर मोड़ दी।

बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में भी भारत का विदेश-व्यापार इसी औपनिवेशिक नीति का शिकार बना रहा और यहां से इंग्लैंड के लिए अनाज, कपास, पटसन (जूट), तिलहन, अफीम और नील भेजा गया। इसके विपरीत इंग्लैंड से बस बना-बनाया सामान आता रहा। आजादी से पहले हमारी खेती की हालत यह थी कि जो सबसे अच्छी उपजाऊ जमीनें थीं, उनमें नगदी फसलें उगाई जाती रहीं, जब कि ज्यादातर बची-खुची घटिया जमीनें अनाज वाली फसलों के पल्ले पड़ीं। इनकी जैदावार सामान्य वर्षों में भी कम होती थी। इस तरह दूसरे महायुद्ध तक अनाज की पैदावार लगातार घटती रही। घरेलू स्रोतों से अनाज की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता में भी भारी कमी आई।

बढ़ती आबादी और घटते खाद्य-उत्पादन के बीच पतला-सा संतुलन रखने की कोशिश में भारत एक तो खाद्य-आयातक बन गया और दूसरी ओर प्रतिव्यक्ति अनाजों की खपत को खतरनाक स्तर तक घटा दिया।

दूसरे महायुद्ध के बाद खाद्यान्न की न्यूनतम आवश्यकता और आपूर्ति के बीच यह गहरी खाई बराबर बनी रही। सन् साठादिक तक भारतीय कृषि घरेलू जरूरतों को पूरी करने में असमर्थ रही और भारत को दूसरे देशों के आसरे अपना पेट भरने के लिए मजबूर होना पड़ा।

आबादी और अन्न की वृद्धि देशों के बीच बढ़ती खाई के खतरनाक नतीजों को भांपकर भारत सरकार ने 'खाद्य उत्पादन बढ़ाओ' का नारा देकर अनाजों की पैदावार बढ़ाने का कार्यक्रम शुरू किया। इस तरह आर्थिक नियोजन की दिशा खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की ओर मोड़ी गई। सन् 1951 में खाद्यान्न-आयात के बाद बनी पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया। इस तरह सन् पचासादिक में खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक उपाय किए गए जैसे कि भूमि-सुधार, सिंचाई-विकास, उर्वरक-उत्पादन, कृषि-अनुसंधान और राष्ट्रीय कृषि विस्तार-सेवा इत्यादि। इसके फलस्वरूप पचासादिक के मध्य में अर्थव्यवस्था पर कुछ अच्छा असर पड़ा।

यही वह समय था, जब सरकार ने कृषि-अनुसंधान के लिए अमरीका का 'लैंड ग्रांट मॉडल' अपनाया और कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की। पहला कृषि विश्वविद्यालय पंत नगर (तत्कालीन उत्तरप्रदेश और अब उत्तरांचल) में खोला गया, गोविंद वल्लभ पंत के नाम पर। इसके बाद सभी राज्यों में इनकी स्थापना की गई। लैंड ग्रांट मॉडल में विश्वविद्यालय को पर्याप्त जमीन अनुदान के रूप में दी जाती है और शिक्षा अनुसंधान तथा विस्तार तीनों के बीच गहरा तालमेल बिठाकर नई तकनीकों की खोज करने उन्हें प्रयोगशाला से खेतों तक पहुंचाने पर बल दिया जाता है। सन् 1961 में सरकार ने 'सघन कृषि जिला कार्यक्रम (आई ए डी पी - इंटेन्सिव एग्रीकल्चर डिस्ट्रिक्ट प्रोग्राम)' शुरू किया। इसमें सिंचित क्षेत्रों में कृषि-उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया गया। हालांकि इसका उद्देश्य सुधरे बीजों को उनकी खेती के सुधरे तरीकों के साथ प्रचलित करना था, लेकिन गेहूं की अधिक उपज देने वाली किस्मों की कमी के कारण कार्यक्रम के वांछित परिणाम नहीं मिल सके।

हरित क्रांति

उस समय गेहूं की जो किस्में उपलब्ध थीं वे लंबे तने वाली थीं जो तेज हवा चलते ही पसर जाती थीं और अधिक उर्वरक और सिंचाई भी बर्दाश्त नहीं कर सकती थीं। अतः वैज्ञानिक ऐसी किस्मों की तलाश करने लग गए जो अधिक खाद-पानी पचाकर अधिक पैदावार दें और उस समय की एक टन गेहूं प्रति हैक्टर के शोचनीय उपज-स्तर से ऊपर उठ सकें। कृषि वैज्ञानिक इस दिशा में प्रयास कर रहे थे और पतन-रोधी किस्में विकसित करने में लगे थे जो हवा और खाद पानी से गिरें नहीं। लेकिन कोई खास सफलता नहीं मिली।

इस कमी को पूरा किया डा. नॉर्मन बोलॉन ने जो कि उन दिनों मैक्सिको में स्थित 'सिमिट नामक अंतर्राष्ट्रीय गेहूं और मक्का अनुसंधान केन्द्र में कार्यरत थे। डा. एम.एस. स्वामिनाथन के आग्रह पर डा. बोलॉन ने सिमिट में विकसित गेहूं की कुछ बौनी किस्मों के बीज नई दिल्ली में स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान को भेजे। यह संस्थान किसानों के बीच पूसा इन्स्टीट्यूट के नाम से मशहूर है। इन्हें पूसा के खेतों पर उगाकर देखा गया तो नतीजे अच्छे निकले। अगले दो-तीन साल तक अखिल भारतीय समन्वित गेहूं अनुसंधान प्रायोजना के अंतर्गत इन बौने गेहूंओं के परीक्षण किए गए। तब अगस्त 1964 में डा. एम.एस. स्वामिनाथन ने बौने गेहूंओं के राष्ट्रीय प्रदर्शन लगाने का सुझाव दिया। उन दिनों डा. स्वामिनाथन पूसा इन्स्टीट्यूट में पौध-प्रजनन और आनुवंशिकी विभाग के अध्यक्ष थे। बाद में वे भारतीय हरित-क्रांति के जनक बने। राष्ट्रीय प्रदर्शन कार्यक्रम के अंतर्गत किसानों के खेतों पर नई किस्मों को उगाकर दिखाया गया। लक्ष्य यह था कि एक तो प्रयोगशाला के बाहर किसान के खेत इन किस्मों की जांच हो जाएगी और अच्छी पैदावार मिली तो सभी किसान एक दूसरे की देखादेखी इन किस्मों को उगाने के लिए लालायित हो जाएंगे।

इस बारे में डा. स्वामिनाथन ने बताया कि जब वैज्ञानिकों की मदद से छोटे किसानों ने राष्ट्रीय प्रदर्शन के अधीन अपने खेतों पर बौने गेहूँओं से पांच टन प्रति हैक्टर तक पैदावार ली तो किसानों को लगा कि यह तो चमत्कार हो गया। हर कोई बौने गेहूँ उगाने के लिए बीज मांगने लगा। सन् 1963-64 में कुल चार हैक्टर क्षेत्र में बौने गेहूँ बोए गए थे। ये सन् 1971-72 में बौने गेहूँ का क्षेत्र बढ़कर 40 लाख हैक्टर हो गया। एक छोटा-सा सरकारी कार्यक्रम विशाल जन-अभियान बन गया। डा. स्वामिनाथन की पहल पर ही सन् 1966 में भारत सरकार ने बौने गेहूँ का 18000 टन बीज मैक्सिको से मंगवाया, ताकि उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में उसकी समय पर बुआई हो जाए।

इस तरह सन् साठदिक के मध्य में भारत में हरित-क्रांति के बीज बोए गए। इसके बाद जो हुआ वह तो इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जा चुका है। सन् 1968 में गेहूँ का उत्पादन बढ़कर 170 लाख टन तक पहुंच गया। सन् 1964 में आजादी के बाद का अधिकतम गेहूँ उत्पादन 120 लाख टन हुआ था। 1968 में यह उससे 50 लाख टन अधिक हुआ। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कृषि-उत्पादन में इस आश्चर्यजनक वृद्धि को मान्यता प्रदान करते हुए एक विशेष डाक टिकट जारी किया जिस पर लिखा था - 'गेहूँ क्रांति' और गेहूँ की बालियों और पूसा के पुस्तकालय के सुपरिचित घंटाघर की तस्वीर बनी थी। गेहूँ-उत्पादन में मिली यह सफलता धान में भी दुहराई गई, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान (इर्री) मनीला, फिलिपीन्स से मिले बौने धानों का विशेष योगदान रहा। इसी तरह कपास, गन्ना, ज्वार-बाजरा और तिलहनों में भी उत्पादकता बढ़ी।

अकालों से छुटकारा

अकाल से बचने की जो रणनीति भारत में अपनाई गई उसमें वे सभी आवश्यक तत्व थे जिनके लिए लगातार प्रयास करने की आवश्यकता होती है। सन् 1965 में कृषि मूल्य आयोग की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य था किसानों को उनकी फसल का उचित मूल्य सुनिश्चित करना। यह आयोग एक स्वायत्त निकाय (ऑटोनोमस बॉडी) है। यह 22 कृषि जिंसें की लागत और मूल्य तय करना है। मूल्य इस तरह तय किया जाता है कि लागत के हिसाब से किसान को मुनाफा हो, ताकि वह पैदावार अधिकाधिक बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित हो। उदाहरण के लिए सन् 1972 से 1981 के बीच गेहूँ की कीमत 71 प्रतिशत बढ़ाकर तय की गई। इसी अवधि में धान की कीमत 81 प्रतिशत बढ़ाई गई। बाद में भी धान-क्रांति में किसानों का जोश बनाए रखने के लिए धान का समर्थन मूल्य बराबर ऊंचा रखा गया। इस तरह हरित-क्रांति की शुरुआत के समय मूल्य-नीति का पलड़ा गेहूँ की ओर झुका रहा, जब कि सत्तारादिक के मध्य में यह धान की ओर झुक गया। दूसरी ओर तिलहनों और दलहनों की कीमतें तय करने में रुख उल्टा रहा। इनकी खेती को मुनाफादेह बनाने की तरफ सन् 90 के बाद के दशक में अधिक ध्यान दिया गया।

इस मूल्य-नीति का शायद सबसे सार्थक पक्ष यह रहा कि दाम गिरने से होने वाले नुकसान से किसान को बचाया जा सका। सन् 1971-72 में गेहूँ की पैदावार तेजी से

बढ़ी थी और उस बढ़त के हिसाब से कीमत में 25 प्रतिशत की गिरावट आ जानी चाहिए थी। लेकिन किसान जितना गेहूं मंडी में ले आया वह सबका सब सरकार ने खरीदा और इस तरह किसानों को पहले से सात प्रतिशत अधिक कीमत मिली। इसी तरह सन् 1982-83 में जब गेहूं की पैदावार पिछले साल के मुकाबले 14.3 प्रतिशत अधिक बढ़ी तो दामों में 32.5 प्रतिशत की गिरावट हो जाने का डर था। लेकिन सरकारी खरीद के चलते किसानों को 18 प्रतिशत अधिक कीमत मिली।

इस भारतीय खाद्य नीति का सबसे उजला पहलू यह रहा कि उसमें सुरक्षित अन्न भण्डार रखने की परम्परा कायम हुई जिसने अकाल जैसी परिस्थितियां नहीं पनपने दीं। यह परम्परा भी डा. एम. एस. स्वामिनाथन्—जैसे महान कृषि चिंतक की दूरदृष्टि की देन थी। इसका मूल उद्देश्य यही था कि उचित मूल्य की वितरण प्रणाली के द्वारा पूरे देश में और खासतौर से कमी वाले इलाकों में सबको सही कीमत पर अनाज मिलता रहे। इस तरह खाद्यान्न की उपलब्धता सबके लिए सुनिश्चित की गई और यह नहीं हुआ कि कुछ लोग तो जरूरत से ज्यादा खपत करते रहें और दूसरे दाने—दाने के लिए मोहताज हो जाएं। इस खाद्यान्न-प्रचुरता का उपयोग 'काज के लिए अनाज' (फूड फॉर वर्क) कार्यक्रम के लिए भी किया गया और गरीबी हटाने के अभियान के लिए भी। इस समय पी डी एस (पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम) यानी जन वितरण प्रणाली में लगभग 8 करोड़ परिवारों को यह सेवा प्रदान की जाती है और उचित मूल्य में राशन बेचने वाली 40,000 दुकानें कुल अनाज व्यापार के एक तिहाई पर काबिज हैं।

हरित-क्रांति यों ही सौभाग्यवश नहीं हो गई। इसके पीछे मजबूत कृषि नीतियां, दृढ निश्चय तथा वैज्ञानिकों की प्रतिभा और किसानों की कड़ी मेहनत का महान योगदान रहा, जिसके साथ उन्होंने नए बीज और नए तरीके बढ़-चढ़कर अपनाए। इस बारे में 'रॉकफैलर प्रतिष्ठान' का कहना है कि "जिस तेजी से भारत के किसानों और वैज्ञानिकों ने अचानक अपने देश की खाद्य-आपूर्ति की मंजिल तक पहुंचाया, वैसा दुनिया में कहीं भी इस पैमाने पर नहीं हुआ। यहां तक कि वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वोन्नत अमरीका में भी नहीं हुआ।"

भले ही मौसम ने दगा दी हो लेकिन सन् सत्तरादिक के बाद के दशक से भारत को कभी-भी वैसे अकालों और भुखमरी का सामना नहीं करना पड़ा, जो आजादी से पहले तकरीबन हर साल भुगतने पड़ते थे। इसका कारण यही था कि सुरक्षित भंडार में पर्याप्त अनाज रखा गया और विशाल जन-वितरण प्रणाली स्थापित की गई। साथ ही यह अनाज भंडार बनाए रखने के लिए पैदावार बराबर बढ़ती रहे इसके लिए बुनियादी और व्यावहारिक कृषि अनुसंधान, कृषि शिक्षा और कृषि-विस्तार का विशाल राष्ट्रीय तंत्र खड़ा किया जो किसानों को बराबर नए बीज, नए तरीके और जानकारी उपलब्ध करा सके। सन् 1987 में भारत में बीसवीं सदी का सबसे भयंकर सूखा पड़ा जिससे लगभग 15 करोड़ 50 लाख लोग प्रभावित हुए। लेकिन कहीं भी भुखमरी नहीं फैली। यह इसलिए संभव हुआ कि सुरक्षित खाद्य-भण्डार ने खाद्य सुरक्षा प्रदान की और यह खाद्य सुरक्षा इसलिए टिकाऊ रह सकी, क्योंकि यह मुख्यतः अपने देश में पैदा किए गए गेहूं और चावल पर निर्भर थी।

सन् साठादिक के अंतिम वर्षों के बाद से ही आमतौर पर अनाजों की पैदावार आबादी बढ़ने की रफतार से ऊपर रही। बढ़ती जनसंख्या के बावजूद प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता की दर बढ़ती रही। सन् 1955 में प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न का औसत 157 किलोग्राम था जो कि 1995 में 177 किलोग्राम हो गया। यानी 15.7 प्रतिशत बढ़ा। स्वतंत्रता के बाद के समय से अब तक खाद्यान्न-उत्पादन में लगभग चौगुनी बढ़ोतरी हुई है। सन् 1950-51 में कुल 5 करोड़ टन अनाज पैदा हुआ था, जो कि सन् 1999-2000 में बढ़कर 20 करोड़ 80 लाख टन हो गया। इसी अवधि में भारत की जनसंख्या लगभग 30 करोड़ से बढ़कर 100 करोड़ से ऊपर पहुंच गई। अनाज ही नहीं दूध की पैदावार में भी पूरी दुनिया को पीछे छोड़कर प्रतिवर्ष 7 करोड़ टन दूध पैदा होने लगा। सन् सत्तरादिक के अंत तक भारत खाद्यान्न में आत्मनिर्भर हो गया था और सुरक्षित खाद्य-भंडार बराबर भरा रहा। यह तो अब आकर हुआ है कि फिर से अनाज बाहर से मंगाना पड़ा और यहां तक कि सूखे दूध पाउडर के आयात की भी अनुमति दी गई।

भूरे इलाके

हरित-क्रांति ने अनाज की पैदावार तो बढ़ाई लेकिन हर जगह नहीं। सब से अधिक वृद्धिदर थी 4.63 प्रतिशत जो केवल पंजाब और हरियाणा तक सीमित रही। यहां पर खाद्यान्न का उत्पादन सन् 1964-65 के 72 लाख 30 हजार टन से बढ़कर 1995-96 में 303 लाख 30 हजार टन तक पहुंच गया। उत्तर प्रदेश में यह चक्रवृद्धि दर 3.01 प्रतिशत आंकी गई। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और उत्तर पूर्वी राज्यों में अनाजों की पैदावार उगमगाती रही। धान की पैदावार में तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश ही नहीं, पश्चिम बंगाल भी सार्थक वृद्धि दिखाता रहा।

हरित-क्रांति के नियोजकों ने उसे उन क्षेत्रों में ही पनपाने के प्रयास किए थे, जहां सिंचाई की सुविधाएं थीं और मिट्टी उपजाऊ थी। वर्षा पर निर्भर रहने वाले बारानी इलाकों में हरित-क्रांति की एक बूंद भी नहीं टपकी, जब कि 70 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र बारानी है। यहां आज भी यही हालत है कि किसान आसमान ताकता रहता है। हालांकि पिछले कई दशकों से बारानी इलाकों में खेती की पैदावार बढ़ाने पर बल दिया गया है लेकिन यहां की स्थिति अब भी वैसी ही बनी हुई है। ऊबड़-खाबड़ जमीनें और अनिश्चित वर्षा बारानी इलाकों को उबरने नहीं देतीं। इसके बावजूद देश का 42 प्रतिशत खाद्यान्न बारानी इलाके ही पैदा करते हैं। इसलिए भारत का कृषि-भविष्य इन्हीं क्षेत्रों में छुपा है। यही वे इलाके हैं, जो देश की लगभग 83 प्रतिशत ज्वार, 81 प्रतिशत दलहन और 90 प्रतिशत तिलहन पैदा करते हैं। उत्पादन में घट-बढ़ और उपज का निम्न स्तर ये दोनों ही इस बात के गवाह हैं कि बारानी इलाकों को अब भी हरित-क्रांति का इंतजार है और नीति-निर्धारकों तथा योजनाकारों ने इनकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया।

बारानी इलाकों की इस शोचनीय अवस्था के अनेक सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणाम हो रहे हैं और आगे हो सकते हैं। हर गुजरते वर्ष के साथ सिंचित और असिंचित क्षेत्रों की पैदावार के बीच खाई बढ़ती जा रही है। एक साल सूखा पड़ गया तो किसान अगले दो-तीन साल के लिए कर्ज में डूब जाता है और गरीबी के चंगुल में फंस जाता है। शुष्क और अर्धशुष्क इलाकों में सूखा तो पड़ता ही रहता है। यही कारण है कि आजादी के 53 वर्षों के बाद भी बारानी क्षेत्रों की आंखें गीली बनी हुई हैं और उनके आंसू अब तक नहीं सूखे, बल्कि और भी ज्यादा टपक रहे हैं। यहां के कृषकों की आशा, निराशा में ही बदलती रही है।

गिरावट

हरित-क्रांति के उदय के तीस साल बाद आज भारत के किसान यह महसूस करते हैं कि सम्पन्न खेती के साथ उनके प्यार का बुखार उतर रहा है। इस बुखार को उतारने में इन्द्र देवता का कोई योगदान नहीं है और नब्बे के दशक में वे लगातार कृपा की वर्षा कर रहे हैं, फिर भी फसलों की पैदावार आशा के अनुकूल नहीं हो पा रही है। उधर बच्चों की फसल खूब फल-फूल रही है और इस बढ़ती आबादी और कृषि-उत्पादन में आए ठहराव ने एक बार फिर भारतीय कृषि को ऐसे मोड़ पर ला खड़ा किया है, जहां असमंजस की स्थिति है कि अब क्या किया जाए?

हरित-क्रांति के बाद पंजाब और हरियाणा में पैदावार के रिकार्ड बनाने का जो जोशीला सिलसिला शुरू हुआ था, उसकी रफ्तार मंद ही नहीं पड़ी, थम गई है और लगता है, जैसे इतिहास के पन्नों में खो गई हो। कृषि-क्षेत्र अनेक समस्याओं से आक्रान्त है। बढ़ती आबादी ने पहले से ही छोटी जोतों के और भी टुकड़े कर दिए हैं। इस समय – सन् 2002 में – हालत यह है कि 60 प्रतिशत से अधिक भारतीय किसानों के पास औसतन 0.35 हैक्टेयर जमीन है। स्पष्ट है कि इतनी छोटी जोत के चलते भारतीय कृषि उच्च तकनीक वाली कृषि विधियों को नहीं अपना सकती।

उधर सरकार अब भी हरित-क्रांति की खुमारी में खोई हुई है, इसलिए किसान, किसानई और सम्पूर्ण कृषि-क्षेत्र को केवल शाब्दिक प्रोत्साहन परोसती रही है और गंभीरता से नहीं लेती। सन् 1995-96 में खाद्यान्न-उत्पादन में 3.60 प्रतिशत की गिरावट आई थी। सन् 1997-98 में यह गिरावट 3.70 प्रतिशत की हो गई जो कि हरित-क्रांति के सुनहरे दिनों के बाद की सबसे भारी गिरावट है। पूरे देश को खिलाने वाले पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की बटलोई अब द्रोपदी की वैसी बटलोई नहीं रही जो कितने ही अतिथि हों, खाली नहीं होती थी। देश के इस अग्रणी कृषि-क्षेत्र में जो चमत्कार गेहूं और उसके बाद धान में हुआ था, वहां अब ठहराव आ गया है और लागत-लाभ का अनुपात नकारात्मक हो गया है। खाद्यान्न-उत्पादन में गिरावट की यह दरार देश के दक्षिणी हिस्सों तक चली गई है। कृषि-क्रांति के एक और राज्य तमिलनाडु में सघन खेती का दबाव असहनीय होता जा रहा है। कर्नाटक में गन्ना और कपास के अलावा बाकी सभी फसलों में उत्पादन में गिरावट का नकारात्मक रुख झलकने लगा है। कर्नाटक की कृषि को स्पष्टतया दो हिस्सों में बांटा जा सकता

है। एक तो कंपनी बहादुर की निगमीय कृषि (कार्पोरेट एग्रीकल्चर) जिसने उपजाऊ सिंचित जमीनों को हथिया लिया है और दूसरा बचा-खुचा कम उपजाऊ क्षेत्र जो वर्षा पर आश्रित रामभरोसे खेती करने वाले छोटे और बहुत छोटे किसानों और उनकी छोटी-छोटी जोतों का है। वर्षा-वनों की हरियाली से भरपूर कमनीय कांत केरल भी खाद्यान्न के मोर्चे पर गहराए विकट संकट से गुजर रहा है।

मानो इतना ही काफी नहीं था सो देहातों में कई दशको से भूमिहीन मजदूरों की संख्या 20 लाख प्रतिवर्ष की दर से बढ़ती जा रही है। कृषि में व्यापार का रुख तो पूरी तरह नकारात्मक चल ही रहा है। कृषि-क्षेत्र में सरकारी पूंजी-निवेश भी इसमें आई गिरावट को और भी धक्का दे रहा है।

कृषि नियोजन की विचारधारा ही बदल रही है। वे दिन तो हवा हो गए जब देश को खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की चिंता सताया करती थी। वे दिन भी इतिहास बन गए, जब जय जवान के साथ जय किसान का नारा देकर किसानों को देश ने सिर माथे लगाया था और अन्नदाता मानकर पूजा था। आज जब अन्न उत्पादन किसी तरह डगमगाती जनसंख्या वृद्धि की दर के आसपास जमे रहने की कोशिश में है, तो किसानों को कहा जा रहा है कि अब आप कृषि में विविधीकरण को अपनाओ। ऐसी फसलें पैदा करो जो डॉलर कमाए, निर्यात की जा सके और अंतर्राष्ट्रीय बाजार की होड़ में खड़ी रह सके। अंतर्राष्ट्रीय मंडी में अनाज काफी सस्ता हो गया है। इससे उसकी चिंता छोड़कर अब ध्यान कृषि की बजाय उद्योग, व्यापार और वाणिज्य पर दिया जा रहा है। छोटे और बहुत छोटे किसानों पर जो भी बीत रही है, वे भुगतेंगे, तो हमें अब खाद्य प्रशोधन या खाद्य प्रसंस्करण (फूड प्रोसेसिंग) को बढ़ावा देना है। यानी कंपनियों को ऊंचा उठाना है जो किसान से कच्चा माल लेकर भांति-भांति के व्यंजन चमकदार डिब्बों में मंहगे दामों पर बेचकर मुनाफा कमाएं। तर्क यह है कि ये कंपनियां ही कृषि में पूंजी निवेश बढ़ाएंगी और कृषि उत्पादों के मूल्य में अभिवर्धन करेंगी।

भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन भी इस तरह किया गया है कि उसका रुख कृषि निर्यात की ओर मोड़ दिया जाए। पेट भरने वाले अनाजों की जगह तिजौरी भरने वाली नगदी फसलें उगाई जाएं यानी गेहूं की जगह टमाटर उगाओ और बहुराष्ट्रीय कंपनियां उस टमाटर को किसान से औने-पौने दामों पर खरीदकर उसकी लुगदी (टमैटो-प्यूरी) और चटनी बनाकर निर्यात करे। पंजाब में सामान्य गेहूं की जगह काठिया गेहूं (ड्यूरम व्हीट) उगाने की पेशकश जोर पकड़ रही है, जो डबलरोटी और बिस्कुट बनाने में काम आता है। हरियाणा में धान की जगह फूल उगाने पर बल दिया जा रहा है। तटवर्ती क्षेत्रों में निजी उद्यमी घुस गए हैं और बड़े-बड़े जंगी जहाजों से मछलियां पकड़कर छोटे-छोटे मछुआरों की रोजी-रोटी छीन रहे हैं। केरल में धान के खेतों और जंगलों का विशाल क्षेत्र रबड़-कॉफी-नारियल बागानों में बदला जा रहा है। हर साल 25000 हैक्टर उपजाऊ धान भूमि को गैर-धान क्षेत्र हड़प रहा है। यह ढांचागत बदलाव केवल केरल तक ही सीमित नहीं है, लगभग सभी राज्यों में इसके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। भूख मिटाने की बुनियादी जरूरत पूरी करने वाली अनाज की फसलों की उपजाऊ जमीनों को व्यापारिक फसलें निगलती जा रही है। यही कारण है कि अनेक राज्यों का

पेट अब राशन की दुकानें ही भर रही है। अच्छी उपजाऊ भूमि पहले ही ज्यादा नहीं थी। अब उसको अनाज वाली फसलों की जगह व्यापारिक फसलों और उद्योगों के हवाले कर देना खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता के लिए भीषण संकट पैदा करेगा। और इस संकट की शुरुआत हो चुकी है।

यदि खाद्यान्न-उत्पादन में गिरावट और अन्न तक गरीबों की पहुंच ये दोनों देश के सामने विकट समस्या के रूप में खड़ी हुई हैं, तो अवश्य ही भारतीय कृषि को समझने में हमसे भारी भूल हुई है। 70 प्रतिशत से अधिक लोग आज भी हमारे देश में कृषि पर निर्भर हैं और हर आदमी के हिस्से में औसतन 0.35 हैक्टर ज़मीन रह गई है। फिर भी वे किसी तरह जी रहे हैं। भले ही यह बात हमारे गले न उतरे, मगर कड़वी सच्चाई यह है कि भारत फिर हरित क्रांति के पहले के उन दिनों की ओर धकेल दिया गया है, जब 'जहाज़ से आया अनाज' ही देश का पेट भरता था।

2. भारतीय कृषि के लिए खतरे की घंटी

जो होना था, वह आखिरकार हो ही गया। सन् 1991 में आर्थिक सुधारों का ढिंढोरा पीटने के दस सालों बाद ही हम फिर जनसंख्या पर अंकुश लगाने की हर मर्ज की दवा बताने वाले पश्चिमी अर्थशास्त्री मात्थस के जंगल में खो गए हैं। हमारी आबादी बढ़ती जा रही है और कृषि-उत्पादन में वृद्धि की दर आबादी बढ़ने की दर को पकड़ नहीं पा रही। सन् 1990-91 से 1996-97 के बीच कृषि-उत्पादन में वृद्धि की वार्षिक दर 1.7 प्रतिशत ही रही, जब कि आबादी बढ़ने की दर थी 1.9 प्रतिशत।

इस तरह खतरे की घंटियां बजनी शुरू हो गई हैं। कोई एक दशक से कृषि-उत्पादकता में ठहराव सा आ गया है। जब हमने कृषि-उत्पादन और खाद्यान्न तक सबकी पहुंच के जरूरी जुड़ाव को अनदेखा कर दिया और सारा ध्यान फसलों से निर्यात योग्य वस्तुएं बनाकर उनमें विदेशी पूंजी निवेश के द्वार खोलने पर लगा दिया, मानो तभी हमने अपने लिए खाद्य संकट के रास्ते खोल दिए थे। लेकिन यह सच्चाई, लगता है किसी को दिखाई ही नहीं पड़ रही। और यही सबसे बड़ा खतरा है।

हमारी अनुत्पादक और बंजर जमीनों में भूख पैदा हो रही है, यह किसी को नजर नहीं आ रहा, फिर चाहे वह राजस्थान का बाड़मेर और बारां जिला हो, या उड़ीसा के कालाहांडी से बिहार के पलामू जिले तक फैली चिरभूखी पट्टी या उत्तर प्रदेश का बुंदेलखंड वाला इलाका।

किसी को नहीं पता कि हमारे देश में कितने बाड़मेर, कितने कालाहांडी, कितने पलामू, कितने बुंदेलखंड भूखमरी के चंगुल में तड़प रहे हैं। शायद किसी को यह सब जानने की न तो चाहत है और न फुरसत। एक कालाहांडी को लेकर बेचारों की नींद हराम हो जाती है, तो फिर उसमें बुंदेलखण्ड को भला कौन जोड़ना चाहेगा। चाहे हम मानें या न मानें गरीबी और भूख हमारे देश में सबसे ज्यादा मजबूती से टिक गए हैं— अंगद के पांव की तरह, जिसे रावण जैसा राक्षस भी नहीं हिला पाया था। फिर भी सरकार भारतीय उद्योग परिसंघ (कोन्फीडरेशन ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्री-सी. आइ. आइ.) के उद्योगपतियों की इस सिफारिश को सिर-माथे ले रही है कि भारतीय कृषि को 'फूड फैक्टरी' में बदल दो। 'फूड प्रोसेसिंग' उद्योग के लिए तमाम रियायतें दी जा रही हैं, जब कि हमारे बड़े-बड़े खाद्य और पेय-उत्पादक बहुराष्ट्रीय कंपनियों की झोली में कूद-कूद कर जा रहे हैं। यही हाल रहा तो बेचारे छोटे और सीमांत किसान बची-खुची जमीनों से भी वंचित हो जाएंगे।

तीस-बत्तीस साल पहले हरित-क्रांति हो गई थी, फिर भी खाद्यान्न के मोर्चे पर हम ऐसी गफलत कर बैठे कि यह हमारा कुप्रबंध कहा जाएगा। कृषि-भूमियों को दूसरे

कामों में निगलने की रफ्तार बढ़ती जा रही है, फिर भले ही राष्ट्र की कृषि-उत्पादन ज्वलंत उदाहरण ही माना—क्षमता सिकुड़ती जा रही हो। खेती के टिकाऊपन पर लगातार मारी जा रही चोटों का असर दिखाई पड़ रहा है। बशर्ते कोई देखना चाहे। हर साल कोई 20 लाख छोटे और सीमांत किसान सघन खेती के कारण बंजर हुई जमीनों से बेदखल होकर भूमिहीन मजदूरों की जमात में शामिल हो रहे हैं। फिर भी कृषि को बढ़ावा देने की बजाय हमारा देश जनसंख्या से निपटने के कृत्रिम उपाय अपनाने में लगा है। सालों तक भूखों तक अन्न पहुंचाने में असफलता से जमा हुए फालतू अनाज के ढेर केवल यही दर्शाते हैं कि हम अपने नागरिकों की एक बड़ी संख्या को उसके मूल मानवाधिकार से वंचित किए हुए हैं— और वह मानवाधिकार है खाद्यान्न तक उनकी पहुंच।

हम भुखमरी की सच्चाइयों को अपने दिमागी फर्श पर बिछे गलीचे के नीचे सरकाते जाते हैं। चार पिछड़े राज्यों के नेता और नौकरशाह यही करते आ रहे हैं। इन्हें 'बीमारू' (BIMARU) कहा जाता है, जो बिलकुल सही है। ये बीमारू राज्य हैं बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश। हालांकि अन्य राज्य भी कोई ऐसे 'स्वस्थ' नहीं हैं। और इनमें पंजाब भी शामिल है और हरियाणा भी, जिनकी अच्छी सेहत पर कभी हर कोई न्यौछावर हुआ करता था। इन राज्यों में भी कम से कम एक चौथाई आबादी गरीबी की रेखा के नीचे जैसे-तैसे गुजर-बसर कर रही है। यही कारण है कि हर रोज गांव छोड़कर शहरों की ओर भागने वालों की तादाद बढ़ती ही जा रही है। ये लोग रोजगार और अधिक आमदनी के लालच से ही नहीं, बल्कि खेतीबाड़ी में घट रहे मुनाफे और गरीबी से तंग आकर भी ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर रहे हैं। शहरों में पहुंचकर ये लोग जहां झुग्गी-झोपड़ियों और गंदी बस्तियों की तादाद बढ़ाते हैं, वहीं मेहनती होने की वजह से जल्दी ही गांव से बेहतर रहन-सहन वाला जीवन बिताने लगते हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि गांवों में गरीबों पर बुरी बीत रही है।

समस्याएं ही समस्याएं

गरीबी और भूख के शिकार लोग लगातार अलग-थलग पड़ते जा रहे हैं, जिसके लिए एक के बाद दूसरी तमाम सरकारों की तथाकथित वृद्धि-उन्मुख नीतियां जिम्मेदार हैं। सरकारी आंकड़े और शब्दाडम्बर जमीनी सच्चाइयों का पासंग भी नहीं बता पाते, बल्कि उनको बार-बार दुहराने से गरीबी और भुखमरी भी चंद संख्याएं बनकर रह जाती हैं और मानवीय करुणा नहीं जगा पाते। हम सब एक ऐसी भूमंडलीय व्यवस्था के पुर्जे बन चुके हैं, जो गरीबी और वंचना को बढ़ावा देती है। राष्ट्रीय नीतियां और कार्यसूची निर्धारित करने वाले विशेषज्ञ गरीबी हटाने और घटाने की बात करते हैं, मानो गरीब तो जैसे गरीब ही रहना चाहते हों। असल में तमाम नीतियां अमीरों को और अमीर तथा गरीबों को और अधिक गरीब ही बनाती रही हैं। इसका सबसे बड़ा कारण रहा है कृषि के प्रति घोर उपेक्षा की मानसिकता।

कृषि के सामने अनेक समस्याएं खड़ी हुई हैं। बढ़ती आबादी के कारण पहले-से टुकड़े-टुकड़े हुई जमीनें और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटती जा रही है। सन्

1976-77 में जोतों को औसत आकार दो हैक्टर मात्र था। सन् 1980-81 में यह घटकर 1.8 हैक्टर रह गया। अब यह 1.5 हैक्टर से भी कम है। 60 प्रतिशत भारतीय किसानों के पास तो 0.39 हैक्टर से भी कम जोत रह गई है। सन् 1981 में जोतों की संख्या 890 लाख थी। अब यह 1100 लाख यानी 11 करोड़ है। गेहूं में उत्पादकता की वृद्धि दर घट कर हरित-क्रांति के जमाने की वृद्धि-दर से आधी रह गई है। प्राकृतिक संसाधनों का आधार निरंतर घटता जा रहा है और कृषि-आनुवंशिकी के क्षेत्र में भी काफी दिनों से कोई क्रांतिकारी खोज नहीं हुई। इस तरह सुनहरी फसलें लगातार मटमैली फसलों में बदलती जा रही हैं। उर्वरकों पर सरकारी सब्सिडी बढ़ती जा रही है और रियायती रासायनिक खाद तथा मुफ्त के भूजल से धान-गेहूं की दुफसली खेती वाली जमीनें इतनी प्रदूषित और जलाक्रांत हो चुकी हैं कि उनका दम घुटने लगा है। रासायनिक उर्वरकों की अधिकता ने भूमि की प्राकृतिक उर्वरता बरबाद कर दी है। उर्वरकों के हानिकारक नाइट्रेट भूजल में मिलकर उसे प्रदूषित कर रहे हैं। खेतों में जान डालने वाला जैवांश लगभग गायब हो चुका है और इस तरह खेती वाली जमीनें बीमार और बंजर हो चुकी हैं।

राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान तंत्र में कृषि अनुसंधान और शिक्षा की जो बुनियाद डाली गई थी, उसकी नींव हिलने लगी है। अनिश्चय, शिथिलता और आत्म संतुष्टि ने इस तंत्र को तंद्रामय कर दिया है। इसीलिए अब वैसा अनुसंधान शायद ही कहीं होता दिखाई देता है, जिससे किसानों की सीधी सहायता हो। धीरे-धीरे कृषि अनुसंधान भी निजी कंपनियों के हाथों में खिसकता जा रहा है।

मोसाण्टो दुनिया में बीज बनाने और बेचने वाली सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनी है। वह भारत में अपने पांच जमा चुकी है और जैवप्रौद्योगिकी में अनुसंधान की सबसे बड़ी संस्था बन गई है। उसकी विशाल काया में बेचारी भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद दुबक गई है। कम से कम तीन भारतीय बीज कंपनियों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने पूंजीनिवेश कर दिया है, जिससे भारत की कृषि का भावी स्वरूप कैसा होने वाला है, इसका पूर्वानुमान लगाना कठिन नहीं है। सरकारी अनुसंधान संस्थाओं से प्रतिभाशाली कृषि वैज्ञानिक बड़ी संख्या में निजी कंपनियों की ओर भाग रहे हैं जिनमें से सबसे ज्यादा आकर्षण है बहुराष्ट्रीय कंपनियों का। चंद सालों में ही आप देखेंगे कि मोसाण्टो भारत में कृषि-अनुसंधान और कृषि-विकास का सबसे बड़ा संगठन बन चुका होगा। वही तय करेगा कि भारत में कृषि अनुसंधान की दिशा क्या होनी चाहिए और यह दिशा निश्चय ही देश की जरूरतों के हिसाब से नहीं, बल्कि मुनाफे की चाहत से तय होगी।

हमारे देश की कृषि संबंधी जरूरतें किसी से छुपी नहीं हैं। एक ओर छोटे और सीमांत किसान अपनी उपज की ज्यादा से ज्यादा कीमत चाहते हैं, तो दूसरी ओर गरीब उपभोक्ता को अनाज सस्ता मिलना चाहिए। दोनों के बीच संतुलन बिठाने में कृषि-उत्पादन तंत्र की आर्थिक स्थिरता डगमगा रही है। राष्ट्रीय नीतियां साल-दर-साल से कुछ ऐसी रही हैं कि देहातों की पूंजी शहरों की ओर खिंची जा रही है। सन् 1971 से ही हर साल वास्तविक ग्रामीण आय में 12 प्रतिशत की गिरावट

चली आ रही है, क्योंकि कृषि व्यापार नकारात्मक होता चला गया। इस तरह किसानों पर आर्थिक बीमा बढ़ता चला गया। खेतीबाड़ी में खर्चा तो बराबर बढ़ रहा है और मुनाफा बराबर घटता जा रहा है।

जैसे इतना ही काफी नहीं था, सो ऊपर से इस आग में घी डाल रहे हैं, हमारे अर्थशास्त्री और कृषि-संगठन जिनकी मेहरबानी से 1990 के दशक में कृषि की वृद्धि-दर जनसंख्या की वृद्धि-दर से पिछड़ गई। इस घटती वृद्धि दर की चिंता करना तो दूर, इसके पीछे हमारे कुछ अर्थशास्त्री यह कारण बता रहे हैं कि लोग अब दुग्धआहार और मांसाहार ज्यादा करने लगे हैं और खानपान की बदलती आदतों में ही कृषि की वृद्धि-दर घटा दी है!

फूड फैक्टरियां

हमारे देश में जगह-जगह से भुखमरी की दर्दनाक खबरें आ रही हैं और इधर फॉरेन इनवेस्टमेंट प्रमोशन बोर्ड (एफ.आइ.पी.बी) को इन्हीं दिनों यह सूझा है कि मांस और अनाज से पालतू कुत्तों और बिल्लियों का आहार बनाया जाए। कुल 248 लाख रुपए की पूंजी लगाकर फ्रांस की 'रॉयल कौनाइन' कंपनी 296 लाख रुपए के पालतू कुत्तों का आहार भारत को निर्यात करने के सौदे कर चुकी है। विदेशी पूंजी निवेश का एक और प्रस्ताव मंजूर किया गया है, जिसके तहत पशु-आहार और मुर्गियों का दाना भी बाहर से आएगा। शायद हमारा एफ.आइ.पी.बी. जो विदेशी पूंजी-निवेश के प्रस्तावों पर विचार करके उन्हें स्वीकृति प्रदान करता है, फ्रांस की महारानी मेरी अंतोनी से भी आगे है। जब महारानी को पता चला कि गरीब लोग डबलरोटी के बिना भूखे मर रहे हैं, तो उसने झुंझलाकर पूछा कि ये लोग केक क्यों नहीं खाते!

उदारीकरण के इस दौर में सरकार ने फैसला किया है कि मक्का, ज्वार-बाजरा और दूसरे मोटे अनाजों से व्हिस्की बनाई जाए। यह काम दुनिया में शराब बनाने वाली सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में सबसे नामी-गरामी 'सीग्राम' को सौंपा गया है। इस तरह गरीबों के भोजन को अमीरों के मादक पेय में बदला जाएगा। अभी भारत के सुरा-उद्योग में शीरा इस्तेमाल किया जाता है, जो कि चीनी-उद्योग का उपोत्पाद है। यह उन्हें सस्ता पड़ता है और एक टन शीरे से 230 लिटर शराब बनाई जा सकती है। आज भी अपने देश में करोड़ों लोग भूख के साथ सोते हैं, लेकिन हमारी सरकार ने सीग्राम के इस वायदे पर यकीन कर लिया है कि वह शराब बनाने में उसी "अनाज का उपयोग करेगी, जो मानव-आहार श्रृंखला से बाहर होगा और जो अनाज का छीजन होगा।"

इससे पहले भी हम बाहरी कंपनियों को आहार-उद्योग में घुसपैठ की इजाजत दे चुके हैं। तमाम बहुराष्ट्रीय कंपनियां तरह-तरह के आहार और व्यंजनों की दुकानों की श्रृंखला खोलकर जहां लोगों की जेब काट रही है, वहीं उनके पेट भी खराब कर रही है। फास्ट फूड यानी 'तुरंत भोजन' परोसने वाली दुकानों की बाढ़ आ गई है। पहले घर-घर में आलू के बरख बनते थे। अब मंहगे 'पोटेटो चिप्स' चमचमाते डिब्बों में बिक

रहे हैं। ये विदेशी निजी कंपनियां भारतीय व्यंजन निर्माताओं की बधियां बिठा चुकी हैं और उनमें से कइयों को खरीद चुकी हैं या फिर खरीदने की पेशकश कर चुकी हैं। ये कंपनियां सस्ती जमीनें खरीद रही हैं और अन-उपजाऊ जमीनों से बेदखल किसान भूमिहीन बेरोजगारों की कतारों को बढ़ाते जा रहे हैं। हमारा देशी उद्योग इन तमाम गतिविधियों से बेखबर लगता है। तभी तो भारतीय उद्योग परिसंघ (सी.आइ.आइ.) बराबर यह ढोल पीटता रहता है कि कृषि-उपज को ज्यादा मुनाफा देने वाली कृषि-वस्तुओं में बदला जाए। हजारों बच्चे कुपोषण के कारण तमाम बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। विश्व में बालकों के विकास के लिए बनी संयुक्त राष्ट्र की संस्था 'यूनिसेफ' के अनुसार लगभग 5000 बच्चे भारत में हर रोज कुपोषण-जन्य रोगों के कारण असमय में काल-कवलित हो जाते हैं। लेकिन इधर हमारे कृषि-उद्योग का कतई ध्यान नहीं है।

सी.आइ.आइ. चाहती है कि भारतीय कृषि को उद्योग का दर्जा दे दिया जाए, क्योंकि इसमें उसे भारी मुनाफा नजर आ रहा है। दूसरी ओर एसोचैम- एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री - ने दूसरी हरित-क्रांति का नया नुस्खा सुझाया है। फिर भला फिक्की - फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री क्यों पीछे रहे, सो उसने भी कृषि-व्यापार में मात्रात्मक रुकावटों को दूर करने के लिए सरकार पर दबाव बनाया है कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) ने जो तारीख तय की है, उससे पहले ही रुकावटें हटा दी जाएं।

अपने निहित स्वार्थों से प्रेरित 'एसोचैम' ने सन् 2020 के लिए अपनी ओर से खाद्यान्न-उत्पादन का लक्ष्य भी निर्धारित कर दिया है। 'भारतीय कृषि-क्षेत्र' के लिए 'स्ट्रेटेजिक प्लान' की घोषणा करते हुए एसोचैम ने सुझाव दिया है कि पट्टे पर जमीन देने की शर्तें उदार बनाई जाएं, सिंचाई का प्रबंध निजी कंपनियों को सौंप दिया जाए और कृषि-व्यापार के लिए बनाए गए कायदे-कानूनों में ढील दी जाए। अगर ये सब किया गया तो 'अगले 20 सालों में भारत का वार्षिक खाद्यान्न उत्पादन 50 करोड़ टन हो जाएगा।' ब्रिटेन की सलाहकार संस्था 'मैकिंसे इण्डिया' के साथ मिलकर 'सी.आइ.आइ.' ने एक भारी-भरकम रिपोर्ट जारी की है, जिसमें भारतीय खेती को 'फैक्टरी फार्मिंग' में बदलने के सब्जबाग दिखाए गए हैं।

इन भारतीय उद्योग-संघों को भारत के किसानों के खून-पसीने की गाढ़ी कमाई को तैयार शुदा खाद्य वस्तुओं में बदल कर निर्यात करने में डालर बरसते नजर आ रहे हैं। भारतीय किसान की सदियों से चली आ रही टिकाऊ खेती को ये कार्पोरेट एग्रीकल्चर यानी व्यापारिक खेती में बदलना चाहते हैं। इस समय भारतीय खाद्य-उद्योग 2800 अरब रुपए का है। इसे सन् 2005 तक इतना फलना-फुलना चाहिए कि यह 5600 अरब रुपए का हो जाए। सी.आइ.आइ. ने भी इसी इरादे से एक रिपोर्ट जारी की है- "फूड एण्ड एग्रीकल्चर : इन्टीग्रेटेड डेवलपमेण्ट ऐक्शन प्लान"। इसमें सी.आइ.आइ. ने बताया है कि किस तरह गोहूँ के आटे और दालों को किसी ब्राण्ड के नाम से पैक करके बेचने से कितनी भारी कमाई की जा सकती है। लेकिन इस कमाई के लिए रास्ते तभी खुलेंगे, जब सरकार इसे बढ़ावा देने के लिए दसवीं पंचवर्षीय योजना में 1400 अरब रुपए का पूंजीनिवेश करे।

मजे की बात यह है कि ये ही सी.आइ.आइ. और एसोचैम किसानों को मिलने वाली रियायतों पर तो रोक लगाने की मांग करते हैं। लेकिन अपने लिए सरकारी रियायतों की भीख मांगने में नहीं हिचकिचाते। टिकाऊ खेती को व्यापारिक खेती में बदलने के लिए उन्हें सरकार की मदद लेने से कोई गुरेज नहीं। अगर अगली हरित-क्रांति कृषि-उपज में मूल्य-अभिवर्धन से ही आनी है और उसके लिए सरकार को भारी रियायतें भी देनी होंगी तो लगता है कि उन उद्योग-संघों का नुस्खा भारतीय कृषि की बुनियाद में पलीता लगाने के सिवा कुछ नहीं है। जिस तरह की ढांचागत सुविधाएं, वित्तीय सहायता और दूसरे मीठे-मीठे उपाय उद्योगों की थाली में परोसे जा रहे हैं, उसका पासंग भी अगर छोटे-छोटे और बहुत छोटे सीमांत किसानों की झोली में टपकाया जाए तो भारतीय कृषि की तसवीर ही बदल जाए और वह बेहतरी के नए मुकाम पर पहुंच जाए।

खाद्य सुरक्षा को दाव पर लगाना

देश से भूख का कलंक मिटाने, गरीबी हटाने और रोजगार बढ़ाने का एक ही रास्ता है और वह है कृषि में ऐसे सुधार लागू करना, जिससे यह आर्थिक दृष्टि से मुनाफादेह बने। लेकिन 1990 के दशक में एक ऐसा कृषि-शोषक तंत्र उभरा है, जिसने भारतीय कृषि के मार्ग में तरह-तरह के गतिरोधक खड़े कर दिए हैं। यही कारण है कि ग्रामीण भारत दुनिया में गरीबों के सबसे बड़े साम्राज्य की पदवी पा सकता है। हर गुजरते साल के साथ अधिकतर भारतीय गांवों में रहन-सहन का स्तर गिरता जा रहा है, भले ही सरकारी आंकड़े इस बारे में मौन हों। गांव अब विकास से कोसों दूर हो गए हैं। इस सच्चाई को वही झुठला सकता है, जिसे जमीनी सच्चाइयां नजर नहीं आती।

अधिकतर आर्थिक चिंतनशालाएं और संस्थाएं चुपचाप इस उधेड़बुन में लगी हैं कि कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था को किसी तरह उद्योगों पर आधारित अर्थव्यवस्था में बदल दिया जाए। ग्रामीण विकास और गरीबी को भूल जाइए, अब तो कृषि और खाद्यान्न की तरफ खास ध्यान देने की बात भी नहीं की जाती। अगर की भी जाती है तो मात्र दिखावा होती है – कोरी बातें जिसे अंग्रेजी में 'लिप सर्विस' कहते हैं। निजी बैंको से होड़ में पिछड़ने के डर से राष्ट्रीयकृत बैंको ने भी प्राथमिकता के क्षेत्रों को कर्जे देने के राष्ट्रीय लक्ष्य को चुपके से दफना दिया है। रिजर्व बैंक ने सलाह दी है कि कृषि-क्षेत्र को न्यूनतम ऋण देने की अनिवार्यता समाप्त कर दी जाए। यह सलाह मान ली गई तो यह भारत की खाद्य-सुरक्षा के लिए मौत की मुनादी साबित होगी।

सरकार ने अपने आर्थिक सर्वेक्षण में यह स्वीकार किया है कि खाद्यान्न-उत्पादन में उसे 4 प्रतिशत की मामूली गिरावट भी आवश्यक वस्तुओं के दाम बढ़ने और मंहगाई बढ़ाने में वैसा ही काम करती है, जैसा कि आग में घी। इसी कारण सरकार को सन् 1991 और फिर सन् 1996 में खाद्यान्न का आयात करने के लिए विवश होना पड़ा। सन् 1998 के अर्धांश में प्याज और सब्जियों की कीमतों में भारी उछाल आया, जिसके लिए सरकार की गलत नीतियां ही जिम्मेदार थीं, जिनके तहत सब्जियों को सरकारी

नियंत्रण से बाहर रखा गया। लेकिन प्याज की मंहगाई ने सरकार को खूब रुलाया और उसे राजनीतिक पतन का सामना करना पड़ा।

लेकिन राजनीतिक नुकसान उठाकर भी सरकार की अकल ठिकाने नहीं आई। भारतीय उद्योग विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) की हां में हां मिलाकर जो नुस्खे बता रहा है, उन्हें तो सरकार बिना पानी के भी निगलने को तैयार है, लेकिन देश की खाद्य सुरक्षा की बात इसके गले नहीं उतरती। उसे तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के हवाले करने के लिए तैयार है। डब्ल्यू.टी.ओ के दबाव में विदेशी कृषि-वस्तुओं और दूसरी चीजों के लिए अपने देश के द्वार खोल देने का मतलब यही होगा कि बहुत बड़ी संख्या में भारत के फटेहाल गरीबों की ही नहीं, खाते-पीते लोगों की जीविका भी खतरे में पड़ जाएगी। उधर अमरीका, यूरोपी संघ, कनाडा और आस्ट्रेलिया ही नहीं, चीन जैसे देश भी अपना सस्ता माल भारत में पटकने के लिए तैयार हैं और तमाम ऐसी चीजें आ रही हैं, जिनकी यहां कोई जरूरत नहीं थी। खासतौर से विदेशी सस्ता अनाज और अन्य खास वस्तुएं बेरोकटोक आने लगे तो भारतीय कृषि का टिकाऊपन तो तबाह होगा ही, साधन-विहीन करोड़ों किसान अपनी छोटी-छोटी जोतो से भी हाथ धो बैठेंगे।

कृषि-आयात को छूट देने से करोड़ों लोगों की जीविका प्रभावित होगी। जिस देश में आधी से अधिक आबादी को दैनिक आमदनी एक अमरीकी डालर से ज्यादा न हो, वहां कृषि-आयात का असर कितना विनाशकारी होगा, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है। खेतीबाड़ी से बाहर आकर किसान जाएंगे भी तो कहां? बस बेरोजगारी बढ़ाएंगे। विदेशी व्यापार के रास्ते में देशी हितों की सुरक्षा के लिए खड़ी की गई दीवारे गिरते ही विदेशी वस्तुओं की ऐसी बाढ़ आएगी, जो भारत की अर्थव्यवस्था को बहा ले जाएगी। भारतीय कृषि हाशिए पर तो पहले से ही है, और भी कोने की ओर खिसक जाएगी।

सरकार जो बताती है, उसके उलट विश्व के कृषि व्यापार में सबसे अग्रणी देश अपने किसानों पर जी खोल कर रियायतें लुटा रहे हैं। वे कृषि-निर्यात कर सकें इसके लिए भी सब्सिडी दी जाती है और जमीन खाली छोड़ दें, इसके लिए भी मुआवजा मिलता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी) के मुताबिक सन् 1995 में औद्योगिक देशों ने अपने किसानों की सब्सिडी देने पर लगभग 1610 खरब रुपये खर्च किए थे। डब्ल्यू.टी.ओ ने उनसे यही कहा था कि अगले छह सालों में इस सब्सिडी को 21 प्रतिशत घटा दो तो भी यह सब्सिडी 130 खरब रुपये के आसपास होगी। जल्दी ही भारत के किसान इस भूमंडलीकरण के शिकार होने वाले हैं। सबसे भारी कीमत चुकाएंगे, साधन विहीन गरीब किसान जो गुजारे के लिए खेती करते हैं।

सब कुछ किसान-विरोधी

हरित-क्रांति के 30 सालों बाद भी सब कुछ किसान-विरोधी चल रहा है, खासतौर से छोटे किसान का विरोधी। अधिक पूंजी-निवेश चाहने वाली तकनीकों को तो वैसे ही अपना नहीं सकते थे, बाकी रही-सही कमी पूरी कर दी उदारीकरण ने, जो सन्

1990-91 से शुरू हुआ। अब ये किसान करोड़ों डालर वाले कृषि-उद्योगों के सहारे छोड़ दिए गए हैं।

हजारों किसान हर तरह के कुलाबे जोड़-जाड़कर अपनी फसलों को कच्चे माल की बजाए पके-पकाए माल बनाने-बेचने से अधिक कमाई करने के सपने देखने लगे हैं। इसमें निजी कंपनियां इनसे माल खरीदने के सौदे तो कर लेती हैं, लेकिन बाद में मुकर जाती हैं। इसके लिए उनके पास सौ बहाने हैं। भले ही खाद्य व्यापार के कैडबरी, पेप्सी और कार्गिल जैसे मठाधीश हों या फिर दोयम नंबर के कृषि-उद्योग, सबका इरादा एक ही है कि किसान का जहां तक हो सके शोषण करो। ये उनसे कहेंगे कि तुम टमाटर उगाओ और हम पूरा खरीद लेंगे और टोमेटो प्यूरी बनाकर या टोमेटो-सॉस बनाकर बेचेंगे और तुम्हें टमाटर के अच्छे दाम देंगे। एक-दो साल पूरे दाम देंगे और फिर अचानक दाम घटा देंगे। किसान को मजबूरन घटी कीमत लेकर ही संतोष करना पड़ेगा। खेती करने में जो मौसम, कीड़े और बीमारियों के जोखिम हैं, वे सब तो किसान के हैं ही।

कंपनियों के बहाने तो देखिए। किसी साल वे संतरा-उत्पादकों से कहेंगे कि अब उतने दाम नहीं दे सकते, क्योंकि तुम्हारे संतरों में लिमोलाइन का अंश बढ़ गया है। आलू-उत्पादकों को कहेंगे कि आलू मीठे हो गए हैं। भले ही ठेका किया गया हो, लेकिन खाद्य-कंपनियां किसानों के माल में कुछ न कुछ खामियां निकालती रहेंगी और या तो कीमत घटा देंगी या फिर खरीदना बंद कर देंगी। भोलेभाले किसान से कहा जाता है कि 'जब दाम ऊंचे हों, माल निकाल दें और जब दाम गिरें तो उस समय घाटे से बचें। यह कहना तो आसान है, मगर करना मुश्किल है। टमाटर या आलू भर कर रखने के लिए उसके पास शीत-गोदाम कहां हैं? 11 करोड़ छोटे किसानों में से 60 प्रतिशत के पास मुश्किल से एक एकड़ से भी कम जमीन है और इनमें से अधिकतर के लिए कृषि ही जीविका का एकमात्र साधन है। उनको कृषि के व्यापारीकरण के मोहजाल में फांसने का मतलब होगा, उनकी मुसीबतें और भी बढ़ा देना।

पेप्सी जैसे खाद्य-मठाधीश भी किसानों को चूना लगाने में जरा भी नहीं हिचकते। पेप्सी फूड्स ने पंजाब के किसानों से वायदा किया था कि वहां बागवानी में क्रांति ला देंगे और खेती में आए ठहराव को तोड़ देंगे। उन्होंने साफ कहा था कि भारत के आलू चिप्स बनाने के काबिल नहीं है। लेकिन पांच साल बाद यही कंपनी भारत की 'चंद्रमुखी' किस्म के आलू के चिप्स बनाकर बेच रही थी। आलू खरीदती है, औने-पौने भाव और बेचती है ढाई सौ रूपए किलो 'हाथ से अनछुए'। बाहर से जो आलू पेप्सी ने आयात किए थे, वे भी चिप्स बनाने के लिहाज से किसी भी तरह भारतीय आलुओं के मुकाबले बेहतर नहीं थे।

सरकार को दिए गए प्रस्ताव में पेप्सी फूड्स ने दो करोड़ रूपए की लागत से एक कृषि अनुसंधान केन्द्र भी बनाना था जो अधिक उपज देने वाली रोगरोधी किस्मों विकसित करता। कम्पनी ने आलू के अलावा टमाटर की प्रचलित भारतीय किस्मों को प्रशोधन

(प्रोसेसिंग) के उपयुक्त नहीं माना था। इसलिए कंपनी ने यह भी वायदा किया था कि वह बाहर से संकर किस्मों के बीज मंगाकर किसानों में बांटेंगी। यह प्रस्तावित अनुसंधान केन्द्र कभी बना ही नहीं। पंजाब में पेप्सी फूड्स के दो कारखाने जरूर बन गए – एक जहूरा में और दूसरा पटियाला में। भारत में विकसित संकर टमाटर ही इन दोनों फूड प्रोसेसिंग फैक्ट्रियों में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। इसी तरह पेप्सी फूड्स की ही एक शाखा है “केटुकी फ्राइड चिकन” (के.एफ.सी)। इसने भी कृषि और मुर्गी अनुसंधान को बढ़ावा देने के बहाने भारत में प्रवेश किया, क्योंकि उसकी नजर में भारत के मुर्गे-मुर्गियाँ प्रोसेसिंग के काबिल नहीं थे। आज यही के.एफ.सी अनुसंधान को बढ़ावा देने का इरादा छोड़कर भारतीय नस्लों को पकाकर बेच रही है।

कार्गिल कम्पनी ने भी बड़े भारी-भारी वायदे किए, जिन्हें बाद में निभा नहीं पाई। इसने सूरजमुखी की संकर किस्म के बीज बड़ी भारी उपज का वायदा कर के बेचे, जब कि किसानों ने उगाए तो पैदावार बहुत कम हुई। विशेषज्ञों का कहना है कि यह संकर सूरजमुखी वही थी, जो कि पूर्वी यूरोप में प्रविष्ट की गई थी और बाद में वहां असफल सिद्ध हुई। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने कार्गिल की संकर सूरजमुखी को किसानों के खेतों पर आजमाने के प्रयोग लगाए थे। कंपनी ने उन्हें पूरा होने से पहले ही रोक दिया। इस तरह ये तमाम कंपनियां व्यापार में झूठ और धोखाधड़ी के सहारे चलती हैं और मारा जाता है भोलाभाला किसान। अक्सर अधिक कमाई के लालच में किसान इनके जाल में फंस जाते हैं और फिर पछताते हैं।

अनुचित प्रौद्योगिकी

एक बात बिलकुल अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि कोई भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी विकासशील देशों के हितसंवर्धन के लिए अनुसंधान नहीं करती। चाहे मॉसाण्टो कंपनी का 10 से 15 प्रतिशत दूध बढ़ाने वाला विवादास्पद ‘बोवाइन ग्रोथ हार्मोन’ (बी.जी.एच) हो या फिर यूनीलीवर कंपनी का यह वायदा कि वे भारत में विश्वस्तर का खाद्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी संस्थान बनाएंगे। इनमें से कोई भी भारत की मदद नहीं करना चाहते। उनकी निगाहें तो पश्चिमी बाजारों पर टिकी हैं। इनकी प्रौद्योगिकी मूलतः तीसरी दुनिया के किसानों के लिए नहीं हैं और वे भारत में उनका इस्तेमाल केवल अंतर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए करना चाहते हैं।

ठेके पर खेती का एक पुराना तरीका चीनी मिलों के मामले में काफी कामयाब साबित हुआ है। इसका फायदा छोटे-बड़े सभी किसान उठा रहे हैं, बशर्ते कि उनके गन्ने की कीमत का भुगतान समय पर होता रहे। गन्ने की खेती चीनी मिल के आसपास एक निश्चित दायरे में की जाती है और सारा गन्ना चीनी मिल खरीद लेती है। इसमें दोनों का फायदा है। मिलों का भी, किसानों का भी। मिल चाहे सरकारी हो या निजी, वह खुद गन्ने की खेती नहीं कर सकती। गन्ना आसपास के किसान उगाते हैं। मिल उन्हें अच्छी किस्म की पौध-सामग्री (दाम लेकर) मुहैया करती है, दूसरे कृषि-साधन भी उपलब्ध कराती है और एक कृषि प्रसार तंत्र के जरिए पूरी तकनीकें और जानकारी

उपलब्ध कराती है। लक्ष्य यही है कि चीनी मिल को रोगमुक्त, स्वस्थ और अधिक रसीला गन्ना समय पर मिलता रहे।

इंगलैण्ड की मार्क एण्ड स्पेंसर कम्पनी, अमरीका की कैलोग और गोडफ्रे फिलिप्स कम्पनियां और स्विट्जरलैण्ड की पोपेंस नामक कंपनी कच्चेमाल के लिए भारतीय किसानों की ओर झुकी हैं। वे निर्यात योग्य बेहतर किस्म की फसल उगाने के लिए किसानों के बीच नई तकनीक और जानकारी फैलाने का काम भी करती हैं। खाद्य व्यापार के मठाधीश एच.जे.हीज ने ग्लैक्सो की खाद्य पदार्थ वाली शाखा खरीद ली है। इसने अपनी गेहूं, चावल, मक्का और टमाटर की आपूर्ति के लिए ठेके पर खेती कराने का निश्चय किया है। कैडबरी इण्डिया ने भी कर्नाटक में 5000 एकड़ में कोको के बगीचे लगवाने का फैसला किया है और सारा कोको कंपनी खरीदेगी। यही योजना आन्ध्रप्रदेश में भी चलाई जाएगी।

लेकिन बहुत बार यह होता है कि बाजार के दबाव इन कंपनियों को ठेके पर खेती के समझौते रद्द करने पर मजबूर कर देते हैं। कंपनियों का तो कुछ खास नुकसान नहीं होता, लेकिन किसान को भारी झटका लगता है। चाकलेट बनाने वाली कुछ कंपनियों ने सन् 1993-94 में भारतीय किसानों से कोको खरीदने की बजाय, बाहर से मंगाना शुरू कर दिया, क्योंकि भारत में कोको मंहगा मिल रहा था। यही पंजाब में पेप्सी फूड ने किया। जब बाजार में टमाटर की भरमार हो गई तो उसने किसानों को पूरे दाम नहीं दिए और न पूरी तादाद में टमाटर खरीदा।

हत्यारे खेत

आन्ध्रप्रदेश में 1996 से किसानों में आत्महत्याओं का जो दौर चला, उसने कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब और हरियाणा के खेत-खलिहानों में भी विनाश के ताण्डव को उकसाया। यह तो बस शुरूआत है। आने वाले वर्षों में यह खतरनाक प्रवृत्ति बढ़ सकती है और कर्ज के बोझ से दबे अधिकाधिक किसान फसल मारे जाने पर इस रास्ते को अपना सकते हैं। उदारीकृत कृषि-आयात-नीति का सीधा असर इन किसानों की जान ले रहा है।

लेकिन हमारा देश इतना कृतधन है कि 500 से अधिक साधनहीन किसानों की आत्महत्याओं के तरह-तरह के कारण बताए गए, कानूनी कमेटियां बिठा दीं और जिन पर कर्जे बकाया थे, वे माफ कर दिए, लेकिन देश की आत्मा इन आत्महत्याओं से तनिक भी हिली नहीं। इनकी तह में जाने की कोई पुरजोर कोशिश सरकार ने नहीं की। भूख और गरीबी को देखते-देखते हम लोग शायद इतने आदी हो गए हैं कि किसी की मौत या आत्महत्या की खबर हमें विचलित नहीं करती। हम पत्थर के बुत की तरह बैठे देखते-सुनते और पढ़ते रहते हैं। बस एक खबर भर है गरीब की मौत! कोई तीव्र प्रतिक्रिया नहीं होती।

इस समय सभी राजनीतिक दल अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रहे हैं, क्योंकि उन पर से जनता का विश्वास उठ गया है। जनता समझ गई है कि सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और जैसे नागनाथ, वैसे सांपनाथ! सबके सब जहरीले। किसानों की आत्महत्याएं इन सांपनाथों में करुणा जगाती भी तो कैसे। उन्हें तो अपनी कुर्सी बचाने की ज्यादा चिंता है। किसी की जान जाए तो जाए। सैकड़ों किसान व्यर्थ ही शहीद हो गए। सरकारी व्यवस्था इन सभी के मामलों को अपनी कुर्सी के नीचे बिछे गलीचे के अंदर सरका कर चैन की नींद ले रही है। हरित-क्रांति के बाद की यह सबसे बड़ी करुणा-कथा अरण्य-रोदन ही बन सकी।

आन्ध्र प्रदेश में जिन 300 के लगभग किसानों ने आत्महत्याएं कीं, उन पर 60,000 रुपए से 80,000 रुपए का कर्ज बकाया था यानी मुश्किल से 1500 या 2000 डालर। ये सब अपने पीछे औसतन पांच-पांच सदस्यों के परिवारों को अनाथ कर गए। पंजाब और हरियाणा में कर्ज की रकम 1,20,000 या इस से भी ज्यादा थी। बाकी राज्यों में किसानों पर अधिक से अधिक 80,000 या इससे कम के कर्ज थे। इतने मामूली कर्ज के लिए सरकारी या निजी क्षेत्र का कोई भी कर्मचारी अपनी जान नहीं देगा। जबकि किसान इतने असहाय हो गए कि उन्हें अपनी जान लेने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इन अभागे किसानों पर इतना-सा कर्ज भी कोई एक साल में ही नहीं चढ़ गया। यह कई वर्षों से जमा होते-होते इस स्तर तक बढ़ा था। शुरू में तो उन्होंने कुछ हजार रुपए ही फसली कर्ज के तौर पर लिए थे। लेकिन भारतीय बैंकिंग प्रणाली इस मामूली कर्ज की लघु ऋण प्रणाली को अपनाने के लिए तैयार नहीं हुई और किसानों को देहातों में चली आ रही पुरानी ऋण व्यवस्था यानी साहूकार की शरण में जाना पड़ा। अगर बैंक सहकारी समितियों की मार्फत छोटे किसानों को छोटे कर्ज देते भी हैं, तो फसल मारे जाने पर उन कर्जों को माफ करने के लिए तैयार नहीं होते। अगर यही पैमाना इन राष्ट्रीयकृत बैंकों ने अमीर और ताकतवर उद्योगपतियों के लिए भी अपनाया होता तो इन बैंकों की गैर-निष्पादित परिसंपत्तियां (नॉन-परफॉर्मिंग असेट्स - एन.पी.ए) 4,400 अरब रुपए की अपार धन-राशि से ऊपर क्यों पहुंचते ।

जिन किसानों ने जहरीली कीटनाशी दवा पीकर जान दी, वे जानते थे कि कर्ज न चुका पाने पर उनकी कितनी बुरी गत बनती। उन्हें पता था कि उनकी मौत के बाद ही सरकार चेतगी और उनके कर्ज माफ कराएगी और इस तरह उनका परिवार इस कर्ज के बोझ से तंग नहीं होगा, मुक्त हो जाएगा। इसीलिए उन्होंने अपने प्राणों की बलि दी। दक्षिण एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में भी नागरिकों की अप्राकृतिक मौतों के बारे में होने वाली प्रतिक्रियाओं में अंतर पाया जाता है। उदाहरण के लिए इण्डोनेशिया में सरकार का विरोध कर रहे प्रदर्शनकारियों पर गोली चली और 500 के करीब नागरिक मारे गए तो वहां का निरंकुश तानाशाही शासन धराशायी हो गया। सरकार बदल गई। भारत में तो 500 किसानों की मौत सरकार को इतना भी नहीं हिला पाई कि संबंधित इलाके के जिम्मेदार अधिकारियों को निकालना तो दूर, उनका तबादला ही कर देती।

फसल को नुकसान पहुंचाने वाला एक खतरनाक कीड़ा, कोई ऐसी वजह नहीं है, जिसके लिए किसान अपनी जान दें। लेकिन फिर भी किसानों को आत्महत्या करनी पड़ी, क्योंकि वे भारतीय कृषि के बढ़ते व्यापारीकरण के लाभों से वंचित हो गए थे। इसके पीछे जो असलियत है, उसका खुलासा करें, तो आप पाएंगे कि यह शायद इस देश का सबसे बड़ा घपला था।

कपास की फसल ने इन किसानों की जान ली, जो कि नगदी फसल है। अधिक कमाई के लिए किसान कपास, गन्ना और तम्बाकू वगैरह की नगदी फसलें उगाते हैं। कपास पर कीड़े लगते हैं, जिनकी रोकथाम के लिए कीटनाशी दवाएं इस्तेमाल करनी होती हैं। कपास ऐसी फसल है, जिसमें सबसे ज्यादा कीटनाशी दवाएं इस्तेमाल की जाती हैं। सबसे खतरनाक कीड़ा है अमरीकी बॉलवर्म या सूंड़ी। इसकी रोकथाम एक तरह से इस कीड़े और कीटनाशी दवा उद्योग के बीच एक कड़ी प्रतियोगिता का रूप ले चुकी है। यही कारण है कि देश का 55 से 60 प्रतिशत पेस्टीसाइड केवल कपास की फसल पर ही छिड़का जाता है।

हर साल यह कीड़ा 15,000 अरब रुपए की फसलें चट कर जाता है। अकेली कपास ही नहीं और भी फसलें इस कीड़े को प्रिय हैं एक से दूसरी फसल और दूसरे फसल-मौसम में हमला बोलता यह कीट लगभग 90 फसलों का दुश्मन बन गया है। भारत में ही नहीं करीब 62 देशों में इस कीड़े ने तहलका मचा रखा है।

किसानों की आत्महत्याओं के पीछे इस कीट से भी बड़ी व्याधि काम कर रही है, जिसने समूची भारतीय कृषि को दबोचा हुआ है। इसमें एक ओर कीटनाशी-उद्योग के व्यापारी और विक्रेता और राज्य सरकार के फसल-रक्षा विभाग के अधिकारी हैं, और दूसरी ओर भोले-भाले किसान। कीटनाशी उद्योग के लिए तो अमेरिकन बॉलवर्म एक वरदान बनकर आया है। इसी के बूते भारत का कीटनाशी-उद्योग मुनाफा कमा रहा है और व्यापारी तथा विक्रेताओं की चांदी कट रही है। फसल का नुकसान हो या न हो, ये व्यापारी कभी घाटे में नहीं रहते।

मिलावटी दवाएं

अक्सर किसानों को जो दवा बेची जाती है, वह मिलावटी होती है। इनमें नकली और जाली चीजें मिलाकर किसान को असली के दाम पर भेज दी जाती है। आन्ध्रप्रदेश के वारंगल जिले में जिलास्तर पर सबसे ज्यादा कीटनाशी दवाएं बिकती हैं। यहां जब छापे मारे गए, तो अधिकतर दवाएं नकली निकलीं। जो भी दवा छिड़की गई थी, सबकी सब नकली थी। पंजाब और हरियाणा में नकली कीटनाशियों की महामारी फैल रही है।

इस तरह कीड़ा बड़ी मौज से फसल को चौपट करने में लगा रहता है। 15-20 बार दवा छिड़क लो मगर उस कीड़े का बाल भी बांका नहीं होता। इसके बाद जहां

सरकारी पौध-रक्षा अधिकारी दवाओं के प्रति कीट में रोधिता (रेजिस्टेंस) पनपने की दुहाई देते हैं, वहीं दवा-उद्योग और भी खतरनाक और भी जहरीली दवाएं खोजने, बनाने और ज्यादा मंहगे दामो पर बेचने के जुगाड़ में जुट जाता है। अगर कीटनाशी उद्योग और पौध-रक्षा विभागों की मिलीभगत की सी.बी.आइ जांच करे तो बिहार के चारा-कांड से भी बड़ा घपला निकलेगा, जिसकी जड़ें राजनीतिक शिखरों तक खोजी जा सकेंगी।

सबसे पहले सन् 1987-88 में किसानों की आत्महत्याओं ने सरकार का ध्यान अमरीकी बॉलवर्म की तरफ खींचा था। उसके बाद ही यह खोज हुई कि सिंथेटिक पाइरेथ्रोइड वर्ग के कीटनाशी अब इस कीड़े को नहीं मार पाते। यही क्या हर कीड़ा अपना रूप बदलता रहता है, ताकि कीटनाशी दवाओं का उन पर असर न हो। दस साल बाद यह कीड़ा अपने अधिक उग्र रूप में प्रकट हुआ। इसका मुकाबला करने के लिए आन्ध्रप्रदेश के वारंगल जिले के किसानों ने हर साल 200 करोड़ रुपए के लगभग कीटनाशी दवाओं पर खर्च करने शुरू किए। लेकिन अमरीकी बॉलवर्म से पहले वहां एक और कीड़े 'स्पोडोरप्टेरा' ने कपास की पत्तियां खानी शुरू कर दी। रही-सही कसर कपास की डोंडी में छेद करके उसका रस चूसने वाली अमरीकी सूंडी ने पूरी कर दी। लिहाजा ज्यादा दवा खरीदने के लिए ज्यादा कर्जा लेना पड़ा और दवा तथा कीटव्याधि के इस दुश्चक्र ने वहां के किसानों को आत्महत्याओं के लिए मजबूर कर दिया।

लेकिन इसके लिए अमरीकी सूंडी को दोष देना नाइंसाफी होगी। खेतों में कोई 28 ऐसे कीट-पतंग पाए जाते हैं, जो अमरीकी सूंडी पर हमला बोलते हैं। इन मित्रकीटों की बदौलत किसानों की कपास की फसल सदियों से कीटव्याधियों का कुदरती तौर पर मुकाबला करती रही है। लेकिन विडम्बना यह है कि जब कीटनाशी दवाएं छिड़की जाती हैं, तो इन मित्रकीटों का भी सफाया हो जाता है। अपने शत्रुओं की मौत के बाद अमरीकी बॉलवर्म और भी प्रचण्ड रूप ग्रहण कर लेता है। एक बार कीटनाशी दवा ने खेतों में प्राकृतिक संतुलन बिगाड़ा तो मामूली कीट भी शेर बन जाते हैं। यही कारण है कि कपास में सफेद मक्खी भी काफी नुकसान करने लगी है।

इसी स्थिति का फायदा उठाकर कुछ बहुराष्ट्रीय कंपनियां और रसायन-कंपनियां नए गठजोड़ बनाकर पराजीनी या परानुवंशिक कपास के बीज बेचने के जुगाड़ में लग गई हैं। ये बीज एक नई तरह की विषमता फैलाएंगे और किसान को एक अलग तरह के दुश्चक्र में फंसा देंगे। इस समस्या का हल पराजीनी कपास नहीं है। अमरीका में भी पराजीनी कपास नहीं चला। वहां भी कपास उत्पादकों को इसके कारण भारी नुकसान उठाना पड़ा। अगर भारत में भी वही इतिहास दुहराया गया तो यहां आत्महत्याओं की गिनती करना मुश्किल हो जाएगा।

कीटनाशी में कीट

सन् 1983-84 में लुधियाना में स्थित पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों के चौथी पीढ़ी के पेस्टीसाइड यानी कृतक नाशी सिंथेटिक पाइरेथाइड को कपास में इस्तेमाल

करने की सिफारिश की। उसी साल हिसार में स्थिति हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के पौध-रक्षा विशेषज्ञों ने पाइरेथ्राइड का इस्तेमाल न करने की सलाह दी। उनका तर्क यह था कि पाइरेथ्राइड-वर्ग के जहरीले कीटनाशी वन्यजीवों के लिए हानिकारक है—और इनसे इंसानों में कैंसर पनपने की आशंका है। अगले साल ही ये हिसारीय विशेषज्ञ पलटा खा गए और पाइरेथ्राइड रसायनों की सिफारिश करने लगे। इस तरह एक 'विषैला चक्कर' चल पड़ा।

चंद सालों में ही अमरीकी सूंड़ी पाइरेथ्राइड-दवाओं के लिए भी बेकाबू हो गई। कपास की खेती वाले कुछ इलाकों में तो वैज्ञानिकों ने पाइरेथ्राइड के इस्तेमाल पर पाबंदी लगाने का भी आग्रह किया। इसकी बजाय किसानों ने इन कीटनाशी दवाओं की खुराक बढ़ाकर छिड़काव करना शुरू किया। जब यह भी कारगर न हुआ तो किसानों ने सिंथेटिक पाइरेथ्राइड और ऑर्गेनोफॉस्फेट वर्ग की कीटनाशी दवाओं का मिश्रण इस्तेमाल करना शुरू किया। इससे प्रेरणा लेकर दवा-उद्योग इस तरह के तैयार शुदा रेडीमेड मिक्चर बाजार में ले आया, जिनमें कई दवाएं मिलाई होती थीं।

इस्तेमाल की सिफारिश करने के 15 साल बाद पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के विशेषज्ञ अपनी राज्य सरकार और भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद पर दबाव डालने लगे कि पाइरेथ्राइड दवाओं के इस्तेमाल पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी जाए। जो कभी किसानों का 'रक्षक' बनाकर बाजार में उतारा गया था, वही अब तक किसानों का सबसे बड़ा 'भक्षक' बन चुका था। पंजाब के किसानों ने सन् 1988 में कपास पर लगभग 3800 करोड़ रुपए की कीटनाशी दवाएं छिड़कीं। जब कि उन्होंने केवल 25,00 करोड़ रुपए की कमाई की।

अब वैज्ञानिक सिंथेटिक पाइरेथ्रोइड वर्ग की दवाओं के विकल्प खोजने में लगे हैं, जो और भी ज्यादा जहरीले और असरदार हों। कपास की फसल पर कीटनाशियों का कोई भी असर न होने के पिछले इतिहास से लगता है वैज्ञानिकों ने कोई सबक नहीं सीखा। अब वे जीनियोगरी से तैयार पराजीनी कपास के बीज अपनाने की सिफारिश कर रहे हैं। जब कि वे अच्छी तरह जानते हैं कि पराजीनी कपास के कीटरोधी जीन के प्रति भी कीटों में रोधिता विकसित होने में ज्यादा देर नहीं लगेगी और चंद सालों में पराजीनी कपास भी कीटव्याधियों के सामने घुटने टेक देगी।

क्या हमारा देश उन कृषि वैज्ञानिकों पर भरोसा कर सकता है, जो कीटनाशी दवा-उद्योग और अब बायोटेक कंपनियों के हाथों बिक चुके हैं? भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद कपास में कीट-नियंत्रण के प्राकृतिक उपायों के विकास, परीक्षण और प्रसार पर पूरा ध्यान लगाए, तो फिर कीटनाशी दवाओं और पराजीनी फसलों के दुश्चक्र में फंसने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। भारत के कपास-उत्पादकों की सहायता के लिए कृषि वैज्ञानिकों को बस दूरदर्शिता और प्रतिबद्धता की आवश्यकता है। कृषि वैज्ञानिकों को एक बार पुनः कटिबद्ध होकर किसानों की सेवा का संकल्प दुहराना होगा, ताकि कपास-उत्पादक 'विष-चक्र' के बाहर आकर चैन की सांस ले सकें। इण्डोनेशिया के पूर्व राष्ट्रपति सुहार्तो का उदाहरण हमारे सामने है, जिन्होंने राजनीतिक

दूरदर्शिता का परिचय देकर अपने किसानों को कीटनाशी दवाओं के विष-चक्र से मुक्त किया था।

समाधान है कीटनाशी-मुक्त कृषि

सन् 1986-87 में इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहार्तो ने जो कर दिखाया, वह भारत क्यों नहीं दुहरा सकता। हमारे यहां भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अधीन 'समेकित कीट नियंत्रण' (आइ.पी.एम) पर एक पूरा राष्ट्रीय अनुसंधान केन्द्र काम कर रहा है। साथ ही 'राष्ट्रीय कृषि प्रौद्योगिकी परियोजना' (एन.ए.टी.पी) के तहत आइ.पी.एम. का एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बड़े जोर-शोर से चलाया जा रहा है। हमारे यहां नीम जैसे प्राकृतिक कीटनाशी के पेड़ पूरे देश में उगे हुए हैं। फिर क्या बात है कि हम कीटों के नियंत्रण के गैर-रासायनिक उपाय नहीं अपना सकते हैं। असल में जहां हम आइ.पी.एम. के बारे में जन-चेतना जगाते और किसानों को इन उपायों को अपनाने के लिए उकसाने के प्रयास कर रहे हैं, वहीं हमें राष्ट्रपति सुहार्तो की तरह तमाम कीटनाशी रसायनों पर कड़ी पाबंदी भी लगानी चाहिए। असलियत यह है कि जिन कीटनाशी रसायनों को कैंसर-जनक होने के खतरे के कारण पूरी दुनिया में बंद किया गया है और भारत में भी उन पर रोक लगी है, वे भी हमारे देश में बेरोक टोक बन रहे हैं और बिक रहे हैं। सुहार्तो ने अपने देश में आइ.पी.एम. के प्रसार के लिए संयुक्त राष्ट्र की संस्था 'एफ.ए.ओ.' की मदद ली थी, हम भी ले सकते हैं। आइ.पी.एम. में हानिकारक कीटों के नियंत्रण के लिए जैव उपाय, कृषि विधियां और अत्यंत अल्प रासायनिक उपाय अपनाए जाते हैं। प्राकृतिक कीटनाशियों का अधिक उपयोग किया जाता है, जैसे कि नीम का। किसानों को कीटव्याधियों के दुश्मन कीड़े-मकोड़े पहचानना सिखाया जाता है और उनकी संख्या बढ़ाने के तरीके बताए जाते हैं। इस तरह मकड़ियां, पतंगे, गुबरैले, भौरे वगैरह ही किसान के दुश्मनों का सफाया कर डालते हैं। कुछ विषाणु (वायरस), जीवाणु (बैक्टीरिया) और फफूंदी (फंजाइ) भी हानिकारक कीटों को नष्ट करने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ये सब भारत के आइ.पी.एम - अभियान में अपनाए जा सकते हैं।

इंडोनेशिया में जब आइ.पी.एम का प्रचार हुआ तो वहां हर किसान को औसतन 4 डॉलर प्रति हैक्टर की बचत हुई, क्योंकि रासायनिक दवाएं नहीं खरीदनी पड़ी। साथ ही पर्यावरण शुद्ध हुआ, क्योंकि उसमें रासायनिक दवाओं का जहर नहीं फैला। भारत में तो हाल यह है कि वह कीटनाशी दवा बनाने वाली कंपनियों की विनती कर रहा है कि वे मेहरबानी करके अपने कारखाने बस्ती से बाहर ले जाएं। ये प्रयास भी भोपाल के भयानक जहरीली गैस कांड के बाद ही शुरू किए गए हैं। सन् 1992-93 में भारत में तकनीकी श्रेणी की 70,000 टन के करीब कीटनाशी दवाएं पैदा की गई थीं, जो 80,000 टन प्रति वर्ष तक जा पहुंचीं। भारत सरकार इस क्षेत्र में 7400 लाख डॉलर के पूंजीनिवेश के लिए लालायित है। दुनिया की बड़ी-बड़ी पेस्टीसाइड कंपनियां भारत में अपने कारखाने खोलना चाहती हैं। एक तो यहां मजदूर सस्ते हैं और दूसरे इस तरह के उद्योग देहात में लगाने पर करों में भारी छूट है।

बाहर से कीटनाशियों की जो प्रौद्योगिकी लाई जा रही है, वह बड़ी गई-गुजरी है! देखा गया कि 42 प्रतिशत प्रस्तावों में जो ट्रेडमार्क शामिल किए गए हैं उनकी मियाद विकसित देशों में निकल चुकी है। सो, अब वे यहां पटके जा रहे हैं। कोई 70 प्रतिशत दवाएं ऐसी लाई जा रही हैं, जिन पर पश्चिमी देशों में या तो पाबंदी लगी है, या फिर जिनका इस्तेमाल कुछ खास परिस्थितियों में ही किया जा सकता है। दुख की बात यह है कि भोपाल कांड के 12 साल बाद भी हम विषैले कृषि-रसायन निर्माताओं के लिए पलक-पांवड़े बिछाए उनकी अगवानी में हाथ जोड़ खड़े हैं।

दूसरी ओर कनाडा, इण्डोनेशिया, स्वीडन और नीदरलैण्ड सहित लगभग 23 देश कीटनाशी दवाओं का इस्तेमाल घटाने के कार्यक्रम चला रहे हैं। इनमें से नीदरलैण्ड का कार्यक्रम अधिक व्यापक और विस्तृत है। यहां की डच सरकार ने सन् 1990 में ही एक बहु-स्तरीय फसल-रक्षा योजना बनाई थी, जिसके अंतर्गत सन् 2000 तक कीटनाशी दवाओं का इस्तेमाल सन् 1990 के स्तर से आधा कर देने का लक्ष्य रखा गया है। इसके लिए सन् 1983-84 में इस्तेमाल की जा रही औसत वार्षिक मात्रा को आधारभूत माना गया था, जो कि सक्रिय अवयव के तौर पर 19950 टन थी। सन् 1993 में ही यहां पर कीटनाशी दवाओं का इस्तेमाल घटकर आधार-यात्रा का 40 प्रतिशत रह गया।

कीटनाशी दवाओं का इस्तेमाल घटाने के साथ-साथ डच किसानों को कीट-नियंत्रण के वैकल्पिक उपायों के बारे में शिक्षित भी किया गया। इस तरह आगे चलकर उन्हें फसलों की पैदावार बढ़ाने में कम से कम जोखिम उठाना पड़े। नीदरलैण्ड्स में कीटनाशियों का इस्तेमाल घटाने और वैकल्पिक उपाय अपनाने पर कुल खर्चा 1 अरब 30 करोड़ डालर कूता गया। इसमें से अधिकतर खर्च कीटनाशियों की बिक्री पर लगाए गए करों से पूरा किया गया। इसी आधार पर अनुसंधान की प्राथमिकताएं भी बदली गईं। इस तरह कीट-नियंत्रण के रासायनिक तरीकों की जगह गैर-रासायनिक तरीकों पर अधिक बल दिया गया, जो कि पर्यावरण के लिए भी हितैषी हैं और आर्थिक दृष्टि से भी सक्षम हैं।

हमारे देश में भी कपास-उत्पादकों की सुरक्षा का एक ही उपाय है कि कपास की फसल पर कीटनाशी दवा के छिड़काव पर पाबंदी लगा दी जाए। कपास कोई खाया तो नहीं जाता, इसलिए इसके कारण हमारी खाद्य-सुरक्षा खतरे में नहीं पड़ेगी। लेकिन जहां कीटनाशी दवाओं के छिड़काव पर पाबंदी लगे, वहीं कपास में कीटनियंत्रण के लिए 'आइ.पी.एम' के उपाय अपनाने का देशव्यापी अभियान भी छेड़ा जाए। इस बारे में भी सावधान रहा जाए कि कीटनाशी-दवा उद्योग का दबाव बढ़ेगा और वे हर तरह से सरकार के इस कदम का विरोध करेंगे। अगर राष्ट्रपति सुहार्तो अपने देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने नहीं झुके तो, हमारे देश के नेता इतने रीढ़-विहीन तो नहीं हैं कि किसानों के हितों की अनदेखी करके बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने घुटने टेक देंगे। आखिरकार भारत के विशाल कृषक समुदाय के जीवन-मरण का प्रश्न है यह।

आजादी के 50 वर्षों बाद भी देश का दुर्भाग्य है कि किसानों की जिंदगी में कोई खास अंतर नहीं आया है और अधिकतर किसान अब भी जैसे-तैसे गुजारा करने के लिए विवश हैं। स्वयं को भारत का 'प्रथम किसान' कहने वाले विनम्र प्रधानमंत्री देवगौड़ा ने भी किसानों के बारे में भौतिक चिंता व्यक्त करने के साथ केवल इतना किया कि राष्ट्रीय कृषि नीति गढ़ने के लिए कई समितियां बना दीं। पांच सालों में राष्ट्रीय कृषि नीति के दस मसौदे बने और वे कृषि मंत्रालय के ठंडे-बस्ते में पड़े धूल खाते रहे।

ऊपर से बड़े-बड़े अर्थशास्त्री कृषि अर्थशास्त्री का मुखौटे-लगाकर भारतीय कृषि को फिर से ऊंचाइयों पर चढ़ाने के सपने दिखाने में लग गए। तरह-तरह की सिफारिशें करने लगे। इन सब में यही कहा गया है कि भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में भारतीय कृषि को उभरती चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार किया जाए। हमारे गरीब किसान अमरीका और यूरोप के धन कुबेर किसानों का मुकाबला करें। कुछ तो यह भी सलाह देने लगे हैं कि खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता को बनाए रखने की जिद छोड़कर हम सस्ते में बाहर से अनाज मंगाने से भी गुरेज न करें। ये लोग इस बात को कभी खुलासा नहीं करते कि इस बदलते परिवेश में अगर उनकी सलाह मानी गई तो उन 56 करोड़ किसानों का क्या होगा, जो खेतीबाड़ी के सहारे ही जी रहे हैं।

कम निवेश वाली खेती

इस समय पश्चिमी देशों को अपनी हवा, पानी और मिट्टी में कीटनाशियों के अधिक उपयोग से हो रहे प्रदूषण की सबसे ज्यादा चिंता है। इसके साथ ही मानव-स्वास्थ्य पर जहरीले कीटनाशियों के बुरे असर के बारे में वहां की सरकारों पर जनता का दबाव बढ़ रहा है। अब वहां भी हरित-क्रांति के दिनों में छूटे फसल-रक्षा के प्राकृतिक उपायों को फिर से प्रचलित करने पर ध्यान दिया जा रहा है। सबसे पहले कम-निवेश वाली टिकाऊ खेती (LISA-Low-Input Sustainable Agriculture) अपनाने की शुरुआत अमरीका ने ही की थी। इसके लिए अनुसंधान का बजट ही 3000 लाख डालर रखा गया था। विश्व के सबसे अमीर व्यापारिक संघ- ओ.ई.सी.डी (ऑर्गनाइजेशन फॉर इकोनोमिक कोओपरेशन) ने भी अपने सदस्य देशों के लिए कीटनाशियों का इस्तेमाल कम करने की तीन-साला योजना चलाई।

भारत जैसे कृषि-आधारित देश में कीटनाशियों का इस्तेमाल घटाने के कार्यक्रम चलाना और भी जरूरी है, क्योंकि इससे न केवल खर्चा कम होगा, बल्कि पर्यावरण भी प्रदूषित होने से बचेगा। ग्रामीण पर्यावरण को विषैले कीटनाशी किस तरह प्रदूषित कर रहे हैं, इस बारे में दो वैज्ञानिक रिपोर्टों का हवाला देना काफी होगा। इस वैज्ञानिक सर्वेक्षण में हरियाणा और उत्तरप्रदेश में गांवों के तालाब और झीलें 'डी.डी.टी' और 'बी. एच.सी' से प्रदूषित पाए गए। मछलियों में इन दोनों ऑर्गेनोक्लोरीन यौगिकों की मात्रा पानी के प्रदूषण-स्तर से क्रमशः 5,066 और 10,847 गुना अधिक पाई गई। मछलियों के नमूनों में से एक-तिहाई में डी.डी.टी की मात्रा 5 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम के

अधिकतम अनुमत स्तर से बहुत ऊंची पाई गई। इन नमूनों में सबसे अधिक मात्रा 22 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम पाई गई। हमारे देश में अलाजों में और अन्य खाद्य-पदार्थों में कैंसर पैदा करने वाले कीटनाशी रसायनों के अवशेष तथा विषैली धातुओं के अवशेष प्रायः पाए गए हैं। अतः अपने देश में तो 'कीटनाशी नहीं' की नीति बहुत पहले शुरू कर देनी चाहिए थी।

कई बार यह तर्क दिया जाता है कि अभी तो भारत में प्रति हैक्टर कीटनाशी दवाओं की औसत खपत केवल 450 ग्राम है, जो कि अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसलिए कीटनाशियों का इस्तेमाल और भी बढ़ाना चाहिए। पूरे देश में कीटनाशियों का इस्तेमाल केवल 20 प्रतिशत कृषि-भूमि में ही किया जा रहा है। इसका मतलब यह हुआ कि जहां इनका ज्यादा इस्तेमाल किया जा रहा है, वहां औसत मात्रा से कम से कम दस गुना अधिक है। इस कारण मानव-स्वास्थ्य तथा पर्यावरण के लिए वहां कीटनाशियों का जहर पहले ही खतरा बन चुका है और नुकसान कर रहा है। उदाहरण के लिए देश के कई भागों में दूध की माफत ही लोग इतना डी.डी.टी पी रहे हैं, जो कि विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ) द्वारा तय की गई निरापद मात्रा से 14 गुनी अधिक है। बजाय इसके कि इस जहरीले रूख पर लगाम लगाए, सरकार कीटनाशी दवा कंपनियों को अपने कारखाने और बिक्री केन्द्र भारत में खोलने के लिए और यहां से कीटनाशी दवाओं का निर्यात करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है।

कीटनाशियों का इस्तेमाल कम करने में सरकारी कोताही का एक नतीजा यह हुआ है कि जिन कृषि-वस्तुओं को भारत से निर्यात किया जा रहा है, वे निर्यातक देशों से वापस लौटाई जा रही हैं, क्योंकि इनमें कीटनाशियों के अवशेष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से अधिक हैं। जर्मनी, इंग्लैण्ड और जापान जैसे अनेक निर्यातक देशों ने इस बारे में भारत को चेतावनी दी है कि भारतीय कृषि-वस्तुओं में कीटनाशियों के अवशेष जरूरत से ज्यादा अनुपात में पाए गए हैं। अगर साफ-सफाई वाले अंतर्राष्ट्रीय नियम आज से लागू कर दिए जाएं तो भारत से दूध और उससे बनी चीजें, उनमें मौजूद डी.डी.टी / बी.एच.सी अवशेषों के कारण अगले पांच सालों तक निर्यात नहीं की जा सकेंगी।

अतः भारत के पास बहुत कम विकल्प बचे हैं। हानिकर कीटनाशियों का इस्तेमाल कम करने के लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान तुरंत चलाना होगा। इसी के साथ रासायनिक दवाओं की जगह कीट-नियंत्रण के वैकल्पिक उपाय खोजने के लिए अनुसंधान और विकास के कार्यक्रमों में अधिक पूंजी लगानी होगी। किसान रासायनिक तरीके छोड़कर जैव-उपाय अपनाएं और कृषि-उत्पादन के पर्यावरण-हितैषी तरीकों को अपना सकें, इसके लिए उन्हें अनुदान तथा अन्य साधन देकर प्रोत्साहित करना होगा। तभी 'समेकित कीट प्रबंधन' (आई.पी.एम) का प्रसार होगा। इस तरह का व्यावहारिक कदम उठाने से कृषि के सामने खड़ी कुछ दीर्घकालिक समस्याओं से भी निपटा जा सकेगा और जहरीले रसायनों से देश को मुक्त किया जा सकेगा।

गन्ना—उत्पादन से सबक

यहां ठेके पर खेती का वही तरीका अपनाया जाए जो गन्ने की खेती के लिए अपनाया गया है, तो कृषि—उद्योग भी फलेगा—फूलेगा और किसान भी। कृषि लागत और मूल्य आयोग (सी.ए.सी.पी : कमीशन फॉर एग्रीकल्चुरल कोस्ट्स एण्ड प्राइसेज) हर साल गन्ने का समर्थन मूल्य तय करती है। फिर राज्य सरकार यह तय करती है कि चीनी मिलें किसानों को कितनी कीमत दें। अगर बाजार के भरोसे छोड़ दिया जाता तो गन्ना—उत्पादक विपत्तिजन्य बिक्री के समय सस्ते दामों पर गन्ना बेचने को मजबूर किए जाते और बरबाद हो जाते। एक बार किसानों को खेतों में खड़ा गन्ना जलाना पड़ा था। टमाटर के लिए सरकार कोई समर्थन मूल्य तय नहीं करती और पेप्सी फूड्स ने इसका नाजायज फायदा उठाया। कम्पनी ने किसानों से टमाटर एक रुपये प्रति किलो से भी कम भाव पर खरीदे, जब कि शहरों में टमाटर 8—10 रुपये किलो से 20—25 रूपए प्रति किलो बिकते रहे हैं।

अगर सरकार ने कोई ऐसी प्रक्रिया विकसित की होती कि खाद्य—व्यापारी बस 'खुशहाल दिनों' के साथी न बनकर किसान का हर हाल में साथ निभाएं तो अनुसंधान संगठन, निजी उद्योग और किसान इन तीनों का संगम आर्थिक उदारीकरण के लाभ वास्तव में किसानों और कृषि—उद्योगों को पहुंचा सकता है।

तम्बाकू : गलत प्राथमिकताएं

प्रधानमंत्री का पद त्यागने से कुछ महीने पहले श्री पी.वी. नरसिंह राव ने कुछ कृषि—विशेषज्ञों को बुलाकर यह सलाह मांगी भी कि वे तम्बाकू की फसल का कोई विकल्प सुझाएं। पूर्व प्रधानमंत्री को यह चिंता सता रही थी कि सिगरेट पीने से होने वाले स्वास्थ्य संबंधी नुकसान और कैंसर तथा हृदय रोगों में तंबाकू की भूमिका स्पष्ट होने से सारी दुनिया में तंबाकू का इस्तेमाल कम हो रहा है। भारत में सबसे ज्यादा तंबाकू आन्ध्रप्रदेश में पैदा की जाती है इसलिए वहां के लाखों किसानों की रोजी—रोटी खतरे में पड़ गई है, क्योंकि तंबाकू का निर्यात बराबर घटता जा रहा है।

श्री नरसिंह राव के साथ कृषि—वैज्ञानिकों की बैठक कोई दो घंटे तक चली। इसमें तम्बाकू—उत्पादकों की मदद के लिए फसलों के कई तरह के मिश्रण सोचे गए। आठवीं पंचवर्षीय योजना में पहले ही यह फैसला कर लिया गया था कि तंबाकू की खेती कम करते—करते अंत में सन् 2000 तक बिल्कुल बंद कर दी जाएगी। बैठक में यह तय किया गया कि एक विशेषज्ञ—दल गठित किया जाए, जो तम्बाकू—उत्पादकों को इस संकट से उबारने का रास्ता बताए। एक ऐसा फसल—क्रम सोचा जाए जिससे किसानों को ज्यादा नहीं तो उतनी आमदनी जरूर होती रहे, जितनी कि तम्बाकू उगाने से होती है। इसके पांच साल बाद भाजपा—गठबंधन ने उन सब प्रयासों को ताख में रखकर एक आसान तरीका निकाल लिया कि सिगरेट—निर्माण का काम विदेशी मालिकों को सौंप दिया जाए।

ऐसे समय में जब दुनिया तम्बाकू से छुटकारा पाना चाहती है, इससे बुरी बात और क्या होगी कि सिगरेट बनाने वाली बड़ी-बड़ी दानवाकार कंपनियों को अपने उद्योग पश्चिमी देशों की बजाय भारत में लगाने का निमंत्रण दिया जाए। पहले यही साजिश कीटनाशी दवाओं के निर्माण में की गई थी कि बड़ी-बड़ी नामी कंपनियां को भारत में ही जहरीली कीटनाशी दवाएं बनाने के कारखाने खोलने की अनुमति दी गई। नतीजा हुआ भोपाल गैस काण्ड। उसके बाद बाहर से जहरीला और खतरनाक छीजन भारत में पटकने के रास्ते खोले गए। उसके बाद मोटरकार-उद्योग की चाबी विदेशी कंपनियों को सौंप दी गई। इस तरह भारत उन तमाम उद्योगों और कारखानों के लिए स्वर्ग बन गया है, जिन्हें पश्चिमी देश अपना पर्यावरण शुद्ध रखने के उद्देश्य से वहां से भगा रहे हैं। सिगरेट-उद्योग सबसे ज्यादा प्रदूषण पैदा करता है, लेकिन जब आन्ध्रप्रदेश के प्रचार-प्रिय मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू ने भी अपना वजन उधर ही डाल दिया तो फिर क्या था, विदेशी-पूंजी निवेश के लालच के नीचे नागरिकों के स्वास्थ्य पर्यावरण और प्रदूषण संबंधी सभी चिंताएं दब गईं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने हिसाब लगाया है कि हर साल 35 लाख लोग तम्बाकू के कारण पैदा होने वाली बीमारियों से जान गंवाते हैं। भारत में हर साल होने वाली 635000 मौतें तम्बाकू से जुड़ी हैं। सबसे बड़ी चिंता इस बात की है कि भारत के नौजवानों में तम्बाकू का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। आकर्षक विज्ञापनों से सिगरेट पीने और गुटखा खाने को मर्दानगी से जोड़ दिया गया है, जबकि असलियत यह है कि तम्बाकू मर्दानगी कम करती है, शुक्राणु की संख्या घटाती है और चेहरे को भी बदशकल कर देती है। ऊपर से फेफड़े और गले का कैंसर, हृदय रोग और सांस के तमाम विकार सीधे तम्बाकू से जुड़े हैं। एम्फीसीमा नामक फेफड़ों की बीमारी में तो सिगरेट पीने वाला इतना कमजोर हो जाता है कि फूंक मार कर माचिस की जलती तीली भी नहीं बुझा सकता। वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चला है कि धूम्रपान से परहेज रखने वालों की तुलना में 35 से 69 साल की उम्र की बीच धूम्रपान करने वालों की मौत के आसार तिगुने हैं।

इन तमाम तथ्यों से आंखें फेरकर सरकार ब्रिटेन के सिगरेट-सम्राट रोथमान्स को भारत में 15 करोड़ डालर की सिगरेट बनाने की कम्पनी खोलने की इजाजत देने पर तुली हुई हैं। एशिया के बड़े बाजार पर केवल इसी सिगरेट कम्पनी की निगाहें नहीं, बल्कि दूसरों की निगाहें भी अटकी हैं। आगामी वर्षों में लगभग सभी बड़ी-बड़ी सिगरेट-कंपनियां अपने कारखाने विकासशील देशों में उठा लाएंगीं। यही कारण है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने चेतावनी दी है कि सन् 2020 तक तम्बाकू से जुड़ी 100 लाख मौतों में से 70 लाख विकासशील देशों में होंगीं। इन देशों में प्रतिव्यक्ति सिगरेट की खपत 1970 के मुकाबले 1990 में 64 प्रतिशत बढ़ चुकी थी और अब 2002 में तो यह आंकड़ा और भी ऊंचा चढ़ गया होगा।

ये बड़ी-बड़ी सिगरेट कंपनियां आखिरकार भारत में अपने कारखाने क्यों खोलना चाहती हैं? इसका सबसे बड़ा कारण है यहां पर तम्बाकू की खेती, जो उन्हें बेहद सस्ता कच्चा माल यानी तम्बाकू उपलब्ध कराती है। भारत दुनिया में तम्बाकू का तीसरा

सबसे बड़ा उत्पादक है और वह भी सबसे सस्ता। इसलिए यहां सिगरेट बनाना सबसे मुनाफ़े का सौदा होगा। तम्बाकू का 18 प्रतिशत ही सिगरेट बनाने में खपता है। बाकी में से 50 प्रतिशत बीड़ी बनाने में और शेष खाने और चबाने के काम आता है। लेकिन सिगरेट निर्माता जानते हैं कि शानदार विज्ञापनों से मध्यवर्ग के धनी-मानी परिवारों में और देहातों में सिगरेट की बिक्री बढ़ाई जा सकती है। इसके लिए वे लोकप्रिय फिल्मी सितारों की मदद लेते हैं और फिल्मों में जानबूझकर हीरो को और अब तो हीरोइनों को भी सिगरेट पीते दिखाया जाता है।

इधर पश्चिमी देशों में सिगरेट के खिलाफ जनता उठखड़ी हुई है। कैंसर से मरने वालों के परिवारों ने सिगरेट कंपनियों के विरोध में मुहिम छेड़ी हुई है। सिगरेट बनाने और बेचने पर तमाम तरह के टैक्स लगाकर बहां की सरकारें भी जनता का साथ दे रही हैं। अखबारों, सिनेमाघरों और टेलीविजन जैसे तमाम संचार माध्यमों में सिगरेट के विज्ञापनों पर रोक लगी हुई है। बसों, ट्रामों, रेलगाड़ियों और सार्वजनिक स्थानों में धूम्रपान पर, दिखावे की नहीं असली पाबंदी है। कानून तोड़ने वालों पर भारी जुर्माने किए जाते हैं और सजा दी जाती है। इन विकसित देशों में धूम्रपान से होने वाले नुकसानों का भी प्रचार किया जाता है। जब उन्होंने सिगरेट पीने वालों के धुएं से आसपास के लोगों खासतौर से बच्चों और गर्भवती स्त्रियों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का जोरदार प्रचार किया तो उसका बड़ा भारी असर पड़ा। बच्चे ही अपने मां-बाप को डांटने लग गए कि आपको हमारी जान की परवाह नहीं है। सिगरेट पीने वाले पतियों को उनकी पत्नियां तलाक देने के लिए भी तैयार हो गईं। अनेक विकासशील देश भी सिगरेट और तम्बाकू के हानिकारक प्रभावों से अपने नागरिकों को बचाने के लिए आवश्यक कदम उठा रहे हैं। हमारी सरकार ने भी सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान पर पाबंदी लगाई है। सिगरेट के पैकेटों पर वैधानिक चेतावनी भी छपी जाती है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। लेकिन इस तरह कि आप ठीक से पढ़ भी न पाएं। अब क्रिकेट जैसे खेलों का प्रायोजन सिगरेट कंपनियां नहीं कर सकतीं। लेकिन ये कंपनियां इतनी चालाक हैं कि हर कानून में सेंध लगाने की जुगत निकाल ही लेती हैं। कानून लागू करने वाली मशीनरी ही इतनी भ्रष्ट है कि ऐसे कानून बस कागज पर ही लागू होकर रह जाते हैं। पिछले दिनों श्री लंका ने अपने देश में सिगरेट के विज्ञापन और बिलबोर्ड पर पाबंदी लगाई तो इतनी कड़ाई से कि अब वहां कहीं भी सिगरेट के विज्ञापन नजर नहीं आते। जबकि अपने देश में दिल्ली के निकट गाजियाबाद में बड़े-बड़े होर्डिंग ऐसा माहौल पैदा करते हैं, मानो सिगरेट के बिना जिंदगी बेकार है। दूसरे शहरों और कस्बों का भी यही हाल है।

दूसरी ओर विकसित देशों में सिगरेट विरोधी अभियानों में बड़ी-बड़ी नामी-गरामी हस्तियां बढ़चढ़ कर भाग ले रही हैं। इनमें फिल्मी सितारे और खेल-जगत के लोकप्रिय सितारे शामिल हैं। जबकि इसके उलट अपने देश में तो चाहे फिल्मी सितारे हों या नामी खिलाड़ी सिगरेट, जूते और मीठे पेय सब बेचने को तैयार हैं। हाल में बैडमिंटन के खिलाड़ी गोपीचन्द्र पुलेला का एकमात्र उदाहरण है, जिसने ऐसे विज्ञापनों में शामिल होने से इंकार किया। जो सिगरेट के विज्ञापनों को बढ़ावा देते हैं और उनके

प्रचारक बनते हैं, वे भी उसके कारण होने वाली मौतों के उतने ही जिम्मेदार हैं जितने कि सिगरेट-निर्माता।

अमरीका में तो एक सिगरेट-निर्माता कम्पनी को कैंसर-रोगियों के परिवारों द्वारा ठोंके गये मुकदमें में हारने के बाद अरबों डालर हर्जाने के तौर पर देने पड़ गए। अपने देश में तो कंपनियां इतनी चालाक और शातिर हैं कि किसी को भी खरीद सकती हैं। इसके चलते "हम सबके लिए स्वास्थ्य" का सपना कभी साकार नहीं कर पाएंगे। तम्बाकू का धूम्रपान, गुटखा और अन्य तरह से उपयोग जारी रहा तो स्वास्थ्य और पर्यावरण के साथ ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और विकास पर भी बुरा असर पड़ेगा। जब अर्थशास्त्री तम्बाकू से कमाई के आंकड़े गिनाते हैं तो उसमें तम्बाकू से होने वाली मौतों का हिसाब नहीं लगाते।

3. केवल गरीबी ही टिकाऊ है

नरोटिया देवी भारत के करोड़ों गरीबों में से एक गरीब महिला है। दूसरों की तरह उसने भी हर हाल में जीना सीख लिया है। बिहार की एक आदिवासी बस्ती में जब मैं उससे पहली बार मिला, तो मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पलामू जिले में फैली बेहद गरीबी से मैं तनिक भी विचलित नहीं हुआ था। शहरों में रहने वाले तथाकथित सम्भ्रान्तों और शिक्षितों की तरह गरीब और दलितों को समाज के एक आवश्यक अंग के रूप में भी अंगीकार कर चुका था। अब गरीबी या भुखमरी हमारे भीतर कोई करुणा नहीं उपजाते।

लेकिन उस दिन मैं सचमुच द्रवित हो उठा था। नरोटिया देवी तीन दिन से भूखी थीं। उनके पेट में अन्न का एक भी दाना नहीं गया था। कड़ी धूप में खेतों में काम करते हुए भूखे रहना! मगर उसने बताया कि उस जैसी महिला के लिए हफ्ते में कुछ दिन भूखे रहना आम बात है। भूखे पेट ये औरतें खेतीबाड़ी की कड़ी मशक्कत का काम कैसे कर लेती हैं?

जब मैंने नरोटिया देवी से यह सवाल किया तो वह हंसने लगी। तब उसने मुझे एक जड़ी दिखाई— गेंठी। दो-तीन दिन तक नरोटिया इसी का सेवन करती है। लेकिन उसने मुझे जो नहीं बताया या शायद वह जानती नहीं, वह थी यह बात कि गेंठी ऐसी जड़ी है, जो भूख मार देती है। गेंठी खाने के बाद उसे भूख लगती ही नहीं।

यहां से दूर पश्चिम उड़ीसा के कालाहांडी जिले में, मैं ऐसे अनेक लोगों से मिला जो कम से कम पिछली दो पीढ़ियों से बंधुआ मजदूर हैं। मैंने उनसे बहुत कहा कि वे बंधुआ मजदूरी छोड़ क्यों नहीं देते। तो उन्होंने मेरी बात हंसी में उड़ा दी। आखिर क्यों? क्यों नहीं चाहते ये गरीब लोग आजाद होना? क्या उन्हें यह अहसास नहीं है कि वे गुलामी की जिंदगी जी रहे हैं। पूरी जिंदगी ही साहूकार के हाथों गिरवी रख दी है इन लोगों ने।

उन्होंने कहा कि उन्हें ये लंबे-लंबे भाषण पसंद नहीं हैं; “हमें तो पेट भरना है, हमें तो जीना है — हर रोज। बंधुआ-मजदूरी हमारा जीवन-बीमा है। यह हमें जीविका-सुरक्षा देती है और खाद्य सुरक्षा।” अब बताइए, हमारे पास क्या जवाब है, इन गरीबों की इस दलील का।

पहले भुखमरी के लिए बिहार का पलामू और उड़ीसा का कालाहांडी ही मशहूर थे। जैसा कि मैंने पहले कहा, अब इनमें उत्तर प्रदेश का बुंदेलखण्ड — क्षेत्र भी शामिल हो

गया है। धीरे-धीरे भूख और भुखमरी हर जगह अपने पांव पसार रही है। जिस देश का जनतंत्र में दृढ़ विश्वास और आस्था रही हो, उस देश में इस तरह की बेचैन कर देने वाली हालत पैदा हो जाए, यह उस राजनीतिक प्रणाली पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देती है, जिसके चलते गरीबी घटने की बजाय असलियत में बढ़ रही है। हालात इस कड़ुई सच्चाई को भी उजागर कर देते हैं कि इस देश के बुद्धिजीवी, शिक्षित और विशाल मध्यवर्ग का गरीबी के बारे में कितना उथला सोच है। अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी गरीबों की दुर्दशा को उनके पूर्वजन्म के पापों का फल बताकर उनकी खिल्ली उड़ाते हैं।

राजनीतिक दृष्टि से तो चाहे वह स्व. श्रीमती इंदिरा गांधी का बीस सूत्री कार्यक्रम रहा हो, या संयुक्त मोर्चे का सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम या बी.जे.पी के गठबंधन का राष्ट्रीय एजेंडा, सभी में गरीबी हटाने के वायदे किए गए हैं। हर सरकार बारी-बारी से यह वायदा दुहराती रही और आती-जाती रही, जबकि गरीबी वहीं जमी रही, हटी नहीं। भारतीय जनता पार्टी भी इसका अपवाद नहीं है। श्रीमती इंदिरा गांधी का 'गरीबी हटाओ' का नारा, श्री राजीव गांधी का देश को 21 वीं सदी में ले जाने का दुखद प्रयास, श्री नरसिंह राव की 'नीचे तक विकास टपकाने' की थ्योरी, और श्री अटल बिहारी वाजपेयी का 'अगले दस साल में गरीबी मिटाने का संकल्प', सबने गरीबी के उन्मूलन का सपना दिखाया। फिर भी विश्व के सबसे बड़े गणतंत्र के माथे पर दुनिया में सबसे ज्यादा गरीबी का कलंक लगा हुआ है, जहां गरीबों की संख्या 32 करोड़ कूती गई है। हालांकि ताजा आंकड़ों में गरीबों की संख्या घटाकर 26 करोड़ कर दी गई है, लेकिन इन आंकड़ों की सचाई अभी जांचनी पड़ेगी।

ग्रामीण क्षेत्र और शहरी झोंपड़पट्टियों के प्रति इतनी लापरवाही है कि भूख और कुपोषण से जुड़ी बीमारियों से हर रोज औसतन 5000 बच्चों की मौत हो जाती है। जिस देश में आधी से ज्यादा आबादी की आमदनी दिन भर में एक डालर (लगभग 45 रुपये) से भी कम हो। जहां अभागी औरतों और बच्चों को दिन में 15-15 घंटों तक खटना पड़े और शारीरिक तथा यौन-प्रताड़ना भी झेलनी पड़े, वहां के गरीबों की हालत सोचकर ही मन कांप उठता है। बंधुआ मजदूरों की हालत तो जानवरों से भी बदतर है।

भारत ही नहीं, कमोबेश यही हालत दक्षिण एशिया के सभी देशों की है। सन् 1997 की दक्षिण एशिया की मानव-विकास रिपोर्ट में यह नतीजा निकाला गया है कि इन देशों में लगभग साढ़े तेरह करोड़ लोगों के पास बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएं नहीं हैं। साढ़े बाईस करोड़ के करीब ऐसे लोग हैं, जो शुद्ध पेय जल से वंचित हैं। भारत की आबादी में आधे वयस्क ऐसे हैं, जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते और करीब 70 फीसदी लोग ऐसे हैं जिनके पास शौचालय वगैरह नहीं हैं। ऊपर से बाढ़-सूखा-तूफान-भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदाएं हर साल इनकी मुसीबतें बढ़ाती रहती हैं। उत्तर-पूर्व भारत में एक बार भयंकर बाढ़ आई तो कोई 2000 लोग बह गए और दो करोड़ के करीब बेघर और बेसहारा हो गए। अर्थशास्त्रियों की नई पौध को इनके दुखदर्द का अंदाजा नहीं हो सकता कि विकास के नाम पर अपनी जड़ों से उखड़े और टूटे लोग किस तरह पानी से बाहर छोड़ी गई मछलियों की तरह तड़पते रहते हैं।

नौवीं पंचवर्षीय योजना खत्म होने को है, लेकिन कृषि में वृद्धि-दर बढ़ने के बजाय घटी है और गरीबी बढ़ी है। बेरोजगारी और आधे-अधूरे रोजगार ने नौजवानों को नशे और अपराध के गड्ढे में धकेल दिया है। बेहद गरीब और भूखों की गिनती लगातार बढ़ती जा रही है। आर्थिक सुधारों ने और कोई विकास किया भी हो, मगर रोजगार के मौके कतई नहीं बढ़ाए। हां, घटाए जरूर हैं। देश की नीतियों और नियोजन में कहीं न कहीं कोई भारी गलती रह गई है। एक ओर सुधारों के हिमायती दबाव डाल रहे हैं तथा दूसरी ओर घोर समाजवादी और सरकारी क्षेत्र के विश्वासपात्र। दोनों पाटन के बीच में पिस रही है गरीब जनता और आर्थिक विकास के तमाम नुस्खे एक के बाद एक बेअसर साबित हो रहे हैं।

असफलता की खिचड़ी

पिछली भूलों से सबक लेने के लिए आइए देखें कि जब हर्षद मेहता (अब स्वर्गीय) के घपले ने (न कि मनमोहन सिंह के आर्थिक सुधारों ने) शेयरों के भाव आसमान पर चढ़ा दिए थे, तो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री नरसिंह राव गरीबी क्यों नहीं हटा पाए। उस समय प्रणव मुकर्जी योजना आयोग के उपाध्यक्ष हुआ करते थे। उन्होंने न जाने कहां-कहां के कुलाबे भिड़ाकर यह नतीजा निकाल फेंका कि देश में 20 प्रतिशत गरीबी घट गई है। अगर कहीं श्री मुकर्जी पांच साल और योजना आयोग के अध्यक्ष रह जाते तो शायद भारत से गरीबी गायब ही हो जाती।

श्री देवगौड़ा प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने तो बस यही किया कि कुछ धनी-मानी किसानों के हितों की रक्षा की, जो व्यापारिक कृषि में मग्न थे। उनके कार्यकाल में बस इन्हीं की परवाह की गई और उन 50 करोड़ के करीब किसानों को भुला दिया गया जो हर तरह की मुसीबतों और जोखिमों का सामना करते हुए अपनी कड़ी मेहनत और पक्के इरादे के बूते जैसे-तैसे गुजारा कर रहे हैं। उनके प्रचार-प्रिय वित्तमंत्री श्री पी. चिदम्बरम् अपने सपनीले बजट को बड़े गाजे-बाजे के साथ पेश करते समय यह भुला बैठे कि विकास का अर्थ है पूरे समाज का विकास न कि केवल अर्थव्यवस्था सुधारना और उसके केन्द्र में होती है जनता। ये दोनों ही गरीबों को दरिद्रता और वंचना के भंवर से बाहर नहीं निकाल पाए। अगर आज दोनों देश के राजनीतिक मानचित्र में अप्रासंगिक हो चुके हैं, तो इस पर कम से कम गरीबों को तो आंसू बहाने की कोई जरूरत नहीं है।

ऐसे समय में जब शब्दजाल और सांख्यिकी ने मानवीय करुणा को सुखा डाला हो और गरीब और भूखे लोगों की कतारें सचमुच बढ़ती ही जा रही हों, तो कम से कम इतना तो साफ हो ही जाता है कि कहीं न कहीं भारी गलती हुई है और हो रही है। यह तो स्पष्ट ही है कि गरीबों को वित्तीय वृद्धि के आंकड़ों से कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो सिर पर छत और पेट में दाल-भात चाहिए, बस! पूंजी-खाते की परिवर्तनीयता से उनका कोई सरोकार नहीं है। उन्हें तो शुद्ध पेय जल की दरकार है। आप अपने क्रेडिट कार्ड अपने पास रखिए, गरीबों को तो बस माइक्रो क्रेडिट दिला दीजिए- चंद

हजार रूपए, ताकि वह अपना काम—धंधा ठीक से चला सकें। इसकी बजाय हो यह रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों से पूंजी शहरों की ओर खिंची आ रही है। पहले से कमजोर कृषि ढांचे को, रही—सही पूंजी खींचकर और भी कमजोर बनाया जा रहा है, ताकि पहले से मजबूत शहरी ढांचा और भी मजबूत हो जाए। गरीबों को तो रामभरोसे छोड़ दिया गया है, इस का भरोसा देकर कि एक दिन वे भी अमीरों जैसी चमक—दमक नहीं, तो उसकी परछाईं तो पा ही सकेंगे।

लगता है अब तक हम जिस आर्थिक नियोजन से गरीबी हटाने के सपने दिखा रहे थे, उसमें मुख्य रूप से आर्थिक वृद्धि के लक्ष्य निर्धारित करते रहे और गरीबी और गरीब उसके केन्द्र से बाहर निकल गए। हम कितने ही जोर शोर से संसाधनों के बंटवारे में लगे रहें, या फिर उन तकनीकी चमत्कारों की तुलना करते रहें जो जादुई उंडा घुमाकर आर्थिक विकास फैला देंगे इन टोने—टोटकों से देश की गरीबी नहीं उड़ेगी। उन तमाम अर्थशास्त्रियों के हाथ जोड़ते हुए हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि भले ही उन्होंने गरीबी की रेखा तय करने में कितना ही पसीना बहाया हो, गरीबी के बीजगणित का समीकरण अब भी निशाने से बड़ी दूर है। इनके हिसाब से देश की जनसंख्या का 36 प्रतिशत 264 रूपए महीने से कम आमदनी लेकर गरीबी की रेखा के नीचे जी रहा है। लेकिन जो 300 रूपए से 1000 रूपए महीने कमा पाते हैं, क्या वे गरीबी की रेखा के नीचे नहीं जी रहे? क्या उन्हें गरीबी के दुश्चक्र से ऊपर उठाने की जरूरत नहीं है! या फिर हमारे नीति—नियामक यह स्वीकार करने में शरमाते हैं कि गरीबी की वास्तविक रेखा काफी ऊंची है और उसके कारण उन्हें अपनी झेंप मिटानी मुश्किल हो जाएगी।

आर्थिक वृद्धि की कीमत

जब चुनावी वायदों को निभाने का मौका आता है और उसमें सबसे बड़ा वायदा होता है गरीबी हटाने का, लेकिन कुर्सी मिलते ही हमारे राजनेता गरीबों को भूल जाते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था को भूमण्डलीय बाजारों से जोड़ने के कुलाबे भिड़ते समय इन नेताओं की सिट्टी—पिट्टी गुम हो जाती है। बेचारे असहाय महसूस करते हैं। उस समय उनके पास एक ही दलील होती है कि गरीबों को बाजार के भरोसे छोड़ देने से अगर थोड़ी—बहुत गरीबी बढ़ भी जाए, तो क्या हुआ, दीर्घकालीन स्थायित्व और आर्थिक वृद्धि की इतनी कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी। जैसा कि पश्चिम अर्थ—गुरु नोम चोम्स्की ने कहा है “जो देश आर्थिक विकास करना चाहता है उसे आर्थिक विवेक की अग्निपरिक्षा से तो गुजरना ही पड़ेगा”। इसका वे ‘टफ लव’ यानी “कठिन प्यार” कहते हैं, जिसमें तलवार की धार पर चलना पड़े तो कोई बुरी बात नहीं है। असल में इसका मतलब है अमीरों और साधन—सम्पन्नों से प्यार और बाकी सब को फटकार!

हम बड़े कड़े वक्त से गुजर रहे हैं और अर्थगुरु मंत्र देते हैं कि ऐसे कठिन समय में सब को अपनी—अपनी पेट्टी कसने की जरूरत है। सचाई यह है कि देश में पूंजी की कोई कमी नहीं है। अमीरों के मुनाफे बढ़ते ही जा रहे हैं और उद्योग—जगत की तिजोरियां भरी पड़ी हैं। जनता का धन बटोर कर इन्हीं अमीरों के कृषि—व्यापार को

बढ़ाने में गंवाया जा रहा है। वे कह रहे हैं कि कुत्तों के भोजन की फैक्टरी लगाओ! फूलों का व्यापारिक उत्पादन करो! गेहूं की जगह गुलाब उगाओ! सत्तू की जगह कुत्तों के बिस्कुट पैदा करो! वाह री हमारी प्राथमिकताएं! कटे फूल बेचने पर 130 अमरीकी डालर प्रति हैक्टर खर्च करके केवल 34 डालर प्रति हैक्टर कमाने में हमारे आर्थिक लक्ष्य आड़े, नहीं आते! हमें इसका भी कोई खेद नहीं है कि हम अपना सबसे अच्छी किस्म का खाद्यान्न तो बाहर निर्यात कर दें और बाहर से तमाम कंपनियों को वहां फेंकी जाने वाली मुर्गे की टांगें लाने दे और 'रद्दी भोजन' के रेस्त्राओं की श्रृंखला खोलने दें जो पेट भी खराब करें और जेब भी काटें! लेकिन जब भूखों तक भोजन पहुंचाने का सवाल उठाया जाता है तो तमाम वित्तीय बाधाएं खड़ी हो जाती हैं।

जहां तक देश की वित्तीय व्यवस्था और स्थिति का प्रश्न है, हमारे अखबारों की सुर्खियों में जो कुछ नजर आता है, वह किसी भी विवेकशील, स्वतंत्र और जनतांत्रिक समाज को हिला देने के लिए काफी है। जब सन् 1991 में उदारीकरण की गाज इस देश पर गिरी, तभी से हर साल के वार्षिक बजटों से जो अर्थव्यवस्था टपकी है उसके नजारे ही नजर को चौंधिया देते हैं। जो वित्तीय नीतियां अपनाई गईं उनमें करों के बोझ को लेकर सुधारमूलक प्रतिगामी यानी पीछे लौटाने वाले कदम उठाना शामिल है। जिसका मतलब यह हुआ कि अमीरों पर तो करों का बोझ घटे और गरीबों को ज्यादा टैक्स देना पड़े। कामगारों और नौकरीपेशा लोगों को घर से कारखाने या दफ्तर तक पहुंचने का खर्चा उठाना पड़ता है, जो बराबर बढ़ रहा है। फल-सब्जी और खाने-पीने की दूसरी चीजें भी उपभोक्ताओं को लगातार मंहगे दामों पर मिल रही हैं। स्कूलों में बच्चों की फीस लगातार बढ़ाई जा रही है। बिजली और पानी के बिल बराबर बढ़ते जा रहे हैं। जनता की जरूरतें पूरी करने वाले कामों के लिए बजट में बराबर कटौती की जा रही है। यहां तक कि अपना पेट काट कर गरीब लोग जो बचत करते थे और बचत-योजनाओं में पैसा लगाते थे, उस पर सरकार ब्याज की राशि बराबर घटाती जा रही है। जाहिर है कि इस तरह की वित्तीय नीतियों की मार सबसे ज्यादा समाज के गरीब तबके को ही झेलनी पड़ेगी।

अगर आप आज के नवोद्घा अर्थशास्त्रियों से पूछें तो वे कहेंगे कि यह सब तो गरीबों के भले के लिए किया जा रहा है। आखिर गरीब लोग जाएं भी तो कहां? इन आर्थिक सुधारों का फायदा उठाकर मौज-मस्ती कर रहे अमीरों के शहरी कारखानों में पिसना ही गरीबों की किस्मत में आजादी से पहले भी लिखा था और वही उन्हें आजादी के बाद भी करना पड़ रहा है। लम्बी-चौड़ी सड़कों और सजे-धजे पुलों पर दौड़ती एक से एक आलीशान कारों के काफिले हमारी आंखें चौंधिया देते हैं। लेकिन इन्हीं सड़कों के किनारे पटरियों पर जिंदगी गुजारते गरीबों की दुर्दशा पर अब हमारी आंखें गीली भी नहीं होतीं। यही तो है दरिद्रता की त्रासदी। हम विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के कहे पर इसी तरह चले तो गरीबी पूरी तरह टिकाऊ साबित होगी।

चुनौती है गरीबी

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी) की ओर से हर साल विश्व के विकास पर एक रिपोर्ट छापी जाती है। पाकिस्तान के भूतपूर्व वित्तमंत्री महबूब-उल-हक बाद में यू.एन.डी.पी के बैंकाक स्थित दक्षिण एशियाई कार्यालय में सहायक महानिदेशक थे। अब वे इस संसार में नहीं हैं। लेकिन एक अच्छा काम कर गए कि उन्होंने विकास नापने के पैमाने बदले। हक साहब के जमाने में छपी यू.एन.डी.पी की रिपोर्ट में लिखा गया था कि "हमें यह सीख दी गई कि सभी देश बस अपने जी.डी.पी यानी ग्राँस डोमेस्टिक प्रोडक्ट अर्थात् सकल घरेलू उत्पाद की चिंता कर लिया करें तो गरीबी की चिंता अपने आप दूर हो जाएगी। लेकिन अब हमें यह सीख भूल कर इसे उलटना होगा। हमें गरीबी की चिंता करनी है, और उससे जी.डी.पी अपने-आप सुधर जाएगा।"

विश्व बैंक की रिपोर्ट भी कभी-कभी सचाई छुपा नहीं पाती। उसमें भारत के बारे में कहा गया कि "भारत के सबसे बड़े और सबसे गरीब राज्यों में मानव विकास के सूचकों की प्रगति भी बेहद पिछड़ी रही है। खासतौर से कृषि के क्षेत्र में कम विकास हुआ है। यदि यही हाल बना रहा तो इन राज्यों में आगे जो भी विकास होगा, उसमें गरीबों की भागीदारी नहीं हो सकेगी।"

महबूब-उल-हक भी जब पाकिस्तान में वित्तमंत्री थे, तो उनका सोच दूसरा था। उस समय वे यह सोचते थे कि असली विकास का मतलब है कि बचत बढ़े और विदेशी पूंजी का निवेश बढ़े। जब सन् साठादिक में वे सत्ता में थे तो उन्होंने पाकिस्तान का जी.डी.पी सात प्रतिशत तक बढ़ा दिया था "लेकिन फिर भी लोगों ने हमें वोट नहीं दिए", बाद में उन्होंने मुझ से शिकायत करते हुए कहा था "लेकिन तब तक मुझे समझ आ गई थी कि हमसे गलती हुई थी। असल में आर्थिक विकास जरूरी नहीं कि मानव-विकास का सूचक हो। बल्कि है ही नहीं।"

भारत में आर्थिक सुधारों का ढोल पीटने वाले चाहे डा. मनमोहन सिंह हों या श्री पी.चिदम्बरम। दोनों ने अपने वित्त-मंत्री-काल में अपनी आर्थिक-नीतियों से केवल आर्थिक विषमता बढ़ाई। अब तो विश्व बैंक भी मानता है कि उदारीकरण के बाद भारत और उस जैसे अन्य विकासशील देशों में गरीबी बढ़ी है। इसलिए हमें आर्थिक सुधारों और उदारीकरण की भ्रामक नीतियों को छोड़ना होगा।

अगर कुछ दूसरे देशों में जी.डी.पी बढ़ाने के मोह का असर परखें तो हमारी आंखें खुल जाएंगीं। यों तो कई दशक पहले 'द न्यू रिपब्लिक' में लिखते हुए 'साइमन कजनेट' ने अल्प-विकसित अर्थव्यवस्थाओं में जी.डी.पी बढ़ाने को विकास का पैमाना मानने की व्यर्थता जताई थी। इन अल्पविकसित देशों में कुटीर-उद्योग घरेलू स्तर पर जो पैदावार करते हैं, वह कभी जी.डी.पी में शामिल ही नहीं होती। फिर भी मुख्यधारा वाले अर्थशास्त्री इस तथ्य को नकारते रहे कि जी.डी.पी केवल यह बताता है कि कितना पैसा एक हाथ से दूसरे हाथ में गया। वह विकास का पैमाना नहीं है। ही भारत अपनी प्राकृतिक सम्पदा जितनी घटाता है, उतना ही उसका जी.डी.पी बढ़ता है। अगर औद्योगिक प्रदूषण बढ़ाया जाए तो जी.डी.पी दुगना बढ़ जाता है। पहली बार तो तब जब रासायनिक कारखाने बाई-प्रोडक्ट (उपोत्पाद) पैदा करती हैं। जैसे कि जहरीला छीजन। दूसरी बार जी.डी.पी तब बढ़ता है, जब उस जहरीले छीजन की सफाई के लिए सरकारें अरबों रूपए खर्च करती हैं। पर्यावरण खराब होने से सेहत खराब होती है और सेहत ठीक करने पर होने वाला खर्चा भी जी.डी.पी की वृद्धि में शुमार किया जाता है।

क्या यह सही समय नहीं है, जब राजनेताओं को आर्थिक सुधारों के बीते दशक से सबक लेना चाहिए। हमें एक नई शुरुआत करनी होगी। यह शुरुआत जितनी जल्दी की जाए, उतना ही अच्छा

कड़वी सचाइयां

रोम में जब 1996 में पहला वर्ल्ड फूड समिट यानी विश्व खाद्य शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ तो उस समय भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री ने घोषणा की थी कि "मैं यह सुनिश्चित करूंगा कि प्रत्येक भारतीय नागरिक सन् 2000 तक उचित मात्रा में खाद्यान्न प्राप्त कर सके।" उस समय कर्नाटक के 'विनम्र किसान' श्री एच.डी. देवगौड़ा भारत के प्रधानमंत्री थे। उनके वित्त मंत्री श्री पी. चिदम्बरम् ने भी एक सपना देखा। लेकिन उनका 'स्वप्निल बजट' भारतीय अर्थव्यवस्था को ऐंड न लगा पाया। इसके बाद उन्होंने कृषि के पुनरुद्धार का सपना संजोया। अपने आलोचकों की शंकाओं के जवाब में उन्होंने कहा था कि "भारत के बारे में मेरा चहेता सपना यह है कि सन् 2020 तक जब बाकी दुनिया कृषि-क्षेत्र से बाहर जा चुकेगी, भारत आधी दुनिया का अन्नदाता बन जाए।"

लेकिन उनके ये सपने दिवास्वप्न ही सिद्ध हुए। विनम्र किसान श्री एच.डी. देवगौड़ा की किसानों के प्रति चिंता केवल मंचों तक सीमित रही। उन्होंने छोटे और बहुत छोटे किसानों के बारे में बड़े दुखी होकर कहा था कि बेचारों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे अपने उत्पादों को मूल्य-अभिवर्धन करके आधिक मुनाफा देने वाली चीजें खुद बना पाएं। इस बहाने से उन्होंने कृषि-व्यापार के लिए भूमि-सीमा पर ढील दे दी। हालांकि वे यह बोलते अघाते नहीं थे कि व्यापारिक कृषि छोटे किसानों को और भी हाशिए पर पटक देगी, लेकिन खाद्य-शोधन उद्योग को करों में रियायत और रेवड़ियां बांटने से बाज नहीं आए। किसानों को चेतावनी देते रहे कि वे गन्ने की खेती का क्षेत्र बढ़ाएं नहीं और इधर 180 नई चीनी मिलों को स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्री देवगौड़ा ने निश्चय ही अपने साथी किसानों के प्रति धोखाधड़ी की। लेकिन वे ही क्यों अन्य नेतागण भी किसानों को सब्जबाग ही दिखाते रहे हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी के बाद हर प्रधानमंत्री यही करता रहा है। यही कारण है कि सन् 90 के बाद के दशक में कृषि की उत्पादकता घटी। इसी दशक में खाद्यान्न की वृद्धि-दर जनसंख्या की वृद्धि दर से पिछड़ गई। यही कारण था कि देहाती इलाकों में निराशा का माहौल बनने लगा और लगातार छोटी पड़ती जोतों और घटती आमदनी से तंग आकर हर साल करीब 20 लाख छोटे और बहुत छोटे किसान अपनी जमीनों को कृषि-व्यापारियों को बेच-बेचकर खुद भूमिहीन मजदूरों की बढ़ती जा रही कतार में शामिल हो गए।

वर्तमान (2002) प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने संसदीय कृषि सलाहकार समिति के सामने दिए गए व्याख्यान में किसानों के लिए बड़ी मीठी-मीठी बातें कीं। लेकिन वे भी अंततः कथनी ही साबित हुईं, करनी में नहीं बदल पाईं। अगर ऐसा नहीं है तो जो प्रधानमंत्री जी अमीर उद्योगपतियों की मदद के लिए छह-छह समितियां बना सकता है, उसे किसानों के लिए भी ऐसी ही समितियां गठित करने से किसने रोका है?

यदि प्रधानमंत्री वाजपेयी जी ने व्यापार-जगत के लिए दिखाई गई हमदर्दी और चिंता, किसानों पर भी दिखाई होती तो 500 से अधिक आत्महत्याओं को आसानी से रोका जा सकता था। लाखों स्त्री-पुरुष और बच्चे जब कुपोषण के शिकार हो रहे हैं और कोई 20 करोड़ व्यक्ति हर रात भूखे पेट सो जाते हों, तो भी श्री वाजपेयी को इनकी चिंता छोड़कर उद्योगपतियों पर कृपा की वर्षा करने का समय कहां से मिल जाता है?

श्री वाजपेयी ही क्यों, उनके पूर्व प्रधानमंत्रियों ने भी गरीब और पददलित लोगों पर बस मीठे वचन ही बरसाए। श्री देवगौड़ा जी अपने हर भाषण में कृषि-क्षेत्र के लिए आंसू टपकाते रहते थे। असल में तो जब हमने पड़ताल की तो पाया कि पूर्व प्रधानमंत्री महोदय ने 'इंडिया और भारत' के बीच की खाई को और भी चौड़ा किया। एक बार एक रात्रिभोज में श्री देवगौड़ा ने लेखक से छोटे और बहुत छोटे किसानों के बारे में बड़ा दुख व्यक्त किया था कि वे इतने साधनहीन हैं कि अपनी फसल से मूल्यवर्धित वस्तुएं नहीं बना पाते। उस समय उन्होंने यह भी कहा था कि व्यापारिक कृषि किसानों को यों भी हाशिए पर पटक देगी।

लेकिन इस कथनी के विपरीत करनी उनकी भी यही रही कि खाद्य-शोधन उद्योग को करों में और भूमि-सीमा पर छूट सहित तमाम तरह की रियायतें लुटाई गईं।

उन्होंने मुझे से यह भी कहा कि मैं यह लिखूं कि किसान गन्ने की खेती का रकबा कम करें। उन्होंने भारत के अर्थशास्त्रियों के इस रवैए की भी तीखी आलोचना की कि उन्होंने डब्ल्यू.टी.ओ के द्वारा लागू की जा रही नई विश्व-अर्थव्यवस्था को आंखें मींचकर स्वीकार कर लिया है। लेकिन वे खुद बाहर से खाद्यान्न मंगाने पर लगी पाबंदियों को हटाने के लिए बेचैन थे। उनसे पहले के दो प्रधानमंत्रियों श्री राजीव गांधी और श्री चरणसिंह से भी इस लेखक की भारतीय कृषि की समस्याओं पर लम्बी चर्चा हुई थी। वे भी बातचीत में तो भारतीय कृषि और कृषक के उत्थान के लिए बड़े उत्साहित थे; लेकिन वे भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था की जड़ें मजबूत करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठा पाए। श्री चरण सिंह खुद को भारत का पहला किसान प्रधानमंत्री प्रचारित करते थे और उन्हीं के कार्यकाल में किसानों को खेतों में खड़ी गन्ने की फसल जलानी पड़ी थी। महात्मा गांधी के 'ग्राम-स्वराज' को लाने का इन दोनों प्रधानमंत्री का सपना चुनाव से पहले की भाषणबाजी से आगे नहीं बढ़ पाया।

केवल चुनावी मुद्दा

मुझे लगता है कि प्रधानमंत्री कार्यालय की शोभा बढ़ाने वाले सर्वशक्तिमानों को इस काम में बड़ी महारत हासिल है कि वे प्रधानमंत्री द्वारा व्यक्त की गई देश को वास्तविक रूप से आगे बढ़ाने की इच्छाओं को अपने पांव तले के गलीचे के नीचे सरका दें। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सूट-बूट धारी अधिकारियों की तरह ये नौकरशाह भी लगता है - भारतीय गांव के बारे में कुछ फिल्मी नजरिया रखते हैं और उन्होंने असली गांव कभी नहीं देखे। ये अलग बात है कि वे लन्दन और न्यूयॉर्क की गलियों के बारे में ज्यादा जानते हैं। एक के बाद दूसरे हर प्रधानमंत्री ने भी भारतीय कृषि और पशु पालन

व्यवस्था में कृषकों को साधनवान बनाने के लिए कुछ खास नहीं किया। हां, उनकी साधनहीनता का रोना सबने रोया। उदाहरण के लिए श्री आई.के. गुजराल ने ग्रामीण भारत की बजाय विदेश-यात्राओं में अधिक समय बिताया। जैसी कि उम्मीद थी वे अपने प्रधानमंत्रित्व काल में अपने साथ एक विदेश-नीति विशेषज्ञ को तो प्रधानमंत्री कार्यालय में विशेष अधिकारी बनाकर ले आए, लेकिन कृषि-क्षेत्र के लिए सही सलाह देने वाला विशेष अधिकारी भी चाहिए, इसकी जरूरत कतई महसूस नहीं हुई। अपने पूर्ववर्ती प्रधानमंत्रियों की तरह श्री गुजराल को भी यही लगा कि खेतीबाड़ी तो बस चुनावी मुद्दा है।

इस तरह की विषमता में प्रधानमंत्री कार्यालय का भी इतना कसूर नहीं है। किसान और किसानई को लेकर अभिजात वर्ग में एक खास तरह की खामख्याली चल रही है — शुरू से ही किसान कहते ही उनके मन में एक अनपढ़ गंवार और उजड़ु आदमी की तस्वीर उभरती है, जो अपनी मटमैली धोती और कुर्ता पर साफा बांधे बैलगाड़ी हांकता चला आ रहा है। अगर वह दुपहिए पर या मोटर साइकिल पर सवार दिखाई दिया तो वे चौंक जाते हैं कि इसे तो बैलगाड़ी ही चलानी चाहिए। हमारी नियोजन-प्रक्रिया ने उसे ज्यादा नहीं छुआ और राज नेताओं ने उसकी हमेशा ही उपेक्षा की है। उसे मौसम की दगाबाजी और साहूकारों के भरोसे छोड़ दिया गया। उसका दिन आधी रात से शुरू होता है, जब वह अपने खेतों की तरफ निकल पड़ता है, कड़ाके की ठंड में भी और इंतजार करता है बिजली आने का ताकि सिंचाई करने के लिए पंप चला सके या फिर नहर खुले और उसकी बारी आए खेत में पानी लगाने की। सूरज उगने से पहले ही उसने दूध दुह लेना है और अपने गाय-भैंस का दाना-पानी कर देना है। और सूरज उगते ही अपने परिवार के साथ खेतों में जुताई से लेकर निराई-गुड़ाई तक के तमाम काम करने हैं। सदियों से उसी तरह खटती जिंदगी जिसमें आराम का नाम नहीं।

यही है उस किसान की करुण-कथा जिसने अपनी मेहनत, हिम्मत और सूझबूझ के बल पर इस देश को भीख का कटोरा लेकर जिस-तिस के आगे गिड़गिड़ाने की शर्मिंदगी से ऊपर उठाया। लेकिन उस हरित-क्रांति के बाद भी जय किसान का नारा भले ही दिया गया, असल में सारे कदम ऐसे ही उठाए गए कि किसान का क्षय हो। बोलेंगे किसान की जय हो और काम ऐसे करेंगे, जिनसे किसान का क्षय हो। तमाम सत्ताधीशों से उपेक्षित ये किसान आज भी सदियों से चली आ रही परंपरा को निभाते हुए अपने खेतों में खटते आ रहे हैं और आजादी के समय से तिगुनी आबादी को चौगुना अनाज पैदा कर के खिला रहे हैं। फिर भी इन 55 करोड़ किसानों को देश ने राम भरोसे छोड़ा हुआ है।

इन्हीं के वोटों से सरकारें बनती हैं और गिरती हैं। लेकिन चुनते ही नेता लोग किसानों से किए गए वायदे भूल जाते हैं। उनके चारों ओर नौकरशाह, सेठ-साहूकार और उनके पिढू ऐसी दीवारे खड़ी कर देते हैं, जिनके पार की कड़ुई सच्चाइयां उन्हें नजर नहीं आतीं। गांव-देहात तो इतना भुला दिया जाता है कि कई बार इस देश की जनतांत्रिक प्रणाली पर से विश्वास उठने लगता है।

जब तक हमारे राज नेता इन कड़ुई सच्चाइयों को समझकर ठोस कदम नहीं उठाते, उन्हें पता ही नहीं चलेगा कि किसानों का आक्रोश उन्हें एक दिन उठाकर पाताल में फेंक सकता है। किसी एक पार्टी की सरकार का जमाना चला गया और मिली-जुली सरकारें बनने लगीं क्यों? किसानों के गुस्से के कारण! एक के बाद दूसरी सरकारें जिन अमीरों की सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती है, वे हैं ही कितने! मुट्ठी भर और वे भी वोट डालने की ज़हमत नहीं उठाते। कृषि की उपेक्षा के इन राजनीतिक परिणामों से भी गहरे होंगे सामाजिक-आर्थिक परिणाम। देहातों में व्याप्त घोर निराशा और हताशा की ओर जब तक हमारे राजनेता व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं देंगे और अपनी कथनी को करनी में बदलने से कतराते रहेंगे, तब तक भारतीय कृषि और कृषक इसी तरह कराहते और कुढ़ते रहेंगे। अर्थशास्त्रियों और संसदीय समितियों के भरोसे भारतीय कृषि को ऊंचा नहीं उठाया जा सकता। यह हालत रही तो हमें ऐसे भयंकर खाद्य-संकट का सामना करना पड़ेगा, जिससे देश की रीढ़ ही टूट जाएगी, क्योंकि कृषि ही देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है।

भरमार के बीच भूखमरी

आखिरकार सन् 2001 में भारत के सर्वोच्च न्यायालय को अन्नदाता का रूप धारण करना पड़ा। इधर गोदामों में अनाज भरा पड़ा था और उधर भूखमरी से मौतें हो रही थीं। इस दारुण स्थिति से क्षुब्ध होकर सर्वोच्च न्यायालय ने भूख से ग्रस्त होने वाले छह राज्यों में सस्ते दाम वाली राशन की बंद दुकानें एक हफ्ते के अंदर फिर से खोलने का आदेश दिया। आखिरकार एफ. सी. आई. में 6 करोड़ टन से अधिक अनाज जमा हो गया था और इसका अधिकतर सड़ रहा था। यह वास्तव में वैसी ही स्थिति थी कि 'जल बिच मीन पियासी' – अनाज भरा पड़ा था और लोग भूखों मर रहे थे।

गरीब और भूखों के प्रति सरकार की उपेक्षा सर्वोच्च न्यायालय की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाती है, कि "ऐसी स्कीम बनाकर तुरंत लागू की जाए, जिससे कि ऐसी नौबत फिर न आए कि गोदाम भरे हों और अनाज रखने की जगह न बचने के कारण अनाज सड़ रहा हो और फिर भी लोग भूखमरी के शिकार हो रहे हों। एक भी आदमी भूखा न रहे।

सर्वोच्च न्यायालय की इस टिप्पणी से तीन महीने पहले स्वयं प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि 'जनतंत्र और भूख साथ-साथ नहीं चल सकते'। 'भूख से मुक्त भारत की ओर' शीर्षक से आयोजित एक सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री वाजपेयी जी ने यह कहा था कि "आधुनिक विश्व में विज्ञान ओर प्रौद्योगिकी ने विपुलता और समतापूर्ण विकास की ऐसी स्थितियां पैदा कर दी हैं कि अब कोई वजह नहीं है कि भूख और गरीबी बनी रहें।"

ये विचार वास्तव में प्रशंसनीय है। लेकिन उनकी सरकार ने किया बस यही कि जन वितरण प्रणाली को मज़बूत बनाने और उसका नाम बदल देने का वायदा किया। साथ

ही यह भी कहा कि 'अन्न-भंडारों का कल्पनाशील और उद्देश्यपूर्ण ढंग से इस्तेमाल किया जाएगा, ताकि कीमतें स्थिर हो जाएं और निर्यात बढ़ें। पिछली सरकारों ने भी यही किया था कि अनाज का इस्तेमाल औद्योगिक विकास को ऊंचा उठाने के लिए किया। नतीजा यह हुआ कि भूख बढ़ती रही। और वह भी सरकार के इस दावे के बावजूद कि उसने सबसे गरीब 100 लाख परिवारों के लिए 'अन्त्योदय अन्न योजना' में अन्न का प्रावधान बढ़ाकर दुगना कर दिया है। इस स्कीम की घोषणा के बाद सरकार निश्चित हो गई कि 'अन्न तक गरीबों की पहुंच' सुनिश्चित कर दी गई है – भौतिक भी और आर्थिक भी – और बुनियादी खाद्य-सुरक्षा की ढाल खड़ी कर दी गई है, जिसे भेद कर भूख फिर से वार नहीं कर पायेगी।

लेकिन वैसा कुछ हुआ नहीं। इसके लिए हमारा स्वतंत्र प्रेस भी उतना ही जिम्मेदार है, क्योंकि अक्सर राजनीतिक विचारधारा को प्रेस प्रभावित करता है। मुझे बड़ी हंसी आती है जब लोग नोबल पुरस्कार से सम्मानित प्रोफेसर अमर्त्य सेन का यह वाक्य दुहराते हैं कि "स्वतंत्र जनतांत्रिक देशों में स्वतंत्र प्रेस के होते हुए अकाल नहीं पड़ सकते।" जब 1943 में बंगाल में अकाल पड़ा तो ब्रिटिश प्रेस स्वतंत्र था। ईथोपिया में सन् 1984-85 में अकाल अपने चरम पर पहुंच चुका था, जब बी. बी. सी. ने ही दुनिया को बताया था कि उस देश के उत्तर-पश्चिम इलाके में अनाज के ढेर सड़ रहे हैं और उन ट्रकों का इंतजार कर रहे हैं, जो उसे ज़रूरत मंद इलाकों में ले जाएंगे। वहां अब भी हाल यह है कि 80 प्रतिशत लोग गांवों में रहते हैं और उनके परिवार जो फसल उगाते हैं, वही उनकी सम्पत्ति है। उसके सिवा आमदनी का कोई और जरिया नहीं है। अगर मौसम दगा दे गया तो इन परिवारों के पास अनाज का एक दाना भी नहीं बचता और आमदनी न होने के कारण बाजार में अन्न हो भी, तो वे खरीद नहीं सकते।

सुदृढ़ जनतंत्र और मुखर प्रेस के होते हुए भी भारत में लाखों लोग हर रोज भूखे सोते हैं। हमारे पड़ोसी बांग्लादेश में भी हालात ऐसे ही शर्मनाक हैं कि एक ओर अन्न भरा पड़ा है और दूसरी ओर भूखे लोग भरे पड़े हैं। और भारत तथा बांग्लादेश दोनों में ही जनतंत्र और प्रेस दोनों खूब फल-फूल रहे हैं।

यह सचमुच जनतंत्र और संचार माध्यम दोनों के लिए बड़ी लज्जा की बात है, क्योंकि इन दोनों को ही प्रो. अमर्त्य सेन ने भूख और गरीबी मिटाने के लिए जिम्मेदार ठहराया है शर्म की बात यह है कि इस स्थिति से भारत को उबारने के लिए न्यायपालिका को हस्तक्षेप करना पड़ा, ताकि 'सबके लिए अन्न' सुनिश्चित किया जा सके, जो कि वास्तव में सब का मौलिक अधिकार है। इससे यह तो साफ हो ही गया कि किसी देश में जनतंत्र होने और स्वतंत्र प्रेस होने से ही मानवता के कष्ट दूर नहीं हो जाते।

हमें आशा करनी चाहिए कि जो काम एक के बाद दूसरी तमाम सरकारें पिछले पचास सालों में नहीं कर पाईं, वह माननीय सर्वोच्च न्यायालय पूरा कर दे। लेकिन इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय को भी काफी मशक्कत करनी पड़ेगी, क्योंकि सरकारी मशीनरी, आमतौर से कुछ भी कर लो, उस से मस नहीं होती।

खाद्य सुरक्षा की नींव खिसकाना

देश के मुख्यमंत्रियों की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने बी. जे. पी. के नेतृत्व की गठबंधन-सरकार को भारत के अभूतपूर्व खाद्य-सुरक्षा तंत्र की नींव हिलाने से रोक दिया। हमारे देश में खाद्यान्न की खरीद और वितरण का विशाल तंत्र पूरी दुनिया में अपनी तरह का अनूठा है।

एक बार अनाज की सरकारी खरीद रोक दी जाए तो फिर किसान तो व्यापारियों और बाजार की मेहरबानी पर जिएंगे।

वह जीना कैसा होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है? पिछला अनुभव बताता है कि व्यापारी और दलाल किसानों को किस तरह ठगते हैं। इन पर छोड़ दिया जाए तो पिछले तीस सालों में बड़ी मुश्किल से मिली खाद्यान्न की आत्मनिर्भरता पलक झपकते में खिसक जाए।

यह घटना मुख्यमंत्रियों के 2001 में एक सम्मेलन में घटी। यह सम्मेलन 'कृषि और खाद्य प्रबंधन पर डब्ल्यू. टी. ओ. समझौता' विषय पर आयोजित किया गया था। इसमें प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सुझाव दिया कि अनाज की खरीद और वितरण का काम विकेंद्रित कर दिया जाए। यानी यह जिम्मेदारी केन्द्र सरकार की बजाय राज्य सरकारों को सौंप दी जाए। असल में वे कुछ कठिन समस्याओं पर राजनीतिक समर्थन जुटाने का प्रयास कर रहे थे।

उन्होंने शुरुआत में सबको यह समझाया कि भारत की कृषि और खाद्य स्थिति के प्रबंधन में डब्ल्यू. टी. ओ. की भूमिका बड़ा महत्व रखती है। और फिर उन्होंने बताया कि वे क्या कदम उठाना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि "पहले कदम के तौर पर हम एफ. सी. आई. का पुनर्गठन करना चाहते हैं। केन्द्रीय अनाज भंडार से रियायती दामों पर अनाज उपलब्ध कराने की बजाय राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता दी जाएगी कि वे गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-निर्वाह करने वाले परिवारों के लिए अनाज खरीदें और बांटें।"

प्रधानमंत्री जी ने यह नहीं बताया कि उनके ऊपर अनाज की सरकारी खरीद खत्म करने के लिए भारी दबाव है। भारत जैसे देशों की इस खाद्य व्यवस्था को डब्ल्यू. टी. ओ. तोड़ना चाहती है। फिर खाद्य का सुरक्षित भंडार बनाने के लिए सरकार को बाजार से अनाज खरीदना पड़ेगा। और उसके बाद एफ. सी. आई. को भी यह अनाज बाजार-भाव पर ही बेचना पड़ेगा, न कि रियायती दामों पर। केवल गरीबी की रेखा से नीचे वालों को यह अनाज रियायती दरों पर उपलब्ध कराया जा सकेगा। सरकार ने गरीबी की रेखा से ऊपर के परिवारों को जन वितरण प्रणाली (पी. डी. एस.) से निकालकर डब्ल्यू. टी. ओ. की हिदायतों का पालन करना शुरू भी कर दिया है।

मुख्यमंत्रियों ने खाद्यान्न की खरीद और वितरण प्रणाली को केन्द्र की बजाय राज्यों पर थोपने के इस प्रस्ताव को इस दलील से टुकरा दिया कि उनके पास अनाज की खरीद, भंडारण तथा वितरण का बुनियादी ढांचा नहीं है और न वे इसके लिए वित्तीय व्यवस्था कर पायेंगे। इस तरह उन्होंने वर्तमान प्रणाली में किसी भी परिवर्तन से साफ इंकार कर दिया और प्रस्ताव को 'अव्यावहारिक' बताया। इसकी बजाय उन्होंने सरकार को सलाह दी कि वह किसानों के हित में पहले से सक्रिय होने की कोशिश करें। "जरूरत इस बात की है कि एफ. सी. आई को अधिक कार्यकुशल बनाया जाए। हालांकि प्रधानमंत्री ने उनके मन से डब्ल्यू. टी. ओ. के प्रति भरी आशंका निकालने की पूरी कोशिश की, लेकिन मुख्यमंत्रियों ने स्पष्ट रूप से कहा कि डब्ल्यू. टी. ओ. भारतीय कृषि के लिए खतरे पैदा कर रहा है।

मुख्यमंत्रियों ने प्रधानमंत्री के प्रस्ताव को एकमत से इसलिए टुकराया क्योंकि राजनीतिक वास्तविकता ने उन्हें ऐसा करने के लिए विवश किया। केन्द्र सरकार तो अपनी कमियों के लिए गठबंधन के सदस्यों को जिम्मेदार ठहरा सकती है, लेकिन अधिकतर मुख्यमंत्री यह नहीं कर सकते। उनके ऊपर राज्य की पूरी जिम्मेदारी है। दूसरे मुख्यमंत्री यह भी समझते हैं कि डब्ल्यू. टी. ओ. के विरुद्ध किसानों में भारी असंतोष है।

यही चिंता आन्ध्रप्रदेश के चन्द्राबाबू नायडू को सता रही थी और पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री प्रकाशसिंह बादल को भी। श्री बादल को तो किसानों की उपेक्षा करने के कारण अपनी गद्दी गंवानी पड़ी। जाहिर है कि जो भी डब्ल्यू. टी. ओ. की सलाह मानकर जन-विरोधी फैसले करेगा, जनता उसकी छुट्टी कर देगी। भले कितना ही निकम्मा क्यों न हो, वर्तमान खाद्य-तंत्र में कोई भी फेर बदल किसान के हित में न हुआ तो किसान कभी माफ नहीं करेंगे। उपभोक्ता भी खाद्यान्न की मंहगाई बर्दाश्त नहीं करते। प्याज की मंहगाई कई बार सरकारों को रुला चुकी है। भारत की वर्तमान खाद्य व्यवस्था को तोड़ने का मतलब है भूख और कुपोषण को बढ़ावा देना। हमारी हरित क्रांति की बुनियाद ही यही थी कि किसानों को पैदावार बढ़ाते रहने के लिए सरकारी खरीद से प्रोत्साहन मिला और गरीबों को सस्ते राशन की दुकानों से सस्ता अनाज, चीनी और खाने का तेल मिलने से जरूरी राहत मिली। इसी आधार पर हम अकालों के चंगुल से बचते रहे हैं। यह आधार हटते ही हम फिर उसी हालत में पहुंच जाएंगे, जब अनाज के लिए विदेशी जहाज का इंतजार रहता था। हालांकि हमारे अर्थशास्त्री इस सचाई को नहीं मानेंगे। आखिर आई. एम.एफ., वर्ल्ड बैंक और डब्ल्यू. टी. ओ. भी तो इस खाद्यान्न-सहायता की प्रणाली के विरुद्ध हैं? क्यों? क्योंकि भारत की अपनी सरकारी खरीद और वितरण प्रणाली के होते हुए अमरीका और यूरोपी संघ अपना अनाज भारत के बाजारों में नहीं ला सकते। वे भारत के विशाल खाद्यान्न-बाजार पर अपनी गिद्ध-दृष्टि लगाये बैठे हैं। अमरीका अपने किसानों को इतनी भारी सब्सिडी देता है कि अगर जल्दी हो उसे भारत जैसा विशाल बाजार अनाज बेचने को नहीं मिला तो उसकी अपनी कृषि-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

दुर्भाग्यवश इस बारे में अमरीका पूरी तरह सचेत है। भारत सरकार भी अमरीका के आर्थिक हितों से अपरिचित नहीं है। दुर्भाग्यवश जहां अमरीकी सरकार अपने किसानों के हितों की रक्षा की बात सोच रही है, वहीं भारत सरकार भी यही सोच रही है कि अमरीकी किसानों के हित कैसे सुरक्षित रहें।

भूख से कमाई

अपने देश में जो भी हो वह थोड़ा है। क्या आप जानते हैं कि यहां भूख और कुपोषण से मुनाफा कमाया जाता है। भारत सरकार को लगता है कि अगर फालतू गेहूं और चावल निर्यात कर दिया जाए तो विदेशी मुद्रा कमाई जा सकती है। यह अनाज 'फालतू' तो तभी होगा, जब मुफलिसों ओर भूखों की पहुंच से बाहर रखा जाएगा। इससे तो वे दो अमरीकी कंपनी ही अधिक दयावान मानी जाएंगी, जिन्होंने पशुओं के दाने की ही सही, कुपोषण-ग्रस्त भारतीयों के लिए पोषक आहार में बदलने की तो सोची।

यह पोषक आहार 'राइस-ब्रान' यानी चावल की कनी या भूसी से बनाया जाएगा जो कि मुर्गियों, सूअरों और गायों को खिलाकर उन्हें मोटा करने के काम आती है। इसमें चिकनाई भी होती है ओर प्रोटीन। भारत सरकार तो 'फालतू' अनाज और उस अनाज को जिसे संभालकर रखना मुश्किल हो रहा है, घरेलू कीमत से भी कम कीमत पर अंतर्राष्ट्रीय मंडी में बेच रही है, वहीं अमरीकी कंपनी 'राइस-एक्स' ने अनाज-व्यापार की बहुराष्ट्रीय मठाधीश कंपनी मॉसाण्टो के साथ मिलकर 'राइस-ब्रान' को पोषक मानव आहार में बदलने का फैसला किया है। इसके लिए जो तकनीक अपनाई जाएगी, उसका पेटेंट इसी कम्पनी के पास है। भूखे और कुपोषित भारतीय पशुदाने से बने पोषक आहार को खिलाकर परखने के लिए 'गिनीपिग' बनेंगे। गिनीपिग चूहे के वर्ग का ही एक प्रयोगशालीय पशु है, जिस पर दवाएं और टीके आजमाए जाते हैं। मतलब यह है कि पूरी दुनिया में बेचने से पहले यह 'पोषक आहार' भारत में आजमाया जाएगा।

ये प्रयोग होने से पांच साल तक चलेंगे। अगर इसे खाने वालों का हाजमा दुरुस्त रहा और सेहत ठीक रही, तो इसका मतलब यह होगा कि जो भूसी अब तक जानवर खाते थे, उसे अब आदमी भी खा सकता है। तो फिर यह पोषक आहार के रूप में तीसरी दुनिया में बेचा जाएगा और दोनों कम्पनियों को इससे हर साल 40 करोड़ अमरीकी डालर यानी कोई 280 करोड़ रुपए के सालाना मुनाफे की उम्मीद है। पिछले साल इसे 50 लाख डालर का नुकसान हुआ था। इसलिए इस नए प्रोजेक्ट की सफलता कम्पनी के लिए बहुत जरूरी है। कम्पनी के चेयरमैन मैकपीक साहब ने, बताते हैं कि यह कहा है कि राइस-एक्स और मॉसाण्टो आपस में आधा-आधा खर्च बांटकर इस काम को आगे बढ़ाएं। इसमें अमरीकी चावल की भारत को लदाई करना और दो प्रशोधन-यंत्र भी यहां लाना शामिल है। इसके साथ ही प्रशिक्षित कर्मचारी भी भारत आएंगे। ये लोग अमरीकी और भारतीय चावल की भूसी अलग करके इससे पोषक आहार बनाएंगे। छह महीने तक यह काम भी परीक्षण के तौर पर किया जाएगा।

चावल के कच्चे दानों से चावल की कनी या भूसी अलग करके उसे टिकाऊ बनाने की तकनीक राइस-एक्स ने विकसित की है। इसे पोषक आहार में बदलने और बेचने के लिए अमरीका में स्थित इस कम्पनी को तीसरी दुनिया के बाजार बहुत सही लगे हैं। आखिरकार इतने भूखे और कुपोषित लोग और कहां मिलेंगे। अकेले भारत में ही इनकी संख्या लगातार बढ़ रही है। सन् 1990 के दशक से शुरू करके दशक के मध्य तक यह संख्या 22 करोड़ 40 लाख से बढ़कर 25 करोड़ तक पहुंच गई थी। विश्व बैंक का कहना है कि इसका कारण यह है कि देहातों में गरीबी लगातार बढ़ रही है और शहरों में लगातार घट रही है। इसके बावजूद सरकार खाद्यान्न का निर्यात करने की छूट दे रही है, यह विसंगति आश्चर्य में डाल देती है। इसका मतलब तो यही हुआ कि लोगों को अन्न के बुनियादी मानवाधिकार से वंचित करके अन्न बचाओ और उसे बाहर बेचकर डालर कमाओ। यानी भूखों के मुंह से दाना छीनकर विदेशी मुद्रा के भंडार भरो!

दुनिया का और कोई भी देश, फिर भले ही वह अमरीका ही क्यों न हो, खाद्यान्न का निर्यात तभी करता है, जब देश में उसकी जरूरत पूरी हो जाए और इसके बाद भी बचा रहे। अमरीकी सरकार भी कोई 25 अरब अमरीकी डालर खर्च करके वहां गरीबी की रेखा के नीचे निर्वाह करने वाले करीब ढाई-करोड़ परिवारों को खाद्यान्न और पोषण मुहैया करती है, ताकि वे भूखे न मरें। भारत में अन्न के भंडार इसलिए भर जाते हैं, क्योंकि हम भूखों तक अन्न पहुंचा नहीं पाते। या कहें कि पहुंचाना नहीं चाहते। मंहगाई लगातार बढ़ रही है; बेरोजगारी बढ़ रही है; आमदनी घट रही है। 40-45 रुपए रोज कमा सकें ऐसे लोग भी कितने हैं, जबकि विश्व बैंक एक डालर या उससे कम कमाने वालों को गरीब मानता है। इसीलिए ऐसे लोगों की संख्या बराबर बढ़ रही है, जो दो जून पेट नहीं भर सकते और भूखे सो जाते हैं। यही कारण है कि इन गरीबों के पेट से काटा गया अन्न सरकार के गोदामों में इतना जमा हो गया, कि अट नहीं पा रहा। इस तरह भारत के भूखों की उपेक्षा करके गेहूं-चावल उन देशों को बेचे जा रहे हैं, जहां ये जानवरों को खिलाए जाते हैं।

इस तरह भूखे गरीबों की परवाह न करके सरकार ने उन्हें बाजार के भरोसे छोड़ दिया है। इधर भारत सरकार तो किसानों के गाढ़े पसीने से उपजाई सुनहरी फसल को औन-पौने दामों पर दूसरे देशों में पशुओं के दाने के लिए बेच रही है और इधर बहुराष्ट्रीय कंपनियां इसके उलट पशुओं के दाने को पौष्टिक आहार में बदलने के बहाने से भारत के भूखे और कुपोषित गरीबों को खिलाने की पेशकश कर रही है।

भारतीयों को पशु-दाना

मोंसाण्टो के पोषण और उपभोक्ता विभाग के व्यापार-विकास-अध्यक्ष मिस्टर चार्ल्स एफ. हॉफ का कहना है कि "हम भारत में अपनी गतिविधियां बढ़ाने में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। राइस-एक्स के स्वामित्व वाली प्रौद्योगिकी से चावल की भूसी को पौष्टिक आहार में बदलकर हम भारत के लोगों का पोषण-स्तर सुधार सकते हैं।" असल में राइस-ब्रान यानी चावल की भूसी या कनी वह बादामी हिस्सा होता है जो राइस-मिल

में चावल की पॉलिशिंग के दौरान दोनों से अलग हो जाता है। लेकिन यह तुरंत एंजाइमों से क्रिया करके खराब हो जाता है और फिर इस लायक नहीं रहता कि आदमियों को खिलाया जा सके। इससे पहले भी राइस-ब्रान से खाने का तेल निकालने के प्रयास किए गए हैं। अब राइस-एक्स ने ऐसी तरकीब निकाल ली है कि राइस-ब्रान खराब न हो और उसकी पौष्टिकता बनी रहे। इस तरह इस भूसी के पौष्टिक तत्व अलग किए जा सकते हैं।

राइस-एक्स भी चावल की मूसी से खाने का तेल ही बनाना चाहती है। यह तेल प्रोटीन-बहुल भी होगा ऐसा दावा किया गया है। साथ ही खराब नहीं होगा ; टिकाऊ होगा। अगर सफलता मिल गई तो राइस-एक्स और मॉसाण्टो दोनों कंपनियां मिल कर भारत में संयुक्त उद्यम स्थापित करेंगी। मॉसाण्टो इस प्रायोजना को लेकर बहुत उत्साहित हैं, क्योंकि राइस-ब्रान जैसे कम कीमत पर बिकने वाले पशु-दाने को, ऊंची कीमत पर बेचे जा सकनेवाले मानव-आहार में बदला जाएगा। जिस देश की सरकार अपने नागरिकों को पोषक आहार न दे सके, उस देश की किस्मत में यही होगा कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां उसे पौष्टिक आहार के दाम पर जानवरों का दाना खिलाएं! इससे पहले भी दूसरी सरकारें देश की जनता का पेट भरने के लिए ऐसा ही घटिया अनाज मंगाती रही हैं, जो बाहर के देशों में जानवरों को खिलाया जाता है। हरित-क्रांति से पहले आस्ट्रेलिया, अर्जेंटिना और अमरीका से ऐसा ही गेहूं, मक्का और ज्वार आता रहा। अब जब कि जरूरत नहीं है, तो भी विश्व व्यापार संगठन के दबाव में बाहर से गेहूं मंगाया गया, ताकि जहां देशी अनाज सड़ रहा है, वहीं विदेशी भी सड़े। साथ ही देश में पैदा हुए अनाज को फालतू बताकर डालर कमाने के लिए बाहर बेचा जा रहा है। फालतू बताते समय उन भूखों की जरूरत नहीं गिनी जाती, जो गरीबी की रेखा के नीचे भुखमरी और कुपोषण का सामना कर रहे हैं। पांचवे वेतन आयोग की सिफारिश पर सरकारी महकमों में काम कर रहे कर्मचारियों के वेतन बढ़ाने पर सरकार ने 800 अरब रुपए खर्च किए तो किसी ने भी उंगली नहीं उठाई। लेकिन वही सरकार गरीबों तक अन्न पहुंचाने का खर्च उठाने में हिचकती है, तो भी सब चुप हैं। यह चुप्पी ही घातक है। यही किसी दिन देश को ले डूबेगी। भूखे गरीबों की हाय तो एक दिन लगेगी ही। फरवरी 2002 में सम्पन्न हुए कुछ राज्यों के चुनावों से तो लगता है कि हाय लग चुकी है।

भूख से छुटकारा : सही रास्ता यह है

जहाँ एक के बाद दूसरी सरकारें असफल रहीं और मुख्यधारा के अर्थशास्त्री चूकते रहे, वहीं गरीबों तक खाद्यान्न पहुंचाने में परंपरागत अनाज-बैंकों ने सही रास्ता दिखाया है। ये अनाज-कोष उन इलाकों में अपना काम कर रहे हैं, जहाँ बार-बार सूखा पड़ता है, गरीबी है, भूख है। ये इलाके हैं वे जहां किसान खेती के लिए वर्षा पर निर्भर रहते हैं – बारानी इलाके।

इन दूर-दराज के इलाकों में गांव वालों ने खुद अपनी खाद्य-सुरक्षा का जो नायाब तरीका निकाला है वह भले ही अर्थिक दृष्टि से तर्कहीन, राजनीतिक दृष्टि से

संवेदनशील और अत्यंत जटिल लगे, लेकिन ग्रामीणों ने गांव के सबसे गरीब तबके की भूख का स्थानीय समाधान खोज लिया है। इसमें उनके परंपरागत ज्ञान सदियों से चली आ रही सूझबूझ और एक दूसरे की मदद करने की मानवीय भावना का योग रहा है। अर्थशास्त्री भले ही इसको स्वीकार करने में हिचकिचाएं, क्योंकि यह उनके नवीन अर्थशास्त्रीय संस्कारों में शामिल नहीं है ; नौकरशाह इसे नकार ही देंगे क्योंकि इस तरीके में उनकी ऊपरी कमाई की कोई गुंजाइश नहीं है और शायद राजनेताओं को भी पसंद न आए, क्योंकि इस रास्ते को अपनाने से उनका वोट बैंक शायद ही बढ़े। उड़ीसा के बोलनगिरी जिले या कर्नाटक के कोडागु जिले के भुखमरी के शिकार गांवों से जो काम एक सादे प्रयोग के रूप में शुरू हुआ था, वह देश की खाद्य-सुरक्षा सुनिश्चित करने का अनुकरणीय मार्ग बन गया है।

इसका महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है, कि दुनिया में सबसे बड़े अनाज-वितरण तंत्र की स्थापना के बावजूद हम सबसे गरीब तक खाद्यान्न पहुंचाना सुनिश्चित नहीं कर पाए। एक के बाद दूसरी, सभी सरकारें इस मामले में मुंहकी खाती रहीं। यह तो अब आकर हो पाया है कि खाते-पीते परिवार और आयकर चुकाने वाले परिवारों को पी.डी.एस यानी पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम के तहत खोली गई उचित दाम पर राशन उपलब्ध कराने की दुकानों से राशनकार्ड की मार्फत राशन लेने से वंचित किया गया है, नहीं तो इससे पहले सभी सरकारें अमीरों के दबाव में इस फैसले को टालती रहीं। यही कारण है कि 'पी.डी.एस' सरकारी खजाने पर भारी बोझ बना हुआ था। बोलनगिरि और कोडागु जिले के ग्रामवासियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस जन-वितरण प्रणाली के वास्तविक लाभार्थी जो होने चाहिए थे, वे गरीब परिवार रोटी के लिए सरकारी दाम के मोहताज नहीं हैं। देश के अन्य भागों में भी फसल में से गरीबों का हिस्सा अलग करने की प्रणाली चलती रही है और कहीं-कहीं आज भी चल रही है।

उड़ीसा में बोलनगिरि शहर से कोई 150 किलोमीटर दूर 20 गांवों का टोला है, जहां भुखमरी का कोई भी निशान अब नजर नहीं आता। एक ही गांव सुंधीमुंडा की मिसाल लें, तो इसमें और इसके आसपास के सैकड़ों ग्रामीण परिवारों ने खाद्य-बीमा का अचूक रास्ता अपना लिया है, जो भुखमरी को दूर रखता है। गांववालों का अपना तरीका कितना प्रभावशाली है और सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से कितना तर्कसंगत है, यह इस बात से साबित होता है कि हर तरह की प्राकृतिक आपदा के समय यह कारगर साबित हुआ है और इनकी खाद्य सुरक्षा को कोई सूखा नहीं सुखा पाया, कोई तूफान डुबो नहीं पाया और कोई भूकंप इसमें दरार नहीं डाल पाया। दूसरी ओर इसी जिले के कुछ गांवों में बार-बार के सूखे ने हजारों परिवारों को भुखमरी के कगार पर पहुंचा दिया और कम से कम 25 मौतें इसलिए हो गईं, क्योंकि उन्हें खाने के लिए एक भी दाना नहीं मिल पाया था।

ग्रामीणों के अपने खाद्य-सुरक्षा अभियान का श्री गणेश सन् 1990-91 से हुआ था। उन दिनों सुंधीमुंडा गांव में एक स्वयं सेवी संस्था 'आंचलिक जन सेवा अनुष्ठान' की स्थापना की गई थी। इसके समन्वयकर्ता हैं वंशीधर बहेड़ा जो यहां के जानेमाने समाजसेवी हैं। बहेड़ा जी और उनके साथी काई ऐसा उपाय खोजने में लगे थे, जिसे

अपनाकर विपरीत परिस्थितियों में अनाज उपलब्ध न होने के कारण पैदा होने वाली परेशानियों और तकलीफ से बचा जा सके। उन्होंने गांव के लोगों की बैठक बुलाकर उनसे सलाह-मशविरा किया और यह तय किया गया कि जो भी दे सकते हैं, वे अपनी धान की फसल का कुछ हिस्सा दान करें। इस तरह पूरे गांव से 22 क्विण्टल धान जमा हो गया। आठ गांवों के 150 किसान-परिवारों ने इस कार्यक्रम में योग दिया। ये सब के सब धनी किसान नहीं थे। इनमें से अधिकतर छोटे और सीमांत किसान थे। इस तरह ग्रामीण अनाज-बैंक की स्थापना की गई।

यह अनाज बैंक खाद्य-सुरक्षा की कुंजी बन गया। तब से हर फसल की कटाई के बाद, जिसके पास भी फालतू अनाज था, उसने ग्रामीण अनाज बैंक में धान जमा करना शुरू कर दिया। जब जरूरत पड़ी बिना कोई ब्याज दिए इस बैंक से अनाज निकाल लिया जाता। जो भूमिहीन थे और जिनके पास फालतू छोड़िए वैसे भी खाने के लाले पड़े रहते थे, उनके लिए अनाज वरदान बन कर आया। लेकिन फसल की कटाई के समय इन्हें भी मजदूरी मिलती थी। उस समय जितना अनाज बैंक से लिया गया था, उसमें आधी बाल्टी ब्याज का अनाज जोड़कर पूरा वापस करना होता था। जो नहीं कर सकते थे, उनके लिए गांव का समाज तय करता था कि उनसे अनाज की वापसी न ली जाए। इस तरह ग्रामीण अनाज बैंक ने भुखमरी के साथ ही गांव के गरीबों को साहूकार के चंगुल से भी बरी कर दिया। अब उन्हें आड़े वक्त में भारी ब्याज पर कर्जा लेने की जरूरत नहीं रही। गांव का साहूकार सूखे के दिनों में रूपयों की बजाय जरूरतमंदों को अनाज भी देता था। लेकिन वह उसे तीन महीनों में ही दूनी मात्रा में लौटाना होता था।

इस कार्यक्रम में भागीदार गांवों की तात्कालिक आवश्यकताओं को देखते हुए यह व्यवस्था भी रखी गई कि जो लाभार्थी हैं, वे अनाज नहीं दे सकते तो श्रमदान करें। इस तरह वाथरला गांव में एक मंदिर और अनाज का गोदाम बनाया गया। जिन्हें पगार देनी थी, उन्हें वह अनाज के रूप में ही दी गई। यह अनाज ब्याज के रूप में जमा होता-होता, अब काफी जमा हो गया था। करीब 16 क्विण्टल धान 'काज के बदले अनाज' के रूप में देकर बंजुपुधर गांव में एक परंपरागत तालाब का जीर्णोद्धार किया गया। इस तरह गांव-समाज की जरूरतों को देखते हुए अनाज-बैंक की मदद से तमाम तरह के काम भी चलने लगे। इन कामों के बदले दिहाड़ी और वेतन अनाज के रूप में ही दिया जाता है।

पांच सालों में ही अनाज-बैंक में काफी तादाद में अनाज जमा हो गया। सन् 1996 में 'आंचलिक जन सेवा अनुष्ठान' ने 220 क्विण्टल धान प्राप्त किया और बांटा। इसके एक साल बाद, सन् 1997 में इसे 253 क्विण्टल अनाज वापस मिला। कुल मिलाकर अनाज बैंक में जमा करनेवाले ग्रामीणों की संख्या दस गुनी बढ़ गई। 1999 में जब इस गांव में गया तो 1000 परिवार ग्रामीण अनाज बैंक में अपना योगदान कर रहे थे। इस बैंक से लाभान्वित होने वाले परिवारों की संख्या भी 1066 हो गई। ये परिवार 20 गांवों में रहते हैं और ये सभी गांव इस कार्यक्रम में भाग ले रहे हैं। संख्या से भी

अधिक महत्व है इस बात का इन ग्रामवासियों ने भूख से मुक्ति का रास्ता अपने-आप खोज लिया है। और यह एक अनूठा सामाजिक मॉडल बन गया है।

कर्नाटक के कोडागु जिले में जो 10 अनाज बैंक बने हैं, वे सब के सब 'कोओपरेटिव एक्ट' के अंतर्गत पंजीकृत हैं। अब तो उन्हें चलते हुए 30 साल होने को आए। ये अनाज-बैंक भी उसी सिद्धांत पर काम करते हैं, जिसकी हमने पहले चर्चा की है। हर बार धान की कटाई के बाद प्रत्येक सदस्य यहां के अनाज बैंक में कम से कम 100 किलोग्राम धान जमा करता है। दिसंबर-जनवरी के महीनों में जरूरत पड़ती है, या फिर जब भी जरूरत पड़े तो यही सदस्य कर्ज के रूप में इस बैंक से अनाज निकलवा सकते हैं। यह कर्ज अगली फसल की कटाई के बाद 12 प्रतिशत ब्याज के साथ वापस करना होता है। यह ब्याज अनाज के रूप में ही लिया जाता है। फसल की कटाई कर मौसम खत्म होने पर फालतू अनाज मंडी में बेच दिया जाता है। इस तरह जमा-पूँजी का 10 से 12 प्रतिशत तक सदस्यों को लाभांश के रूप में वापस मिल जाता है।

सहयोग की भावना बोलनगिरि की तरह यहां भी इतनी प्रबल है कि प्रत्येक सदस्य कोडागु जिले के गांवों के अनाज बैंक में हर साल 10 किलोग्राम धान 'मृत्यु-कोष' के रूप में जमा करता है। इसके पीछे भावना यही है कि परिवार में किसी की मौत हो जाने पर तेरहवीं या अन्य जरूरतों के लिए उस परिवार को अनाज की कमी महसूस न हो। यह गांवों में एक-दूसरे के बीच घनिष्ठ संबंध होने का ही उदाहरण है यही कारण है कि यहां अनाज-बैंक सफल सिद्ध हुए हैं। सफलता का दूसरा कारण यह है कि इनके ऊपर सरकार की परछाई नहीं पड़ी। अगर इस कार्यक्रम को देश के दूसरे भागों में अपनाना है तो वह ग्राम-पंचायतों और स्वैच्छिक संगठनों या फिर दोनों के मेल से ही किया जा सकेगा।

बोलनगिरि और कोडागु का यह खाद्य-सुरक्षा-प्रयोग सचमुच इस योग्य है कि देश के दूसरे भागों में भी दुहराया जाए। यह बात अब पूरी तरह साबित हो चुकी है कि अनाज को मुफ्त में बांटने से भूख और कुपोषण को खत्म नहीं किया जा सकता। तत्काल तो राहत मिलेगी, लेकिन यह भूख और कुपोषण का बीमा नहीं बन सकता। असल में खाद्य-सुरक्षा जनता के अपने बूते ही खड़ी की जा सकती है। जनता द्वारा, जनता के लिए। जरूरत है तो सही तरह की प्रेरणा की और समाज की सेवा करने और उसमें भागीदारी की प्रबल भावना की।

4. कृषि अनुसंधान की नीतियां

हरित-क्रांति के सुनहरे दिनों से इक्कीसवीं सदी में प्रवेश के समय तक दुनिया ने एक लंबा सफर तय किया है। इन 30 सालों में खेतीबाड़ी 'उत्तम बान' के पुराने चलन से निकलकर व्यापार बन गई। खेती की शकल ही नहीं बदली, उसका मिजाज भी बदल गया और वह भूख मिटाने की बजाय लालच मिटाने में जोती जाने लगी, जब कि लालच का तो कोई अंत नहीं है। कृषि-अनुसंधान में सरकारी पूंजी-निवेश की दर दिनोंदिन घटती चली गई और निजी क्षेत्र यहां भी हावी होने लगा। इस तरह कृषि अनुसंधान चौराहे पर आ गया और सोच में पड़ गया कि उधर जाए या इधर जाए।

दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कृषि अनुसंधान चलाने के लिए कुछ भने मानुषों ने 'सी जी आई ए आर' अर्थात् कंसल्टेटिव ग्रुप ऑन इण्टरनेशनल एग्रीकल्चुरल रिसर्च की स्थापना की थी। अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान का यह सलाहकार मंडल पूरे विश्व में 16 अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान संस्थान चलाता है। उन्हें वित्तीय सहायता देता है और वे किस दिशा में अनुसंधान करें, इसका मार्गदर्शन करता है। सभी सदस्य देश हर साल चंदा देते हैं और इस तरह दुनिया की खाद्य समस्या से निपटने पर सर्वांगीण दृष्टिकोण से अनुसंधान किया जाता है। इसी अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान तंत्र का सुफल है कि मैक्सिको में स्थित 'सिमिट' नाम से मशहूर अंतर्राष्ट्रीय गेहूं और मक्का अनुसंधान केन्द्र से निकली बौने गेहूं की किस्मों और संकर मक्का और संकुल मक्का ने, तथा मनीला के पास लास बानुस में स्थित इरी के नाम से मशहूर 'अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान' के बौने धानों ने विश्व में हरित-क्रांति की विजय पताका फहराई। भारत में हैदराबाद में स्थित 'इक्रीसेट' भी इसी तरह अर्धशुष्क क्षेत्रों के लिए पांच फसलों— चना, अरहर, मूंगफली, ज्वार तथा बाजरा पर अनुसंधान कर रहा है। जल प्रबंध के संस्थान आई.डब्ल्यू.एम.आई. का मुख्यालय श्री लंका में है। आलू का लीमा (पेरू) में है। वनस्पति संपदा के संरक्षण का संस्थान आई.पी.जी.आर.आई. रोम में स्थित है। भारत सहित पूरी दुनिया में इनकी शाखाएं और कार्यालय हैं, जहां सभी देशों के राष्ट्रीय कृषि तंत्र के साथ सहयोग से कृषि-समस्याओं के समाधान खोजने के प्रयास करने का लक्ष्य रखा गया था।

भारत के सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक डा. आर.एस.परोदा के प्रयासों से कृषि-अनुसंधान का एक अंतर्राष्ट्रीय मंच बनाया गया— जी.एफ.ए.आर. अर्थात् 'ग्लोबल फोरम फॉर एग्रीकल्चुरल रिसर्च'। इसमें स्वैच्छिक संगठनों को भी शामिल किया गया और सी.जी. आइ.ए.आर के संस्थानों को भी। जर्मनी में ड्रेसडन में इसकी बैठक हुई थी, जिसमें इस लेखक ने भी भाग लिया था।

यहां पता चला कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कृषि अनुसंधान में कितनी उथल-पुथल चल रही है। जहां कुछ लोग इसे अब भी विश्व की कृषि सेवा में लगाए रखना चाहते हैं, वहीं अमरीका जैसे बड़े दानदाता अपना हाथ खींचकर इस सम्पूर्ण कृषि अनुसंधान तंत्र को वित्तीय संकट में डाल रहे हैं।

विश्व बैंक का टिकाऊ विकास का उपाध्यक्ष सी.जी.आइ.ए.आर का अध्यक्ष हुआ करता है। उसने साफ कह दिया कि अगर उसके नेतृत्व को चुनौती दी गई तो विश्व बैंक जो सहायता देता है, उस पर पुनर्विचार करना होगा। लेकिन दान तो सभी देश देते हैं। वे विश्व बैंक के वर्चस्व को चुनौती दे रहे हैं। जिसे विभिन्न सरोकारियों के बीच कृषि-अनुसंधान और विकास में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के मुद्दों पर विचार-विमर्श कहा जा रहा था, असल में वह वित्तीय संसाधनों की तलाश की पेशकश थी। सोलह अंतर्राष्ट्रीय कृषि संस्थानों में से ज्यादातर आर्थिक संकट से जूझ रहे हैं। कृषि-कर्मियों में कटौती की जा रही है और सबसे दुखद पहलू यह है कि निजी कंपनियों का मुंह ताका जा रहा है कि वे मदद करें और अपने मतलब का अनुसंधान कराएं।

इसमें कोई शक नहीं है कि अगर कृषि-उत्पादकता में ऊंची उछालें लगानी हैं और सन् 2020 तक खाद्यान्न की आपूर्ति और जीविका-सुरक्षा का प्रबंध करना है, तो कृषि-अनुसंधान में अतिरिक्त पूंजी-निवेश करना ही होगा। लेकिन सरकारी पूंजी-स्रोत सूखने लगे हैं और 'परस्पर लाभ' के लिए निजी क्षेत्र को पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है।' यही है खतरा। इस अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान तंत्र से अब तक सामग्री, तकनीक और जानकारी बिना किसी रूकावट के सारी दुनिया में फैलाई जा रही थी। लेकिन अब लगता है कि चाहे चाहे आनुवंशिक संसाधन हों या नई किस्में और नई कृषि-विधियां अब वे गरीब देशों को मुफ्त में नहीं मिल पाएंगें। इस तरह टिकाऊ कृषि विकास के प्रयासों को धक्का पहुंच रहा है और ग्रामीण गरीबी मिटाने, खाद्य एवं पोषण सुरक्ष तथा जीविका-सुरक्षा सुनिश्चित करने के लक्ष्य अधर में लटक गए हैं। पता नहीं कब गिर पड़े और धराशायी हो जाएं।

यहां एक बात और विचारणीय है कि अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान संस्थानों में भी सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चल रहा। दानदाता देश यहां अपना वर्चस्व भी चाहते हैं और अपना एजेण्डा भी। सोलहो कृषि संस्थानों में कृषि-कर्मियों की संख्या भी बहुत अधिक है। इनमें से कितने लोग यों ही समय गंवा रहे हैं ओर कितने सचमुच कुछ अच्छा काम कर रहे हैं, यह भी विवाद के घेरे में हैं। शायद दिशाहीनता भी हावी हो गई है। पांच सबसे बड़े दानदाता देश अपनी धोंस जमाए रखते हैं। ये देश हैं – अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड। अब इनमें जापान भी शामिल हो गया है। असल में तो यह पूरा तंत्र विकासशील देशों की मदद के लिए खड़ा किया गया था, कि वहां कृषि की उत्पादकता बढ़े और साथ ही उनकी प्राकृतिक संपदा का संरक्षण हो। लेकिन विकासशील देशों की कृषि को अपनी जटिलताएं हैं। भारत जैसे देश तो इस अंतर्राष्ट्रीय कृषि तंत्र का लाभ अपने बल-बूते पर उठा पाए और कृषि में स्वावलम्बी बन गए। जबकि अफ्रीका के अधिकतर देश अब भी कृषि-समस्याओं से जूझ रहे हैं। भारत के सामने भी नई समस्याएं आ रही हैं। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय कृषि तंत्र का वर्तमान

स्वरूप विकासशील देशों की कृषि-समस्याओं को कहां तक सुलझा जाएगा, इस पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। इसमें बड़े दानदाता देशों की भूमिका संदिग्ध हो गई है। अमरीका तो इस बात से बौखला ही उठा है कि जो देश उसके पी.एल-480 के गेहूं पर पलते हुए उसकी जी-हुजूरी कर रहे थे, वे ही कृषि में आत्मनिर्भरता प्राप्त करके अब उसे मुंह चिढ़ा रहे हैं और आंखें दिखा रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कृषि-तंत्र पर छाया संकट उनका अपना भी बनाया हुआ है। उन्होंने कभी अपने भीतर झांककर नहीं देखा कि उनके अंदर क्या कमी है। क्यों उनके वैज्ञानिकों में वह जोश नहीं रहा और क्यों कृषि अनुसंधान ढीला पड़ता जा रहा है? के बदलते कृषि परिदृश्य में अपनी कृषि प्राथमिकताएँ बदलना जरूरी हो गया है। उदराहरण के लिए भारत में हैदराबाद में स्थित इक्रीसैट (इण्टरनेशनल क्रोप रिसर्च इन्स्टीट्यूट फॉर द सेमी एरिड ट्रोपिक्स) को अर्धशुष्क क्षेत्रों की कृषि विकसित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। इसमें केवल फसलों की उन्नत किस्में विकसित करना ही शामिल नहीं था, बल्कि कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रबंध-कौशल विकसित करना, मिट्टी और पानी पर अनुसंधान करना, समेकित कीट प्रबंध करना, मिट्टी पर रासायनिक अनुसंधान करना, कृषि प्रणालियों का ध्यान रखना – यह सब कुछ शामिल था। यह सूची बड़ी लम्बी है।

लेकिन सच में देखा जाए तो इक्रीसैट के पास सुधरी किस्मों के अलावा ऐसा कुछ खास नहीं है, जिसे वह अपनी उपलब्धि के रूप में प्रदर्शित कर सके। ये उन्नत किस्में इक्रीसैट ने राष्ट्रीय कृषि तंत्र में शामिल करने की कोशिश जरूर की है। कमोबेश यही बात अंतर्राष्ट्रीय मक्का और गेहूं अनुसंधान केन्द्र सी.आई.एम.एम.वाई.टी. और अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान आई.आर.आर.आई. पर लागू होती है। अगर सी.जी.आइ.ए.आर के संस्थानों के पास उन्नत किस्मों के सिवा दिखाने लायक कुछ भी नहीं है, तो ये संस्थान फसल-प्रजनन के संस्थान क्यों नहीं बन जाते? फसलों की किस्में सुधारने का ही काम चलाया जाए तो आधे बजट में ही काम चल जाएगा या शायद उससे भी कम खर्च में। तो क्यों न बाकी अनुसंधान विभाग बंद कर दिए जाएं? इससे जो वित्तीय संकट छा गया है, उससे भी छुटकारा मिलेगा।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विचारों की दरिद्रता का हाल यह है कि 'ग्लोबल फोरम फॉर एग्रीकल्चुरल रिसर्च' (जीफार) में चार ही वैज्ञानिक मुद्दों के इर्द-गिर्द चर्चा घूमती रही। ये मुद्दे हैं : आनुवंशिक संसाधन प्रबंधन और जैव प्रौद्योगिकी (बायोटेक्नोलोजी); प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और कृषि-पारिस्थितिकी (इकोलोजी) गैर-जिंस वाली फसलों की श्रृंखला के लिए अंतर्राष्ट्रीय अनुसंधान तथा नीति-निर्देशन और संस्थागत विकास। असल में तो सारा जोर जैवप्रौद्योगिकी पर दिया गया, ताकि निजी पूंजी-निवेश को बढ़ावा दिया जा सके। यह भी ऐसे समय, जब पूरी दुनिया में इस अपुष्ट प्रौद्योगिकी को लेकर बहस छिड़ी हुई है। असल में इस अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान मंच पर कृषकोन्मुख अनुसंधान पर बल दिया जाना चाहिए तथा परंपरागत ज्ञान और लोकविज्ञान की चर्चा की जानी चाहिए कि इसे कैसे जिंदा रखा जाए और इस्तेमाल किया जाए।

अनुसंधान के मुख्य क्षेत्र में वर्तमान सरोकारों में से, बहुत से शामिल किए गए हैं, लेकिन विडम्बना यह है कि अनुसंधान के लक्ष्य पूरे करने में दिशाहीनता व्याप्त है। लक्ष्य पाने के रास्ते ही गलत चुने गए हों, तो फिर लक्ष्य तक पहुंचेंगे भी तो कैसे? उदाहरण के लिए दो शोध-क्षेत्र ही लें— आनुवंशिक संसाधन प्रबंध और जैवविविधता का संरक्षण। जाहिर है कि इन निशानों को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब एकलकृषि रोकी जाए। हरित-क्रांति में प्रचलित एक-सी फसल की एक ही उन्नत किस्म बड़े पैमाने पर उगाने से एकलकृषि (मोनोकल्चर) के कारण परंपरागत फसलें और उनकी किस्में गायब होने लगी थीं। इससे आनुवंशिक सम्पदा का भी संरक्षण ठीक से नहीं हो पाया और न जैवविविधता बचाई जा सकी। अब फिर जैवप्रौद्योगिकी भी परोक्ष रूप से एकलकृषि को ही बढ़ावा देना चाहती है और वह भी बेहद जोरदार तरीके से। फिर हम कृषि शोध के लक्ष्य कैसे पूरे कर पाएंगे।

इस तरह की अदूरदर्शिता अंतर्राष्ट्रीय स्तर से टपकती हुई राष्ट्रीय स्तर पर भी पहुंच जाती है, क्योंकि हमारे वैज्ञानिक विचारों के लिए पश्चिम की ओर ही ताकते रहते हैं। उदाहरण के लिए आइ.सी.ए.आर (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद) भाकृअनुप हमेशा वही दुहराता रहा है, जो सी.जी.आइ.ए.आर के विश्व-तंत्र में चलता है। हालांकि भा.कृ.अनु.प के पास दुनिया का दूसरा विशालतम कृषि तंत्र है, लेकिन फिर भी अपने भीतर झांककर देशी कृषि प्रणालियों से सबक लेने की सोचता ही नहीं, जब कि देशी कृषि प्रणालियां 10-12 हजार सालों से टिकाऊ खेती की बुनियाद रही हैं। जब तक आइ.सी.ए.आर. किसानों को सिखाने की हिमाकत छोड़कर किसानों से सीखने की आदत नहीं डालेगा और किसानों को नौसिखिया समझता रहेगा, तब तक कृषि-अनुसंधान हमेशा अपने लक्ष्य से फिसलता और भटकता रहेगा।

स्वयं भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद स्वतंत्रता के बाद से काफी मोटापे की शिकार हो गई हैं। वक्त आ गया है जब इसकी चर्बी छंटनी चाहिए नहीं तो यह भी 'सफेद हाथी' बन जाएगा। इस पर भी पश्चिमी संस्थानों की तरह निजी क्षेत्र की लल्लो-चप्पो करने की परछाईं पड़ गई है और अपनी शोध-योजनाएं यह उन्हीं के अनुकूल बनाने लगा है। साथ ही शोध के स्तर पर कुछ ढीलापन और सुस्ती भी नजर आती है। भले ही इसका कारण यह हो कि कृषि वैज्ञानिकों के साथ सरकार सही बर्ताव नहीं कर पाई और उनकी उपेक्षा की गई, लेकिन बदलते, परिदृश्य में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद को भी लीक से हटकर चलना होगा। लीक से हटकर चलने में दिक्कतें तो आती हैं, लेकिन वह आवश्यक है। जो कठिनाइयां परिवर्तन लाने में अंतर्राष्ट्रीय कृषि तंत्र के सामने आ रही हैं, वही भारत के राष्ट्रीय तंत्र के सामने भी हैं। सरकार तो यों ही कृषि-शोध में कोई खास दिलचस्पी नहीं रखती ओर मौका मिलते ही बीज-उद्योग की तरह कृषि-शोध भी निजी क्षेत्र को सौंप देगी। ऊपर से अगर कृषि वैज्ञानिक भी सुस्त हो गए तो फिर कौन बचेगा किसानों का हितैषी इस देश में।

तिकड़मबाजी का विज्ञान

एक निजी टेलीविजन चैनल ने सी. आइ. आइ. के इस सुझाव पर मेरी राय जाननी चाही कि जीनियोगरी (जेनेटिक इंजीनियरिंग) के मामले पर आखिरी फैसला सर्वोच्च न्यायालय को करना चाहिए। यह मुद्दा तब उठा था, जब कर्नाटक में कुछ आंदोलनकारी किसानों ने खेतों में उग रहे जीनांतरित कपास के पौधों को उखाड़ कर जला दिया था।

दूसरे दिन मैंने अखबार में एक खबर पढ़ी तो मैं इस सवाल की असलियत जान पाया। इस रिपोर्ट में बताया गया था कि अमरीका का एक प्रतिनिधिमंडल भारत के चीफ जस्टिस से मिला था और उसमें जज और वैज्ञानिक मिलाकर कुल 10 अमरीकी विशेषज्ञ शामिल थे। उस समय श्री जे. एस. आनंद चीफ जस्टिस थे। श्री आनंद को इन अमरीकी न्यायविदों ओर वैज्ञानिकों ने समझाया कि बायोटेक्नोलोजी के क्या-क्या फायदे हैं। इस समाचार में अमरीका के 'आइंस्टाइन इन्स्टीट्यूट फॉर साइंस एण्ड हेल्थ' के अध्यक्ष डा. फ्रैंकलिन एम. ज्वीग तथा अमरीकी न्यायालय के हवाले से बताया गया था कि यह बैठक भारतीय जजों को यह समझाने के लिए की गई थी कि वे न्यायालयों में और न्याय प्रणाली में जन-सूचना का उपयोग कैसे करें।

इस अमरीकी प्रतिनिधि मंडल ने भारत के चीफ जस्टिस को अमरीका आने की दावत दी और यह सुझाव भी दिया कि वे भारत के जजों के लिए अमरीका में इस विषय पर 'वर्कशॉप' आयोजित कर सकते हैं। इस तरह उन्हें ट्रांसजेनिक फसलों और जीनों तथा बायोटेक्नोलोजी के बारे में पूरी तरह 'शिक्षित' किया जाना था। इस अमरीकी प्रतिनिधिमंडल में अमरीका में बसे कुछ भारतीय मूल के वैज्ञानिक भी शामिल थे। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि जीनियोगरी से जुड़े 'नैतिक प्रश्नों' को लेकर विविध राष्ट्रों के बीच वे समझौते भी कराना चाहेंगे। इसी तरह के दौरे इस अमरीकी प्रतिनिधिमंडल ने दुनिया के दूसरे देशों में भी किए, खासतौर से फिलिपीन्स, दक्षिण अफ्रीका, इजराइल, इटली, ब्रिटेन, नीदरलैंड्स और कनाडा भी ये लोग इसी उद्देश्य से गए।

लगभग उन्हीं दिनों भारत में स्थिति ब्रिटिश कौंसिल के कार्यालय ने छह बायोटेक्नोलोजी विशेषज्ञों की टीम ब्रिटेन से बुलाकर 'ब्राइट स्पार्क्स' नाम से भारत में एक कार्यक्रम आयोजित किया। ये वैज्ञानिक भारत के अनेक भागों में स्थित वैज्ञानिक संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों और कालेजों में गए। इनका उद्देश्य यह था कि लोकप्रिय व्याख्यान देकर बायोटेक्नोलोजी के बारे में जागरूकता फैलाई जाए। यह कार्यक्रम ब्रिटिश कौंसिल पिछले कई वर्षों से आयोजित कर रही है। अपने देश ब्रिटेन में वहां की सरकार को उपभोक्ताओं से पराजीनी खाद्य पदार्थों को लेकर काफी खरी-खोटी सुननी पड़ रही है और भयंकर विरोध का सामना करना पड़ रहा है। यूरोप के अन्य देशों में भी जनता अपने ऊपर बायोटेक-फूड थोपने के खिलाफ आवाज बुलंद कर रही है। ब्रिटेन की सरकार किसी तरह बायोटेक-उद्योग को खड़ा रखने के प्रयासों में जुटी है। इसी प्रयास का एक हिस्सा था 'ब्राइट स्पार्क्स' कार्यक्रम जिसके जरिए खसतौर से

बायोटेक्नोलोजी के बारे में 'अशिक्षित' हमारी नौकरशाही और राजशाही को 'शिक्षित' करने की कोशिश की गई।

वैज्ञानिक तो यह समझाते हैं कि इस सदी के आगामी ढाई दशकों में दुनिया का पेट भरने के लिए जीनियागरी का इस्तेमाल करना ज़रूरी है और इधर भारत सरकार ने किसानों को यह समझाना शुरू किया है कि वे अनाज वाली फसलों की बजाय व्यापारिक फसलें उगायें। जब गोदामों में जमा छह करोड़ टन से अधिक अनाज सड़ने लगा तो एफ. सी. आइ. ने भी हाथ खड़े कर दिए और किसानों से चावल-गेहूं- और अन्य फसलों की सरकारी खरीद में ढील डालनी शुरू कर दी। उधर मंडियों में किसान की गाढ़ी मेहनत से उगाई गई फसलों के ढेर लग गए। सरकार अब किसानों को सलाह दे रही है कि ज़्यादा मत पैदा करो।

अतः यह स्पष्ट है कि या तो सरकार खाद्य के मोर्चे पर उभरी चुनौती से बेखबर है, या फिर वैज्ञानिकों को जमीनी सच्चाइयों का नहीं पता। सच्चाई यह है कि वैज्ञानिक, खासतौर से बायोटेक्नोलोजिस्ट अपनी अनुसंधानशालाओं से परे नहीं देख पाते। उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि बदलते परिदृश्य में जैवप्रौद्योगिकी को विकसित देशों में ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन करने के साधन के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा है। दुनिया में कहीं भी अनुसंधान के इस क्षेत्र का उद्देश्य विकासशील देशों का खाद्यान्न-उत्पादन बढ़ाना और कृषि में सुधार लाना नहीं है, हालांकि इस तरह के दावे बहुत किए जाते हैं। जिस तरह से बढ़ती आबादी के कारण विकासशील देशों में जोतों का आकार घटता जा रहा है और छोटे किसानों पर कर्ज का बोझ बढ़ता जा रहा है, उसमें यह आशा करना मृग-मरीचिका ही माना जाएगा कि यह प्रौद्योगिकी साधनहीन किसानों का उद्धार करेगी ओर कृषि में उनका घटता जा रहा भरोसा फिर से मजबूत बना पायेगी।

भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश ही दुनिया में खाद्यान्न-उत्पादन बढ़ा सकते हैं। यहां अधिकतर किसान केवल साधनहीन ही नहीं हैं, उनकी बाजार और वित्तीय-ऋणों तक भी पूरी पहुंच नहीं है। साथ ही वे सूखे और अर्धशुष्क क्षेत्रों में रहते हैं या फिर सीधी ढलान वाले पहाड़ी इलाकों में। पीछे यह हुआ था कि हरित क्रांति आई और इनकी बगल से होकर गुजर गई। इसका कारण यह था कि जिस प्रौद्योगिकी ने हरित क्रांति पैदा की वह मंहगी थी और इन छोटे साधनहीन बारानी किसानों की ज़मीनें और कृषि-जलवायु उसके अनुकूल नहीं थी। जैव प्रौद्योगिकी उनकी मुसीबतें और भी ज़्यादा बढ़ा देगी। ये छोटे किसान अपनी परिस्थितियों के अनुकूल प्रौद्योगिकी अपनाकर ही अधिक पैदावार ले सकते हैं। जैवप्रौद्योगिकी में विशाल पूंजीनिवेश से इन छोटे किसानों का कोई भला नहीं होने वाला।

दूसरी ओर बायोटेक्नोलोजी से कृषि-सुधार की आशाएं इसलिए भी धूमिल हो जाती हैं, क्योंकि अधिकतर जैव-तकनीकें और उनमें काम आने वाले वंशाणुओं के पेटेण्ट बहुराष्ट्रीय कंपनियों और अमीर देशों के पास हैं। किसानों तक सुधरे बीज पहुंचाने की

कृषि-प्रणालियां भी बढ़ते निजीकरण की भेंट चढ़ती जा रही हैं। इनका पूरा ध्यान व्यापारिक खेती पर है, न कि छोटे किसानों पर।

इस समय अधिकतर वरिष्ठ शोधकर्ता बायोटेक-कंपनियों से गठबंधन किए बैठे हैं इसलिए एक तरह से उनके हाथ बंधे हुए हैं। जो कंपनियां अनुसंधान के लिए करोड़ों की धनराशि दे रही हैं, वे अनुसंधान से निकले उपयोगी परिणामों पर अपना अधिकार क्यों छोड़ने लगीं। ब्रिटेन की रॉयल सोसायटी का उदाहरण हमारे सामने है। सन् 1948 में स्कॉटलैण्ड के एक शोधकर्ता वैज्ञानिक को अकारण ही नौकरी से निकाल दिया गया। उसके बारे में मीडिया में काफी रिपोर्टें आईं कि उसके साथ किस तरह अन्याय किया गया। उसके शोधकार्य के नतीजे बायोटेक-कंपनियों के हितों के विरुद्ध जा रहे थे। अतः कंपनी के गुलाम वैज्ञानिकों ने उस पर हमले किए कि उसने मनगढ़ंत आंकड़े इकट्ठे कर लिए हैं। रॉयल सोसायटी विश्व में वैज्ञानिकों की सबसे समादृत संस्था है। उसने भी कंपनी का ही पक्ष लिया और मीडिया को लताड़ा कि वे सोसायटी द्वारा नामजद वैज्ञानिकों की राय ही छपा करें।

आजकल राजनेता और बड़ी-बड़ी कंपनियां 'साउण्ड साइंस' करने पर जोर देती हैं। पहले इसकी जगह 'गुड साइंस' का इस्तेमाल किया जाता था। इस तरह 'कल्याणकारी विज्ञान' की जगह 'युक्तियुक्त विज्ञान' ने ले ली। जब प्रतिकूल परिणाम सामने आते हैं, तो उसे 'साउण्ड साइंस' नहीं माना जाता और उसमें कोई न कोई दोष निकाला जाता है। इस साजिश में वे सरकारी एजेंसियां भी कई बार शामिल हो जाती हैं, जिन पर असल में जन-कल्याण को सर्वोपरि महत्व देने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। उदाहरण के लिए अमरीका के 'फूड एण्ड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन' (FDA) ने जीनांतरित खाद्य पदार्थों का पर्यावरण पर क्या असर पड़ेगा, इस सवाल को टाल ही दिया। बहुत बार इस तरह के मामलों पर जाने-माने विशेषज्ञों की राय न लेकर कुछ छुटभइयों से सलाह कर ली जाती है, जो अक्सर मोटी रकम के बदले में कंपनियों का हित साधने वाली राय देकर अपना ईमान गिरवी रखने में नहीं हिचकते।

भारत में भी सरकार का बायोटेक्नोलोजी डिपार्टमेण्ट सरे आम कहता फिर रहा है कि मोंसाण्टो-माहिको द्वारा बेचा जा रहा 'बी. टी- कपास' बिलकुल निरापद है और उसका पशु या मानव-स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा। ये घोषणाएं अनुसंधानकर्ताओं द्वारा किए गए परीक्षणों के परिणाम आने से पहले ही कर दी गई थीं। लेकिन इससे भी चिंताजनक बात यह है कि जनता की पूंजी से चल रहे संस्थानों और विश्वविद्यालयों के अधिकतर वैज्ञानिक इस मसले पर चुप्पी साधे रहे। वैज्ञानिक ही सच बोलना छोड़ देंगे, तो इस देश का क्या होगा। यह आधुनिक विज्ञान का सबसे बड़ा संकट है।

सड़ांध का भंडाफोड़

हालांकि अनेक स्वैच्छिक संगठनों ने आवाज उठाई थी, फिर भी भारत के किसानों पर 'बीटी कपास' लाद दिया गया। इसके पीछे जो वैज्ञानिक सड़ांध फैली है, उसका भंडाफोड़ हो चुका है। असल में इसकी पूरी जांच होनी चाहिए, नहीं तो वैज्ञानिक संगठनों से भी जनता का विश्वास उठा जाएगा।

तीन साल तक यहां-वहां किए गए छुटपुट परीक्षणों के बाद भारत सरकार के जैव प्रौद्योगिकी विभाग ने घोषणा कर दी कि बीटी कपास पर किए गए परीक्षण सफल रहे हैं और अब इसकी व्यापारिक खेती की जा सकती है। यह देश में खेती के लिए आधिकारिक तौर पर जारी की गई पहली पराजीनी फसल है। माहिको ने 'बी. टी कपास' का बीज बनाने और बेचने की अनुमति मांगी थी, जो कि 'महाराष्ट्र हाइब्रिड सीड कम्पनी' के नाम से बीज-व्यापार में संलग्न है और इस क्षेत्र की सबसे बड़ी भारतीय कंपनी है। इसने बहुराष्ट्रीय बीज कंपनी मॉसाण्टो के साथ गठबंधन किया हुआ है। डी. बी. टी ने परीक्षणों की रिपोर्ट पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की 'जी. ई. ए. सी' अर्थात् 'जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रूवल कमेटी' को भेजी, जिसने विवादास्पद 'बीटी कपास' का बीज किसानों को बेचने की इजाजत देने में कोई देर नहीं लगाई। इस तरह भारत में पराजीनी फसलों के प्रवेश के द्वार खोल दिए गए।

इस कपास में बी. टी यानी 'बेसीलस थूरिंजिएंसिस' नामक जीवाणु का वह जीन यानी वंशाणु डाला गया है, जिसके बारे में यह दावा किया जाता है कि वह कपास के हानिकार कीटों को मारने वाला जहर पैदा करता है। इसके परीक्षण पहले-पहल सन् 1998 में किए गए थे। डी. बी. टी (डिपार्टमेंट ऑफ बायोटेक्नोलोजी) द्वारा स्थापित 'मोनीटरिंग एण्ड इवेलुएशन कमेटी' (एम. ई. सी.) की स्वीकृति के बाद 'आर. सी. जी. एम' यानी 'रिव्यू कमेटी फॉर जेनेटिक मैनीपुलेशन' की राय ली गई। अंत में 'जी. ए. सी' की स्वीकृति प्राप्त की गई। राज्य सरकार ने स्वीकृति देने में देर लगाई, इसलिए सन् 1999 में फसल दो महीने देर से बोई गई थी। फिर भी परिणाम सकारात्मक निकले! यह कैसे हुआ। क्या बुआई में देरी का 'बी. टी. कपास' के बीजों के अंकुरण पर बुरा असर नहीं पड़ा? लेकिन कपास की बुआई और खेती की वैज्ञानिक सिफारिशों की अनदेखी कर के सभी कमेटियों को परीक्षणों के परिणाम 'संतोषजनक' लगे! अगले साल फिर से फसल तीन महीने देरी से बोई गई, फिर भी परिणाम संतोषजनक निकले!

इस प्रकार 'बी. टी. कपास' को दी गई सरकारी स्वीकृति नितान्त अवैज्ञानिक है।

अगर तीन महीने देरी से बोने पर भी बी. टी. कपास की फसल ने अधिकतम उपज दी, तो फिर कपास के विशेषज्ञ किसानों को तीन महीने देरी से फसल बोने की सिफारिश क्यों नहीं करते। जिस तरह से मामूली छुटपुट प्रयोगों के आधार पर माहिको को 'बी. टी. कपास' का बीज बनाने की छूट दी गई, वैसा ही कृषि-संस्थानों और विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों से क्यों नहीं कराया जाता? उन्हें क्यों नई किस्म का बीज

किसानो तक पहुंचाने में 10–15 साल लगते हैं? एक मौसम में उगाई गई फसल के आधार पर ही भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के विशेषज्ञों की वह शर्त भी पूरी हो गई, ऐसा मान लिया गया, जिसमें 'बी. टी. कपास' के पर्यावरण पर दीर्घकालिक प्रभाव परखने के लिए कहा था। ये तमाम खामियां इस सड़ांध की ओर ही इशारा करती हैं, जो देश के वैज्ञानिक तंत्र में फैलती जा रही है।

ये लोग यह भी कहते रहे हैं कि 'बी. टी. कपास' इस फसल की सभी कीटव्याधियों का इलाज नहीं है, बल्कि 'एकीकृत नाशीजीव प्रबंधन' (आइ. पी. एम) का अंग है। लेकिन वह आइ. पी. एम—प्रणाली कभी खोलकर नहीं बताई गई, 'बी. टी. कपास' भी जिसका हिस्सा बताया जाता है। असल में कृषि मंत्रालय ने कपास में 'आई. पी. एम' को बढ़ावा देने वाला कोई भी कार्यक्रम चलाया हो, ऐसा हमारे देखने में तो नहीं आया। जब 'जी. ई. ए. सी' को मध्यप्रदेश के उन 1100 किसानों का हवाला दिया गया जिन्होंने बिना रसायनों के कपास की सफल खेती की है, और अच्छी उपज ले रहे हैं, तो समिति के सदस्य वैज्ञानिकों ने इस बारे में पूरी अनभिज्ञता प्रकट की। विडम्बना यह है कि जिस तरह हमारे राजनेता जनता से कट गए हैं, वैसे ही हमारे वैज्ञानिक भी जमीनी जुड़ाव भूल गए हैं।

फिर भी जैवप्रौद्योगिकी को लपकने के लिए वैज्ञानिक तैयार हैं। अपनी नौकरी बचाने के लिए वे भी वैज्ञानिक—अनुसंधान में घटते पूंजी—निवेश से भयभीत होकर निजी कंपनियों से फण्ड जुटाने में कोई बुराई नहीं समझते। विज्ञान और उद्योग के बीच की विभाजन—रेखा निरंतर धुंधली पड़ती जा रही है और प्रयोगशालाएं उद्योग की चाकरी में गर्व अनुभव कर रही हैं। स्वयं वैज्ञानिक होने के कारण मुझे इस दारुण परिस्थिति पर बड़ा दुख होता है कि किस तरह हमारी वैज्ञानिक संस्थाओं का पतन होता जा रहा है और सीना ठोककर सचाई कहने वाले वैज्ञानिक इतने कम हैं कि अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं।

गुलाबों की सेज नहीं

सन् 1990 के बाद के दशक के मध्य की बात है, जब खेती में फूलों की चमक—दमक छाने लगी। सरकार ने भी बढ़ावा दिया और खुशबू और खूबसूरती की खेती सरपट दौड़ती हुई, काफी क्षेत्र में फैल गई। इस पुष्प—शक्ति के मोह में कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र तो मदमस्त हुए ही, इससे टपकते डालरों की खुशबू से कृषि की दृष्टि से सर्वोन्नत राज्य हरियाणा भी खिंचा चला आया।

गेहूं से गुलाबों की ओर इस दौड़ में हरियाणा ने ऊंची उछालें मारीं। वहां पुष्प—कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ खास कदम उठाए गए। गुलदाउदी (क्रिसेंथीमम) उगाने के लिए 1600 प्रदर्शन लगाने के वास्ते हरियाणा में गुलदाउदी की 200,000 पौध मुफ्त बांटी गई। इसी तरह गुलाबों की उन्नत किस्मों की 10,000 पौध वितरित की गई। इरादा यह था कि किसान कोई 2200 हैक्टर में फूलों की खेती करने लगें। लेकिन इस इरादे में यह नहीं सोचा गया कि अगर अच्छी उपजाऊ जमीन पर अनाजों

की जगह फूलों की खेती होने लगी, तो इस गेहूँ-धान क्षेत्र में पहले से डगमगाती टिकाऊ खेती की नैया का क्या होगा? इससे तो खाद्य-सुरक्षा के सारे मंसूबे ही फूलों की खुशबू की तरह हवा हो जाएंगे।

अमरीकी डालरों के लालच में कर्नाटक ने पुष्पोद्यानिकी में सबसे आगे रहने की ठान ली। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री एच.डी.देवगौडा ने सन् 1995 में ही 'निगमीय कृषि' (कोर्पोरेट फार्मिंग) के बीज बो दिए थे। इस तरह तभी से खाद्यान्न की जगह नगदी वाली फसलों की ओर झुकाव शुरू हो गया था, जिसमें फूलों की खेती भी शामिल थी। भूमि-सीमा में ढील देकर कोई 108 एकड़ तक जमीन खरीदने की छूट दी गई। इसी तरह अनेक सरकारी एजेंसियों से कहा गया कि वे व्यापारिक खेती करने वालों की मदद करें। जैसे कि राष्ट्रीय बागवानी बोर्ड ने बागवानी करने वालों के लिए अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देने के लिए वित्तीय सहायता देना शुरू किया। इसमें फूलों की खेती के लिए ग्रीनहाउस बनाना और दूसरे बुनियादी साधन विकसित करना शामिल था। कई तरह की छूट और रियायतें दी गईं। हर साल पुष्पकृषि (फलोरीकल्चर) को बढ़ावा देने के लिए 10 अरब रुपये की पूंजी लगाने का निश्चय किया गया।

इस धन-प्रवाह में छुपी हुई थी खाद्य सुरक्षा को डुबोने की साजिश और पर्यावरण की हानि। इस पर नजर गई बंगलौर में ही स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ एग्रीकल्चरल साइंसेज़ (यू ए एस) के दो वैज्ञानिकों डा.टी.एन.प्रकाश और डा.तेजस्विनी की। उन्होंने बंगलौर और उसके आसपास फैले फलोरीकल्चर-प्रभाव पर एक रिपोर्ट तैयार की, जो पुष्पकृषि से मोहित राजनेताओं की आंखें खोलने के लिए काफी है। उन्होंने गुलाबों की बागवानी को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि कर्नाटक की नई कृषि-नीति में जहां आर्थिक विकास और आर्थिक दक्षता पर जोर दिया गया है, वहीं सामाजिक और पर्यावरणीय टिकाऊपन की उपेक्षा की गई है।

हॉलैंड में पुष्पकृषि दुनिया में सबसे ज्यादा होती है। फूलों की अंतर्राष्ट्रीय मंडी भी वहीं है। लेकिन फूलों की खेती ने वहां की जमीनें इतनी खराब कर दीं कि वे खेती के काबिल ही नहीं रहीं। कीटनाशियों और उर्वरकों ने मिट्टी और पानी में भारी प्रदूषण पैदा कर दिया। यहां तक कि वहां के नागरिकों के स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो गया। फिर भी हालैंड जिसे नीदरलैंड भी कहते हैं और जहां के निवासी उच्च कहे जाते हैं, उन्होंने विश्व में फूलों के व्यापार में अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए एक आसान रास्ता निकाला। उन्होंने देखा कि भारत जैसे देश विदेशी पूंजीनिवेश के लिए पलक-पांवड़े बिछाए खड़े हुए हैं, तो उन्होंने अपने पुष्प-उद्योग को दूसरे देशों में फेलाने की रणनीति रची। अब हॉलैंड भारत के उद्योगपतियों और व्यापारिक घरानों को पौध सामग्री और ढांचागत सहारा दे रहा है। एक बार जब फूल तैयार हो जाते हैं तो उनकी बिक्री की जिम्मेदारी उच्च कंपनियां ले लेती हैं। इस फूलों की खेती में अगर कर्नाटक की जमीनें बरबाद होती हों तो हों, उनकी बला से। जबकि अपने यहां वे शोर भी बर्दाश्त नहीं करते। क्रिसमस के दिनों में यूरोप में गुलाबों की बड़ी मांग रहती है। जब बंगलौर से गुलाबों से लदा भारतीय विमान हालैंड में क्रिसमस की मांग का फायदा उठाने के लिए पहुंचा तो हालैंड की सरकार ने यह कहकर कि विमान शोर

ज्यादा कर रहा है, उसे वहां उतरने ही नहीं दिया ओर हारकर बंगलौर के गुलाब-व्यापारियों को विमान वापस लाना पड़ा और गुलाब देशी बाजार में सस्ते दामों पर बेचने पड़े। गुलाब जैसे फूलों की खेती में प्रति हैक्टर 60,000 तक पौधे उगाए जाते हैं। इन फूलों को अंतर्राष्ट्रीय मानकों के हिसाब से उगाया जाता है, इसलिए कृषि रसायनों की अंधाधुंध पिलाई की जाती है। फूलों को कीटव्याधियों ओर रोगों से बचाने के लिए हर हफ्ते दो बार कीटनाशी दवाओं का छिड़काव करना तो मामूली बात है। इसी तरह प्रति हैक्टर 47 टन से अधिक रासायनिक उर्वरक और 108 टन खाद लगानी होती है। इसके अतिरिक्त प्रति हैक्टर 212 एकड़-इंच पानी भी लगाना होता है। इस तरह भूजल का बड़ा भारी दोहन किया जाता है। यह खाद्यान्न वाली फसलों की सिंचाई की तुलना में चार गुना ज्यादा है। इस तरह की सघन खेती की कीमत मिट्टी और पानी की पर्यावरणीय हानि में चुकानी पड़ती है। जमीनों की उपजाऊ शक्ति घटते-घटते इतनी कम हो जाती है कि उनके बंजर होने का खतरा पैदा हो जाता है। इससे भूमिगत पेयजल भी प्रभावित होता है। उसमें भी कीटनाशियों और रासायनिक उर्वरकों का जहर मिल जाता है और फिर वह पीने लायक नहीं रहता। इस तरह आखिर में फूलों की खेती वाली जमीनें बेकार हो जाती हैं और खेती के लायक नहीं रहतीं।

फिर भी अगर आप अपने भारतीय अर्थशास्त्रियों से पूछेंगे, तो वे यही कहेंगे कि गुलाबों की खेती, दूसरी खेती से ज्यादा मुनाफा देती है। जिस बात की वे लोग उपेक्षा करते हैं, वह यह है कि अनाज के उत्पादन के लिए कर्नाटक सरकार ने वैसी बुनियादी सुविधाएं कहां दी हैं। डा. प्रकाश और डा. तेजस्विनी ने फूलों की खेती के कंप्यूटर-मॉडल बनाकर यह नतीजा निकाला कि जितने संसाधन और जितना पूंजी निवेश एक हैक्टर में गुलाब उगाने पर किया जाता है, वही अनाजों की खेती के लिए उपलब्ध कराया जाए तो 4,274 टन अतिरिक्त अनाज और 200,000 श्रम-दिवस का अतिरिक्त रोजगार सृजित किया जा सकता है। और यदि गुलाबों से विदेशी मुद्रा की कमाई की ही अनाजों के निर्यात से तुलना की जाए तो उतने डालर कमाने के लिए केवल 1256 टन अनाज ही निर्यात करना होगा। इस तरह आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा तथा पर्यावरणीय सुरक्षा की दृष्टि से फूलों की खेती की बजाय अनाजों की खेती ही चुनी जाए, यह वैज्ञानिक अध्ययन से सिद्ध हो चुका है।

फिर भी हमारे देश में कृषि-नीति निर्माता भला इससे कोई सबक क्यों लेने लगे। उन्हें तो फूलों की खेती का उच्च मॉडल अपनाते की धुन लगी हुई है। इसके लिए वे अपनी तकनीकें भी नहीं विकसित करना चाहते। सीधे हॉलैण्ड की प्रौद्योगिकी को देशी जमीनों में रोप देना चाहते हैं। सन् 1988 में राष्ट्रीय बीज नीति की घोषणा के बाद से ही देश में फूलों का उद्योग पनपा और फूलों के बीज बाहर से मंगाए जाने लगे। इनके साथ कम से कम 40 नई बीमारियां और कीटव्याधियां भारत में प्रवेश कर गईं। अपने देश में नागरिकों के विरोध के बाद हॉलैण्ड ने हरित-क्रांति की जन्मभूमि भारत को अपनी फूलों की खेती निर्यात कर दी, जब कि उसका असली फायदा उनके अपने फूलों के व्यापार को होगा। हां, यहां के कुछ अमीर घराने और भी अमीर हो जाएंगे।

यही नहीं, हालैण्ड किसी भी कीमत पर विश्व के पुष्प बाजार में अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहता है और भारतीय फूल व्यापारियों को हमेशा दायम दर्जे पर रखता है। भारत से भेजे जानेवाले ताजे कटे फूलों पर यूरोपी संघ ने 14 प्रतिशत की कस्टम ड्यूटी लगा रखी है। इस तरह से अंतर्राष्ट्रीय मंडी में भारती फूल बेचना मंहगा सौदा पड़ता है और अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में भारत का फूल-व्यापार पिछड़ रहा है। अमरीका ने भी ऐसी ही साजिश करके सन् 1994 में कोलम्बिया के फूल-उत्पादकों को नुकसान पहुंचाया था। उन पर 34 प्रतिशत 'एण्टी डम्पिंग टैक्स' ठोक दिया गया। जबकि उत्तरी अमरीका में सबसे ज्यादा गुलाब कोलम्बिया के ही बिकते हैं। इस तरह वहां गुलाबों की खेती करने वाले कोई 40,000 खेत-मजदूरों की रोजी-रोटी खतरे में पड़ गई।

बीज आलू भी बाहर से मंगाओ!

फूलों और सब्जियों के बाद अब बारी है आलू की। भारत सरकार पर निजी बीज उद्योग बराबर यह दबाव बनाए हुए है कि बीज-आलू के उत्पादन के लिए सरकार उन्हें बाहर से आलू की किस्में आयात करने की इजाजत दे दे। इसका मतलब है कि विदेशी आलू के साथ तमाम तरह के हानिकारक कीड़ों और रोगों को भारत में प्रवेश करने की दावत देना।

आश्चर्य की बात यह है कि यह मांग उस देश में उठाई जा रही है जो गृहयुद्ध की लपटों में घिरे र्वाण्डा देश में आलू की उजड़ी खेती को फिर से हरियाने के लिए कुछ साल पहले ही बीज-आलू की मांग पूरी कर चुका है। र्वाण्डा में आलू ही लोगों का मुख्य भोजन है। भारत ने र्वाण्डा की मदद के लिए वहां आलू का 'सच्चा बीज' तैयार करने की अपनी तकनीक भी पहुंचाने की पेशकश की। यह तकनीक सी जी आइ ए आर यानी अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान के सलाहकार मंडल की मार्फत पहुंचाने का प्रस्ताव रखा गया। आलू का 'सच्चा बीज' उस पर लगने वाले टमाटर-जैसे फलों से निकाला जाता है। जहां कंद से बीज-आलू इस्तेमाल करने पर पूरा ट्रक भरके आलू लाना पड़ेगा, वहीं सच्चे बीज से आलू की खेती करने पर उतना बीज आप अपनी जेब में भर कर ला सकते हैं। यह तकनीक भारत के दूर-दराज के पहाड़ी इलाकों में धीरे-धीरे प्रचलित हो रही है।

तो, जिन दिनों भारत अपने बीज-आलू से लुटे-पिटे-र्वाण्डा को राहत पहुंचा रहा था, उन्हीं दिनों भारत के निजी बीज-उद्योग ने यूरोप और अमरीका से आलू की किस्में मंगाने की मांग उठाई। वह तो अच्छा हुआ कि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आइ सी ए आर) के तत्कालीन महानिदेशक डा.आर.एस.परोदा ने तुरंत इसका विरोध किया, नहीं तो अब तक तो भारत में आलू की विदेशी किस्मों की भरमार हो गई होती और उनके साथ आई विदेशी बीमारियां और कीटव्याधियां हमारी खेती को चौपट कर चुकी होतीं। यही नहीं भारत का आलू-अनुसंधान और आलू की क्रांति भी धराशायी हो गई होती। उस समय केंद्रीय कृषि मंत्री श्री बलराम जाखड़ थे, जो कि विदेशी बीजों के बड़े हिमायती हैं। वे तो बीज-उद्योग की मांग के सामने एक तरह से घुटने टेक चुके

थे। लेकिन जब डा. परोदा ने विरोध की आवाज बुलंद की, तो पूरे मुद्दे पर विचार करने के लिए एक विशेषज्ञ-समिति नियुक्त करनी पड़ी। इस समिति ने पूरे आंकड़ों के साथ यह नतीजा निकाला कि बाहर से आलू की किस्में मंगाने की कोई जरूरत नहीं है।

इससे पहले सन् 1988 में नई बीज-नीति की घोषणा करके तत्कालीन भारत सरकार ने खासतौर से फूलों और सब्जियों के बीज बाहर से मंगाने के लिए भारत के द्वार खोल दिए थे। हालांकि उस बीज-नीति का भी वैज्ञानिकों ने विरोध किया था, लेकिन उनकी आवाज अनसुनी कर दी गई। हालांकि इस बीज-नीति में भी यह व्यवस्था की गई थी कि बाहर से मंगाया जाने वाले बीजों के नमूने पहले 'नेशनल ब्यूरो ऑफ प्लांट जेनेटिक रिसोर्सिज़ (एन.बी.पी.जी.आर) को भेजे जाएंगे। यहां उनकी जांच करके देखा जाएगा कि बीजों के साथ कोई रोग, कीटव्याधि या खरपतवार तो नहीं आ रहा। लेकिन बीज-व्यापारियों ने इसकी कतई परवाह नहीं की। यों कहने को तो हर हवाइ अड्डे पर बाहर से आने वाली पौध-सामग्री तभी आने दी जाती है, जब उसके पास बनी 'प्लांट-क्वैरंटीन' यानी 'पादप-संगरोध' की प्रयोगशाला में उसे जांच लिया जाए। लेकिन भारत के कस्टम-विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार के चलते कौन इसकी परवाह करता। इस तरह फूलों और सब्जियों के बीज एन बी पी जी आर और प्लांट क्वैरंटीन विभाग की नजर बचा कर लाए गए और उनके साथ कोई 100 विदेशी रोग और कीटव्याधियां भी आ गईं। इनमें से बहुत से विकट रूप धारण कर चुके हैं। चेन्नई में स्थित 'स्वामिनाथन् रिसर्च फाउण्डेशन' में 'इनवेजिव एलियन स्पीशीज' (आइ.ए.एस) पर ब्रिटेन की कृषि संस्था सी ए बी इण्टरनेशनल के सहयोग से एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन में सभी ने यह स्वीकार किया कि ऐसी भयंकर भूल आगे दुहराई न जाए। यहां पर बाहर से अब तक आए तमाम खरपतवारों, कीटव्याधियों और रोगों के बारे में जो आंकड़ें दिए गए, उनसे पता चला कि हर बार अरबों रूपयों का नुकसान करने वाले सैंकड़ों आक्रमणकारी रोगाणु भारतीय किसान और कृषि व्यवस्था के दुश्मन बने हुए हैं।

इन नए रोगों और कीटव्याधियों से निपटने में आइ सी ए आर के कृषि वैज्ञानिकों को कृषि-अनुसंधान पर ही अगले कई सालों तक अरबों रुपए खर्च करने पड़ेंगे। अगर बीज उद्योग के सामने झुककर कहीं सरकार ने बाहर से आलू मंगाने की हामी भर दी तो न जाने कितने वाइरस यानी विषाणु और दूसरे रोगाणु आ जाएंगे और उसी तरह आलू की देशी खेती को चौपट कर देंगे जैसे अंग्रेजों के जमाने में 'ग्रेट स्कॉट' नामक आलू की विदेशी किस्म के साथ आए 'गोल्डन निभेटोड' नामक सूत्रकृमि ने ऊटी (उदकमण्डलम्) में आलू की खेती नष्ट कर दी। जर्मनी की मदद से यहां फिर से आलू की खेती चालू कराने की बड़ी कोशिश की गई, लेकिन यह सूत्रकृमि वहां की मिट्टी में इतना बढ़ गया कि उसकी रोकथाम असंभव हो गई।

बाहर से आने वाले रोग और कीटव्याधियां पश्चिमी देशों की ठण्डी जलवायु में भले ही सुस्त और निष्क्रिय पड़े रहते हों, लेकिन भारत का गर्म और नम मौसम उन्हें बड़ा रास आता है। यहां आते ही वह तेजी से बढ़ते हैं और अनेक प्रकार के उग्र विभेद पैदा कर लेते हैं। कई बार विषाणु जैसे बेहद बारीक सूक्ष्मजीव तो जांचने पर भी पकड़ में

नहीं आ पाते। एक तो ये एककोशिका वाले जीव केवल ऐसे माइक्रोस्कोप यानी सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की पकड़ में आते हैं जो उन्हें लाखों गुना बड़ा कर के दिखा पाएं। दूसरे, बीजों में वे बहुत कम मात्रा में मौजूद होते हैं। इसलिए वैज्ञानिकों और क्वैरंटीन कर्मियों की नजर से बचकर निकल सकते हैं।

अवांछित रोग और कीट व्याधियों की आशंका के अलावा भी यह सवाल उठता है कि आखिरकार बीज-आलू बाहर से क्यों में मंगाया जाए? भारत का बीज-उद्योग इस सवाल के जवाब में यह तर्क देता है कि भारत में आलू की जो भी किस्में उपलब्ध हैं, उनमें से कोई भी आलू के चिप्स वगैरह बनाने के काबिल नहीं हैं। उनकी प्रोसेसिंग नहीं जा सकती। वे यह भी मानते हैं कि भारतीय आलुओं की क्वालिटी अच्छी नहीं है और उनकी उपज-क्षमता भी कम है।

यही कारण 'पेप्सी फूड्स' कम्पनी ने भी गिनाए, ताकि उसे बाहर से आलू मंगाने की स्वीकृति मिल जाए। कुछ साल पहले इस बहुराष्ट्रीय कम्पनी के तत्कालीन प्रबंध निदेशक श्री रमेश वांगले ने इस लेखक को बड़े विस्तार से यह समझाने की भरपूर कोशिश की थी कि 'पेप्सीफूड' विदेशों में जो आलू पैदा करती है, वह कितना उम्दा है और उसमें कितनी खूबिया है। वांगले का कहना था कि मैक्सिको और वेनेजुएला में आलू-क्रांति लाने का श्रेय 'पेप्सीफूड' कंपनी को है और भारत में भी उसे अपना आलू लाने दिया जाए तो भारत के किसान मालामाल हो जाएंगे। लेकिन वांगले के तर्क मुझे संतुष्ट नहीं कर पाए, क्योंकि मैंने शिमला में वर्षों तक कृषि-पत्रकारिता की और देखा कि वहां का केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान किस तरह आलू की एक से बढ़कर एक उम्दा किस्में किसानों को देकर भारत में पहले ही आलू-क्रांति ला चुका है।

फिर भी सरकार ने 'पेप्सीफूड्स' को आलू की छह किस्में लाने की स्वीकृति दे दी। गनीमत यह है कि इसके साथ शर्त लगा दी कि ये किस्में पहले शिमला के सी.पी.आर. आई अर्थात् सेंट्रल पोटैटो रिसर्च इंस्टीट्यूट में परखी जाएंगी। वहां जब उनकी तुलना भारतीय किस्मों से की गई, तो एक भी विदेशी किस्म ऐसी नहीं निकली, जिसमें भारतीय आलुओं से बढ़कर कोई खूबी हो। आज भी यह सच है कि यूरोप और अमेरिका में आलू की जो भी किस्में उगाई जा रही हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जो भारत की किस्मों से बेहतर हो। मजेदार बात यह है कि जहां भारतीय बीज-उद्योग बाहर से बीज-आलू मंगाने को आतुर है, वहीं पश्चिम एशिया के अनेक देश आलू की भारतीय किस्मों के दीवाने हैं और सी.पी.आर.आई. का बीज-आलू मंगाकर अपने यहां आलू की प्रोसेसिंग इंडस्ट्री खड़ी करना चाहते हैं। कुछ साल पहले म्यांमार (तब का बर्मा) ने भारत से भारी मात्रा में बीज-आलू देने का अनुरोध किया था। वह तो हमारे यहां की सरकारी मशीनरी इतनी सुस्त है कि दो साल तक म्यांमार की आलू की पुकार फाइलों में दबी रही। आखिर कब तक इंतजार करता। हारकर म्यांमार को हॉलैण्ड से बीज-आलू मंगवाना पड़ा।

उपज के रिकार्ड

यह सही है कि अमेरिका में जहां आलू की औसत उपज 35 टन प्रति हैक्टर होती है, वहीं पंजाब में 22 टन प्रति हैक्टर से ऊपर नहीं जा पाती। लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि पंजाब के किसान आलू की घटिया किस्में उगा रहे हैं। उपज कम इसलिए है कि मौसम में फर्क है। भारत में भी लाहौल-स्पीती की पहाड़ी घाटी में आलू की उपज का विश्व-रिकार्ड बनाया जा चुका है। 48 टन प्रति हैक्टर। हालैण्ड में 40 टन प्रति हैक्टर की उपज ली गई है और वह दूसरे नंबर पर आता है। लेकिन सी पी आर आइ शिमला की जिस 'कुफ़ी चंद्रमुखी' किस्म ने लाहौल स्पीती में 48 टन प्रति हैक्टर का विश्व-रिकार्ड बनाया, वही किस्म पंजाब के मैदानी इलाकों में 20 टन प्रति हैक्टर से अधिक उपज नहीं दे पाती। इस तरह जलवायु और मौसम के सिवा इस फर्क का कोई और कारण नहीं है।

जहां तक निजी व्यापारियों का प्रश्न है, उनके लिए तो बीज बस एक और जिंस है। उन्हें इस बात की कोई फिक्र नहीं है कि भारतीय बीज अनुसंधान और विकास को अंतर्राष्ट्रीय स्तर का बनाया जाए। वे तो बस बाहर से बीज मंगाकर मालामाल होना चाहते हैं। लेकिन अन्य उपभोक्ता-वस्तुओं की तरह बीजों को बाहर से मंगाने की खुली छूट नहीं दी जा सकती। बीज एक जानदार चीज है। उसके साथ तमाम तरह की मुसीबतें आ सकती हैं। बल्कि जानबूझकर भेजी जा सकती हैं। निजी बीज उद्योग के हर तरह के दबाव का सरकार को डटकर सामना करना होगा और खासतौर से आई. सी.ए आर को ध्यान रखना होगा कि उसके सामने घुटने नहीं टेकने हैं। साथ ही आई. सी.ए आर को यह जिम्मेदारी भी निभानी पड़ेगी कि विदेशी बीजों के साथ बीमारियां और कीड़े-मकोड़े न आने पाएं। सरकार को कड़ा रुख अपनाकर पश्चिमी देशों को उन्हीं के तर्क से पछाड़ना होगा। वे कहते हैं कि 'जो प्रदूषण पैदा करे, वही उस का हर्जाना भरें।' इसी तर्क से अगर वे बीजों के साथ रोगाणु और कीटाणुं भेजते पकड़े जाएं तो जो कंपनियां इन बीजों को ला रही हों, वे हर्जाना दें।

भाग दो

कृषि के विरुद्ध जैव-युद्ध

5. जीन यानी वंशाणुओं से छेड़-छाड़

अफगानिस्तान में हिमालय की हिन्दूकुश पहाड़ियों के ऊपर 35000 फुट की ऊंचाई पर विमान उड़ रहा था। तभी जहाज में सबकी सीट पर लगे विडियो-स्क्रीन पर समाचार वाचक ने एक समाचार दिया कि एडिनबरा में रोजलिन इंस्टीट्यूट के वैज्ञानिकों ने भेड़ की क्लोनिंग कर दी हैं यानी कलमी भेड़ बना दी है।

अगले सात दिनों तक संचार माध्यमों में यह कलमी भेड़ छाई रही, जिसका नाम वैज्ञानिकों ने डौली रखा था। चाहे रोम में ईसाई धर्म का मुख्यालय वेटिकन हो, या अमरीकी राष्ट्रपति का कार्यालय व्हाइट हाउस या फिर नई दिल्ली का चांदनी चौक, हर जगह डौली की ही चर्चा। दूरदर्शन और समाचार पत्रों की सुर्खियों में जहां राजनेताओं की भेड़चाल छपा करती थी, वहां खुद भेड़ आ गई। बहुत से लोग अचंभे में थे, तो कुछ लोग टी.वी पर इस नई-वैज्ञानिक खोज के बारे में प्रसारित समाचारों को देखते, उतने ही भ्रमित होते। चर्च के मठाधीशों ने फटकारा कि यह ईश्वर के धंधे में उसके बंदे की दखलंदाजी है और इस पर पाबंदी लगनी चाहिए। अमरीकी राष्ट्रपति ने तुरंत घोषणा कर दी कि अमरीका में क्लोनिंग पर पाबंदी लगा दी गई है। वैज्ञानिक बंट गए। कुछ क्लोनिंग के पक्ष में थे तो कुछ उसका विरोध कर रहे थे। जनता कभी इनको सुनती तो सोचती कि अब तो आदमी अमर हो जाएगा। अपना क्लोन बनवा लेगा। विरोधी आवाजें सुनती तो सोचती, “हे राम! कहीं ये दानव न बना डालें। कहीं कोई हिटलर का क्लोन न बना ले!”

आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक माध्यम हमारी जिंदगी में इतनी गहराई तक बैठ गए हैं कि सूचना और मनोरंजन का विचित्र घालमेल हो गया है। जैव प्रौद्योगिकी और जिनियागरी की खबर भी ऐसी मसालेदार परोसी जाती है कि धारावाहिकों में और इस उभरते विज्ञान की खबरों में कोई फर्क ही नहीं लगता। धारावाहिक भी सपने दिखाते हैं और जैव प्रौद्योगिकी भी यही करती है। अधिकतर दर्शक जिनियागरी को कीमियागरी की तरह जादूगरी ही समझते हैं – कीमियागरी पारे से सोना बनाने का दावा करती रही और जीनियागरी मिट्टी को सोना बनाने के सब्जबाग दिखा रही है। जहां तक पत्रकारों का सवाल है, उन्हें जीनियागरी (जेनेटिक इंजीनियरिंग) से ऐसी चटपटी खबरें मिलती हैं कि पाठक चटखारे लेकर पढ़ें और संपादक पहले पन्ने पर छापें तथा रेडियो और टीवी चौबीसों घण्टे मुख्य समाचारों में शामिल करते हैं।

देखते ही देखते डौली सारी दुनिया की जुबान पर आ बैठी। उसके बाद पैदा हुई उसकी मौसेरी बहिन पौली। यह तो बस शुरूआत थी। बस यों समझिए कि जोनियागरी ने भानुमती का पिटारा ही खोल दिया। वैज्ञानिक कहने लगे कि यह जीवन के विकास का नया दौर शुरू हुआ है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में न्यूटन-प्रोफेसर प्रसिद्ध तारा

भौतिकीविद् डा. स्टीफन हॉकिंग ने व्हाइट हाउस में सहस्राब्दी व्याख्यान दिया तो उन्होंने घोषणा कर दी कि अगले एक हजार सालों में एक नया इंसान गढ़ लिया जाएगा। उन्होंने कहा कि “मैं यह नहीं कह रहा कि मानव की जीनियोगरी कोई अच्छी बात है। मैं बस यह कह रहा हूँ कि हम चाहे पसंद करें या नापसंद, अगली सहस्राब्दी में यह होने वाला है।” प्रो. हाकिंग ने चेतावनी दी थी, जिसमें पूरी सचाई है।

लंदन के सुप्रसिद्ध समाचार पत्र ‘द गार्जियन’ में लिखते हुए टिम रैडफोर्ड ने प्राकृतिक वरण की विकास प्रक्रिया को भंग किए जाने का खतरा बताया। असल में टिम प्रिंसटन यूनिवर्सिटी के डा.ली सिल्वर की किताब ‘रीमेकिंग ईडन’ का जवाब दे रहे थे। ईडन उस काल्पनिक नंदन वन का नाम है, जहां बाइबिल के अनुसार आदम और हव्वा ने पहला आदमी पैदा किया और मानव-जाति की शुरुआत की। टिम रैडफोर्ड ने अपने आलेख में जनन-जैविकी के विश्वविख्यात विशेषज्ञ लार्ड विन्स्टन का उद्धरण दिया है। वे आनुवंशिकी की तुलना रोबोटिकी और कंप्यूटर-विज्ञान से करते हुए कहते हैं कि “अचानक वैज्ञानिकों ने डी.एन.ए चिप खोज लिया। यह कंप्यूटर-चिप की तरह ही समझिए। बस इस चिप पर आप डी.एन.ए में मौजूद जीन यानी वंशणु की पहचान करने वाले कोई दस लाख बूंदक रख सकते हैं। ये बारीक बूंदें हमारे 30,000 या 40,000 जितने भी वंशणु हैं, उनमें से हरेक की पहचान कर सकती हैं। अब इस डी.एन.ए चिप पर आप मनुष्य के सबसे मुख्य वंशणु के कोई दस रूप रख दीजिए। और फिर खून की बूंद या किसी कोशिका को इस चिप पर रख दें। बाकी काम डी.एन.ए चिप कर डालेगी और बता देगी कि हमारी देह में कौन-कौन से वंशणु हैं।”

मानव का वैज्ञानिक नाम है ‘होमो सैपिएन्स’। अब नया होमो सैपिएन्स गढ़ना तो बड़ी दूर की कौड़ी है। कम से कम अगले कुछ सालों में तो यह होने वाला नहीं है। लेकिन वंशणु में हेर-फेर करने की तकनीक वैज्ञानिकों के हाथ लग गई है। वे ऐसे जीव बना रहे हैं जिनमें दूसरे जीवों या पराए जीवों के जीन डाले जा रहे हैं। ये पराजीनी प्राणी ओर पराजीनी फसलें प्रकृति में छोड़े जाने पर विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया में क्या गुल खिलाएंगी, इसका पता किसी को नहीं है। इसी तरह जीनियोगरी से तैयार तमाम तरह की चीजें और दवाएं बनाने के दावे भी किए जा रहे हैं। इस पीढ़ी में या अगली पीढ़ी में इनका क्या असर पड़ेगा, यह कोई नहीं बता सकता। यही कारण है कि पूरी दुनिया में इस प्रौद्योगिकी का विरोध किया जा रहा है। असल में आज के विज्ञान-जगत में जीनियोगरी से अधिक विवादास्पद विषय कोई और नहीं है। चाहे हम मानें या न मानें, लेकिन इसके कारण जो खतरे पैदा हो सकते हैं, उनसे आगाह करने में मीडिया ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मीडिया इस प्रौद्योगिकी के संभावित खतरों से बचने के बारे में भी दुनिया को चेता रहा है। असल में इस प्रौद्योगिकी को पूरी तरह जांचे-परखे बिना बड़ी हड़बड़ी में बाजार में लाया जा रहा है। अब कृषि से जुड़ी जीनियोगरी पर ही एक निगाह डालें। कहा जा रहा है कि जैव प्रौद्योगिकी के उपयोग से कृषि में क्रान्ति आने वाली है। विचार और व्यवहार के बीच का अंतर यहां मिट रहा है, यह भी दावा किया जाता है। इस सदी के मोड़ तक इसी तकनीकी से खेती का चेहरा-मोहरा ही बदलने के वायदे किए जा रहे हैं। खाद्य-उद्योग की निगाहें

भी इसी पर टिकी हैं। असल में एक वर्ग बायोटेक्नोलोजी ओर जेनेटिक इंजीनियरिंग को हर मर्ज की दवा बता रहा है।

मीडिया का बायोटेक बोध

मीडिया की समझ इस बारे में बहुत साफ है। वह समझता है कि इक्कीसवीं सदी में बायोटेक—उद्योग को सबसे ऊपर चढ़ाकर प्रचारित किया जा रहा है और पूरी सदी को ही 'जैव—सदी' कहा जा रहा है। इसके पीछे वे तमाम कंपनियां और उनसे जुड़ी वे वित्तीय संस्थाएं हैं, जो जैव प्रौद्योगिकी को किसी भी तरह भुनाना चाहती हैं। इसीलिए पर्यावरण से जुड़े मुद्दों की पूरी जांच किए बगैर ही जैव प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने पर तुली हुई हैं। अधिकचरी जांच से यहां काम चलेगा नहीं और पूरी जांच में लंबा समय लगेगा। लेकिन बायोटेक—उद्योग इतना लंबा इंतजार करने के लिए राजी नहीं है। इसकी जगह वे पर्यावरण पर बायोटेक के असर के बारे में भी झूठे दावे करते हैं, जिसके लिए 'ब्रेनवाशिंग' की तर्ज पर अंग्रेजी में 'ग्रीनवाशिंग' चल पड़ा है। दिमागों की हरी धुलाई करने के लिए यह दावा किया गया कि जीवनांतरित फसलें आपनी नाइट्रोजन की जरूरत सीधे हवा से इस पोषक तत्व को खींचकर पूरी कर लेंगीं। फिर रासायनिक उर्वरक लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी और किसानों का खर्चा भी बचेगा तथा पर्यावरण में प्रदूषण भी नहीं फैलेगा। इसी तरह दूसरा बड़ा दावा किया गया कि पराजीनी फसलों में ऐसे वंशाणु (जीन) होंगे, जो हानिकारक कीड़ों के खिलाफ ज़हर पैदा करेंगे और फसलों को बीमारियों से भी बचाएंगे। लेकिन निकला क्या? ऐसी फसलें विकसित की गईं, जिनमें खरपात—रोधी जीन डाले गए हैं। इनको उगाया जाए तो खरपात—नाशी रसायनों का इस्तेमाल और भी बढ़ जाता है, क्योंकि फसल पर तो असर होगा नहीं, सो खरपातों को मारने के लिए अंधाधुंध छिड़को। और वह भी उसी कंपनी का जिसने वह पराजीनी फसल निकाली है। मतलब यह कि बीज भी मेरा और हर्बीसाइड (खरपतवार नाशी दवा) भी मेरी। चित भी मेरी, पट भी मेरी। बायोटेक कम्पनी यही करती आ रही हैं।

बहुत से पत्रकार इन कम्पनियों के झांसे में आ जाते हैं। उनके लिए तरह—तरह के प्रलोभन भी हैं और चमक—दमक वाले रंगीन प्रकाशन भी। यही नहीं बिकने को तैयार वैज्ञानिकों से पत्रकार—सम्मेलनों में बायोटेक की सिफारिश कराई जाती है। उनकी तकनीकी भाषा उन पत्रकारों के पल्ले नहीं पड़ती, जिन्होंने आनुवंशिकी की बारीकियां समझी नहीं है या जिन्होंने जीवविज्ञान की शिक्षा प्राप्त नहीं की है। अतः ऐसे पत्रकारों के लिए विशेष प्रशिक्षण—कार्यक्रम चलाना जरूरी है ताकि वे किसी के कहने पर नहीं, खुद इस बारे में फैसला कर सकें। अनेक स्वैच्छिक संगठन जब बायोटेक संबंधी मुद्दों पर पत्रकारों से बातचीत करते हैं, तो चीजें काफी साफ हो जाती हैं और उसके बाद प्रेस में सही रिपोर्ट आने लगती हैं। लेकिन बायोटेक—उद्योग के पास साधनों की कमी नहीं है और वह प्रेस को प्रभावित करने के हथकण्डे जानता है। जो उसके झांसे में आ जाते हैं, वे उनकी प्रेस विज्ञप्तियां ज्यों की त्यों छाप देते हैं। बी टी—कपास के नुकसानों के बारे में स्वैच्छिक संगठनों ने कितना चेताया फिर भी 'किसानों को फायदा हो रहा है' यह दलील देकर उस पर सरकारी मुहर लगवा ली गई। इसके लिए कहां

किस तरह दबाव डलवाया गया और प्रेस को किस तरह पटाया गया, इस बारे में शोध की जानी चाहिए। वस्तुतः 'जैव प्रौद्योगिकी की राजनीति' का अपने देश में अभी उस तरह से भण्डाफोड़ नहीं किया जा सका, जैसे यूरोप और दूसरे देशों में हुआ। कारण यही है कि अपने यहां सारे काम चोरी छुपे होते हैं और सरकारी कामकाज में 'गोपनीयता' के नाम पर पारदर्शिता को नकार दिया जाता है।

मीडिया को बायोटेक-उद्योग की यह साजिश तो समझ में आ गई है कि वह बीज-उद्योग कृषि-उद्योग और खाद्य-उद्योग को हड़पना चाहता है। फिलहाल जिन तकनीकों को बायोटेक-उद्योग प्रचारित कर रहा है, उनमें ऐसे पराजीनी टमाटर हैं, जो 40 से 90 दिन तक ताजा बने रहते हैं और खराब नहीं होते। इसी तरह ऐसा पराजीनी-कपास प्रचारित किया जा रहा है, जिसके रेशे ज्यादा मजबूत हैं। इसी तरह पराजीनी केले, पराजीनी आलू और पराजीनी टमाटर से अनेक रोगों के टीके प्राप्त किए जा सकेंगे और इन टीकों की अलग से सुइयां नहीं लगवानी पड़ेंगी, यह दावा भी किया गया है। ये तमाम तकनीकें या तो फेल हो चुकी हैं या फिर उन पर प्रयोग चल रहे हैं और बाजार में आने में आठ-दस साल तो लग ही जाएंगे। इनके प्रचलित होने से निश्चय ही कृषि और खाद्य संबंधी वर्तमान परिदृश्य प्रभावित होगा। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभाव कैसा होगा— सकारात्मक या नकारात्मक।

यह भी दावा किया जा रहा है कि पराजीनी फसलों की कुछ किस्में इतनी सूखारोधी होंगी कि उन्हें रेगिस्तानी और बंजर जमीनों में भी उगाया जा सकेगा। लेकिन ये वायदे कितने भरोसेमंद हैं, इनमें संदेह है। जहां तक इस क्षेत्र में चल रहे वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रश्न है, उनका प्रेरणा-स्रोत एक ही है, लालच। इनका उद्देश्य खाद्य-पोषण-सुरक्षा प्रदान करना नहीं है, केवल तिजोरियां भरना है। इनसे छोटे किसानों का कतई भला नहीं होगा, जब कि 90 प्रतिशत जोतें हमारे देश में छोटी हैं— दो हैक्टर से कम। ये बायोटेक-बीज या बायोटेक-उत्पाद इतने महंगे होंगे कि उन्हें छोटे किसान नहीं खरीद पाएंगे। एक और खतरा यह पैदा होगा कि अनाज की जगह नगदी फसलें उगाने पर ज्यादा जोर होगा। इस तरह परंपरागत टिकाऊ कृषि प्रणाली पर जैव प्रौद्योगिकी भारी दबाव डालेगी और कुल मिलाकर भारतीय कृषि पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और विषमता बढ़ेगी।

सबसे बड़ी समस्या यह है कि अभी तक जैव प्रौद्योगिकी को विज्ञान-जगत भी ठीक से नहीं समझ पाया है। लेकिन यह जीवन-मरण का प्रश्न है, इसलिए इसे 'संदेह का लाभ' भी नहीं दिया जा सकता। इसीलिए पत्रकार जब बायोटेक का विरोध करते हैं, तो सही करते हैं। मई 1999 में ब्रिटिश मेडीकल एसोसिएशन ने 'जी.एम.फूड' संबंधी अपनी अंतरिम रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उस रिपोर्ट में कहा गया है कि "आनुवंशिक रूपांतरण की है वर्तमान स्थिति ऐसी है कि यह गारण्टी नहीं दी जा सकती कि इसमें गलतियां नहीं होंगी। खतरों की बजाय जब हम फायदे गिनाने लगते हैं, तो हमसे भूल होना स्वाभाविक है, क्योंकि अभी तक इस क्षेत्र में जो भी अनुभव हुए हैं उन सबसे सबक लेना बाकी है।"

‘विकास-पत्रकारिता’ परंपरागत मीडिया का प्रबल पक्ष रहा है, लेकिन वे ‘भले’ या ‘बुरे’ के परे नहीं जा पाते। जब पर्यावरण की चिंता सताई तो ‘विकास-पत्रकारिता’ एक तरह से पर्यावरण-वादियों की पक्षधर बनकर स्वयं ही आंदोलनकारी बन गई थी। इसके फायदे भी हुए और नुकसान भी। अब जैवप्रौद्योगिकी ने भी पत्रकारों को समस्या की जड़ में जाने का मौका दिया है। आगे हम देखेंगे कि जैवप्रौद्योगिकी के विज्ञान और राजनीति को समझने की किस तरह कोशिश की गई है।

दानवीय बीज

आज भारत के किसानों को एक अलग तरह के जैव-युद्ध का सामना करना पड़ रहा है। इस जैव-युद्ध का हथियार है जीनियोगरी से तैयार बीज। लगभग 80 देशों में इन पराजीनी बीजों के पेटेंट लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने इन बीजों को अपनी बपौती बना लिया है। यानी ये कंपनियां ही इन बीजों को तैयार करके बेच सकती हैं – मनमाने दामों पर। अब यह हथियार बीज-उद्योग के जरिए भारत के किसानों की गर्दन नापने के लिए तैयार है। शुरुआत बीटी-कपास के बीजों से हुई है।

इस दानवीय बीज का सबसे भयंकर रूप आया है टर्मिनेटर की शकल में। अमरीका के कृषि विभाग (यू.एस.डी.ए.) और कपास का बीज बनाने और बेचने वाली कंपनी डेल्टा एण्ड पाइन लिमिटेड ने संयुक्त रूप से एक तकनीक विकसित की है, जो किसी भी फसल में डाली जा सकती है। इस तकनीक के तहत बीज की अंकुरण-क्षमता नियंत्रित की जा सकती है। ऐसे जीन यानी वंशाणु निकाले गए हैं, जो बीज को जब चाहें अंकुरित होने से रोक सकते हैं। इन वंशाणुओं से लैस बीज पहले साल तो अंकुरित होंगे। लेकिन अगर किसान ने अपनी पहले साल की फसल से बीज लेकर दूसरे साल बोने की कोशिश की तो बीज के अंदर मौजूद टर्मिनेटर जीन चालू हो जाएगा और अंकुरण-क्रिया को ठप्प कर देगा। इस तरह दूसरे साल खेत में एक भी पौधा नहीं उपजेगा और एक भी दाना पैदा नहीं होगा। मतलब यह कि हर साल बाजार से बीज खरीदना पड़ेगा।

एक तरह से इस टर्मिनेटर टेक्नोलॉजी को अपनाकर बहुराष्ट्रीय कंपनियां पूरी दुनिया के बीज-उद्योग की मार्फत पूरे खाद्यान्न-उद्योग को अपने काबू में कर लेंगीं। जब चाहा बाजार में ये बीज पहुंचाकर फसलें उगाने के लिए उपलब्ध करा दिए। अगले साल रोक लिए, तो बाजार में अनाज की कमी करके उसके दाम बढ़ा लिए। यानी संपूर्ण कृषि की चाभी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में! इस तरह किसी भी देश की खाद्य-सुरक्षा को ये दानवीय बीज लील सकते हैं।

डेल्टा एण्ड पाइन लि. कंपनी ने अपनी मंशा छुपाई नहीं है। वे इस टर्मिनेटर टेक्नोलॉजी को गेहूं, धान और ज्वार में डाल रहे हैं। इन फसलों के दानवीय बीज सन् 2004 तक तैयार हो जाएंगे। इनका निशाना हैं भारत-जैसे विकासशील देशों के बाजार। हमारे देश में तो 40 करोड़ किसानों में से जो हर साल बाजार से नया बीज लेते हों, ऐसे मुश्किल से 10 प्रतिशत यानी 4 करोड़ किसान होंगे। अभी तक गेहूं और

धान जैसी स्व-परागित फसलों के बीज बनाने और बेचने में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की इतनी दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन टर्मीनेटर जीन के कारण हर साल बाजार से बीज खरीदने की मजबूरी पैदा होने से अब सभी बड़ी-बड़ी कंपनियां इस क्षेत्र में आने की तैयारी कर रही हैं। अभी तक गेहूं-धान के बीज बेचने में उन्हें कोई खास मुनाफा नहीं नजर आ रहा था, मगर अब तो मुनाफा-ही-मुनाफा है।

अमरीकी कृषि विभाग के प्रवक्ता डा. माइकेल रफ को यह मानना पड़ा कि किसानों को टर्मीनेटर बीज से नुकसान होगा, क्योंकि यह बीज हर साल नया खरीदना पड़ेगा और किसान अपना बीज बनाने और इस्तेमाल करने की सुविधा से वंचित हो जाएंगे। लेकिन रफ साहब ने अपनी टफ वाणी में यह भी जता दिया कि अमरीकी कृषि विभाग को तो करोड़ों डालर कमाने वाली बीज-कंपनियों के मुनाफे की ज्यादा चिंता है, क्योंकि ये बीज-कंपनियां जैव-प्रौद्योगिकी को अपना रही हैं और बायोटेक-बीज अरबों डालर का मुनाफा देंगे। डेल्टा एण्ड पाइन लि. ने टर्मीनेटर टेक्नोलॉजी अपनाते हुए तंबाकू के बीज तैयार कर दिए हैं।

यह तो सभी को मालूम था कि जीनियोगरी को आगे बढ़ाने की ताबड़तोड़ कोशिश के पीछे एक ही हविस काम कर रही है कि बीज-कंपनियों और बायोटेक-कंपनियों का मुनाफा बढ़े। इससे पहले बीज-कंपनियां कीटनाशियों और उर्वरकों के क्षेत्र में अपने कुलावे जोड़ने में लगी थीं और खरपातनाशी दवाओं के प्रति रोधिता पैदा करने वाले जीन फसलों में डाल रही थीं। इरादा यही था कि जो किसान इन हर्बिसाइड-रोधी पराजीनी बीजों को बोएंगे, उन्हें उनका ही हर्बिसाइड भी खरीदना पड़ेगा। लेकिन दानवीय बीज लाने की साजिश करके बीज-कंपनियों ने यह जग-जाहिर कर दिया है कि वे किस हद तक गिरी हुई हैं। खुद को किसानों का मसीहा कहकर प्रचारित करने वाली कंपनियां फसलों के बीजों से भारी मुनाफा कमाने के फेर में बीज की आनुवंशिक रचना को तोड़-मरोड़ कर इतना बदल डालेंगी, यह किसी ने नहीं सोचा था। इन दानवीय बीजों का बाजार में आने का मतलब होगा, हमेशा के लिए किसानों को बीज-कंपनियों का बंधुआ न देना। हमें यह तो पता था कि बायोटेक्नोलॉजी 'कटिंग ऐज' वाली टेक्नोलॉजी है। लेकिन इसकी 'कटिंग ऐज' की पैनी काट तलवार की धार को भी मात करती है, यह पोल तो टर्मीनेटर टेक्नोलॉजी ने ही खोली है।

मीडिया में घुसपैठ

जब चारों ओर से विरोध के स्वर उठे तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने मीडिया को अपने पक्ष में करने के लिए चुग्गा और चारा डालना शुरू किया। इस तरह जैवप्रौद्योगिकी के विरोधी स्वरों को जहां-तहां दबाने की कोशिश की गई। बहुराष्ट्रीय निगमों के चाहे नाम अलग हों ओर वे तरह-तरह के रूप बदलते रहते हों, मगर उनका निशाना एक ही है— अधिक मुनाफा कमाना। इस काम में दुर्भाग्यवश मीडिया का एक वर्ग, लगता है मानो, बिक चुका हो और इन लालची सरमायादारों का ही भोंपू बन गया हो। इस तरह जनता के सामने सही जानकारी नहीं आ पाती। इस तरह मीडिया अपनी सामाजिक भूमिका और उत्तरदायित्व ठीक से नहीं निभा रहा। स्वयं मीडिया में भी अधिकतर लोग

इस नई प्रौद्योगिकी से अनभिज्ञ हैं और उन्हें इस बारे में शिक्षित करने की जरूरत है कि वे इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मुनाफा कमाने की साजिश में शायद अनजाने ही शामिल हो गए हैं।

पहले भी यह हो चुका है। शायद आप में से बहुतों को याद हो कि मीडिया ने प्रदूषण के खिलाफ और पर्यावरण की रक्षा के लिए पुरजोर आवाज उठाई। औद्योगिक प्रदूषण, जैव विविधता पर मंडराते संकट और पर्यावरण-विनाश पर खूब लिखा गया। ब्राजील में रिओ में सन् 1992 में सम्पन्न हुए अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन की तैयारियों के दिनों में यह विषय सुखियों में छाया रहा। लेकिन जल्दी ही पर्यावरण के प्रति मीडिया का उत्साह ठंडा हो गया। उन्हें समझा दिया गया कि प्रदूषण तो सबसे ज्यादा कल-कारखाने पैदा कर रहे हैं और औद्योगिक देश ही इसक लिए ज्यादा जिम्मेदार हैं, इसलिए चुप करो और उन्हें अपनी तिजोरियां भरने दो। इस तरह मीडिया की पर्यावरण संबंधी सारी चिंताएं गुम हो गईं और फिर से विकास के पीछे पड़ गए कि विकास करना है तो उसकी कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी। इसलिए अब मीडिया में पर्यावरण को लेकर वैसी ले-दे नहीं होती, जैसी सत्तर के दशक में देखी गई थी।

अब पर्यावरण के प्रति चिंता की जगह मीडिया 'मुतहा योजना' के बारे में अधिक डरा हुआ लगता है। यह डर स्वाभाविक है क्योंकि जीवियागरी से तैयार फसलों से बनाए गए खाद्य पादार्थों का मानव शरीर में क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बारे में वैज्ञानिक खोजें भी पूरी नहीं की गईं। यह खुशी की बात है कि मीडिया ने भी जीवन की इकाई 'डी.एन.ए' (डिऑकसी राहबोज न्यूक्लिक एसिड) में हेर फेर से पैदा किए गए 'जी एम फूड' यानी 'जिनेटीकली मोडीफाइड फूड' को एक सिरे से नकार दिया है। इनके बारे में गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं कि ये कहां तक मानव-स्वास्थ्य के अनुकूल हैं और कहां तक प्रतिकूल? इस तरह मीडिया जीवियागरी तथा जैव प्रौद्योगिकी के बारे में जन-चेतना जगाने में सफल रहा है। उन्होंने यह अच्छी तरह समझा दिया है कि इस तकनीकी का असर वर्तमान पीढ़ी पर ही नहीं, अगली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एक जीव का आनुवंशिक प्रणाली को दूसरे जीव की कोशिकाओं में पहुंचा देना पौधों की किस्म सुधारने की दिशा में विज्ञान की बड़ी क्रांतिकारी उपलब्धि है। यही काल जानवरों में भी संभव हो गया है। असल में तो जीव-जंतु और पेड़-पौधों के बीच की आनुवंशिक दीवार ही गिरा दी गई है। अब पौधों के जीन जानवरों में और जानवरों के जीन पौधों में भी डाले जा रहे हैं। पहले प्रकृति में ऐसा नहीं होता था। प्रकृति में तो ऐसा नहीं होता था। प्रकृति में तो यह भी संभव नहीं था कि मक्का के जीन धान में चले जाएं या धान के जीन गेहूं में पहुंच जाएं। लेकिन प्रकृति के विरुद्ध जाना कहां तक उचित है? आखिरकार लोगों को इसका हक तो है ही कि वे यह सवाल उठाएं कि जीवियागरी का इस्तेमाल क्यों किया जा रहा है?

इसका जवाब साफ है। बहुत ऊंचे दाव लगे हैं। सन् 1996 में ही उद्योगों ने जैव प्रौद्योगिकी से संबंधित अनुसंधान पर 8 अरब रुपए खर्च किए थे। इसलिए अब वे इस खर्च के बदले जल्दी से जल्दी मुनाफा कमाने के लिए बेचैन हैं, तो उनकी बेचैनी

बिल्कुल जायज़ है। लेकिन वे मुनाफा कमाने की बेचैनी में ये क्यों भूल जाते हैं कि पराजीनी खाद्य पदार्थों का मानव-स्वस्थ्य पर और पराजीनी फसलों का प्रकृति और पर्यावरण पर क्या असर पड़ेगा?

जैव प्रौद्योगिकी की चमक-दमक से सबको लुभाने के लिए इससे जुड़े अद्योगों के लोग ये शिकायत करते हैं कि 'कौन मीडिया को बायोटेक्नोलोजी के खिलाफ भड़का रहा है?'

असल में पश्चिम के संचार माध्यमों में जैव प्रौद्योगिकी से जुड़े तमाम मुद्दों पर उसे बढ़ावा देने वालों की कड़ी आलोचना के कारण ही बड़ी-बड़ी कंपनियां सावधान हुई हैं। सन् 1999 में ब्रिटेन और यों कहें कि सम्पूर्ण यूरोप के संचार माध्यमों ने जिस तरह जैव प्रौद्योगिकी का विरोध किया, वह इतिहास में ऐसा वर्ष दर्ज होगा जब पत्रकारिता ने वस्तुतः समाज के दर्पण का काम किया। वर्तमान बाजारू व्यवस्था में हम पत्रकार लोग उस पुरानी पत्रकारिता को भूल ही गए थे, जब पत्रकारिता उच्च आदर्शों से जुड़ी हुई थी।

पश्चिमी उपभोक्ताओं ने तो एक सिरे से पराजीनी (ट्रांसजेनिक) खाद्य पदार्थों को नकार दिया है। कहा नहीं जा सकता कि उपभोक्ताओं ने वहां की पत्रकारिता को प्रभावित किया या पत्रकारिता ने उपभोक्ताओं को प्रभावित किया। यूरोप के प्रमुख रिटेल स्टोरों ने आपस में मिलकर एक परिसंघ (कंसोर्शियम) बना लिया है। सबने मिलकर फैसला किया है कि वे 'जी एम फूड' नहीं बेचेंगे और अपने स्टोर में कोई भी 'जी एम उत्पाद' नहीं रखेंगे। ब्रिटेन के मशहूर विक्रेता स्टोर जे.सेन्सबरी ने छह अन्य यूरोपीय विक्रेता-समूहों के साथ मिलकर उत्पादन के हर चरण से जीवानांतरित खाद्य पदार्थों को हटा दिया। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी नीदरलैण्ड्स और भारत में भी पराजीनी फसलों के परीक्षण नष्ट करने के लिए उन्हें खेतों में से उखाड़ कर जला दिया गया। यह कार्य अनेक आंदोलनकारी स्वैच्छिक संगठनों की प्रेरणा से किया गया।

जीवानांतरित खाद्य पदार्थों के पक्ष में आश्चर्य हे कि अनेक वैज्ञानिक भी बोलते रहते हैं। कुछ वैज्ञानिक पराजीनी सोयाबीन की वकालत करने लगे। इस सोयाबीन में ऐसा जीन डाला गया है, जो खरपतवार नाशी दवा छिड़कने का असर नहीं होने देता। कुछ वैज्ञानिक कैलीफोर्निया में स्ट्रॉबेरी की फसल पर पालारोधी जीवाणु (बैक्टीरिया) छिड़कने की सिफारिश करने लगे। इसी तरह साल्मन मछली में पराया जीन डालने की भी हिमायत की गई। लेकिन यूरोप और अमरीका की सरकारों ने इस तरह के जीवानांतरित खाद्य पदार्थों की सेफ्टी के बारे में फौरन चिंता जताई और वैज्ञानिक जांच शुरू करा दी।

यूरोपियन कमीशन के वैज्ञानिक परामर्शदाता की सलाह मानकर यूरोपी संघ ने आलू की एक पराजीनी किस्म की बिक्री पर रोक लगा दी, क्योंकि वे उसके सुरक्षित होने के बारे में कोई गारण्टी नहीं दे सकते थे। ब्रिटेन में तो ऐसी 300 के करीब घटनाएं हुईं, जब आंदोलनकारियों ने खेतों में खड़ी पराजीनी फसलों को जड़ से उखाड़कर जला डाला।

इससे वहां का जैवप्रौद्योगिकी उद्योग तिलमिला उठा। अंततः ब्रिटेन के पर्यावरण-मंत्री माइकेल मीचर ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार तीन सालों के लिए पराजीनी फसलों की खेती पर पाबंदी लगाने की सोच रही है।

यूरोप की जैवप्रौद्योगिकी कम्पनियों ने अपने चीफ एक्जीक्यूटिव अफसरों (सी.ई.ओ) को उस समय निकाल बाहर किया, जब जीवानांतरित खाद्य पदार्थों की खूबियों के बारे में प्रचारित उनके दावे थोथे साबित हुए। बायोटेक-उत्पादों से जुड़े शेयरों में पहले जो उछाल आया था, वह भी आँधे मुंह आ गिरा। उदाहरण के लिए यूरोप की सबसे बड़ी बायोटेक कंपनी "ब्रिटिश बायोटेक" ने अपने शेयरों की कीमत में 70 प्रतिशत का घाटा उठाया। लन्दन स्टॉक एक्सचेंज और लन्दन में स्थित 'यूरोपियन ऐजेंसी फॉर द इवेलुएशन ऑफ मेडिसिनल प्रोडक्ट्स' तथा वहां की 'संसद' ने अमरीकी स्टॉक मार्केट में बायोटेक शेयरों की जांच शुरू कर दी। मतलब यह कि बायोटेक का बुलबुला आखिरकार फूट गया।

बाहें मरोड़ना

फिर भी अमरीका 'मोंसेण्टो' जैसी बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनी के हितों की रक्षा के लिए छोटे देशों को धमकाने से भी बाज नहीं आता। लन्दन से प्रकाशित दैनिक समाचार पत्र 'द इण्डिपेंडेंट' के मुताबिक जब न्यूजीलैण्ड ने जीवानांतरित खाद्य पदार्थों पर 'जी.एम. फूड' का लेबल लगाने और उनके स्वास्थ्य-संबंधी प्रभावों को परखने में पहल की, तो अमरीका ने उसको धमकी दी कि अगर ऐसा किया गया तो अमरीका न्यूजीलैण्ड के साथ किए गए "मुक्त व्यापार" के समझौते को तोड़ देगा। 'न्यूजीलैण्ड में सूचना की स्वतंत्रता के अधिकार' को कानूनी तौर पर लागू किया गया है। अतः इस घटना के बारे में न्यूजीलैण्ड की संसद से प्राप्त कागजातों पर आधारित इस रिपोर्ट से अमरीका की इस बायोटेक - दादागीरी की पूरी पोल खुल गई।

न्यूजीलैण्ड की संसद के 19 फरवरी 1998 के कागजातों के मुताबिक "आस्ट्रेलियन-न्यूजीलैण्ड फूड स्टैंडर्ड्स कौंसिल" ने इस बारे में जो रुख अपनाया, इस पर अमरीका और कनाडा में चिंता व्यक्त की है क्योंकि इसका असर यूरोपीय संघ पर भी पड़ेगा अमरीका ने यह भी कहा है कि इस तरह के रुख से अमरीका और न्यूजीलैण्ड के बीच हुए द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते पर भी बुरा असर पड़ेगा। और मुक्त व्यापार का समझौता खत्म किया जा सकता है।" इन दस्तावेजों के खुलासा होने पर ब्रिटिश संसद में अनेक संसद सदस्यों ने गुस्सा जाहिर किया कि इससे पता चलता है कि अमरीकी बायोटेक-उद्योग की हिमायत करने के लिए अमरीकी सरकार किस हद तक गिर सकती है।

इसका एक और प्रमाण "जुलाई 1999 को 'द टेलीग्राफ' में प्रकाशित एक रिपोर्ट से मिला। इसमें बताया गया कि अमरीका सरकारी जासूस संगठन, 'सी.आइ.ए' (सेण्ट्रल इण्टेलिजेंस ऐजेंसी) ने ब्रिटेन के पर्यावरण-मंत्री मिस्टर माइकेल मीचर पर एक फाइल खोल रखी है और उनकी हर गतिविधि और बयान पर नजर रखी जाती है। कारण

यह है कि मीचर साहब जीवानांतरित खाद्य पदार्थों के बारे में चिंतित रहते हैं और उन्हें आंखें मूंदकर स्वीकार नहीं करते। उधर अमरीका चाहता है कि ब्रिटेन सहित सभी यूरोपी देश अमरीका से दुनिया के बाजारों में बेचे जा रहे 'जी.एम.फूड्स' को अपने बाजारों में बिकने की खुली छूट दें। अमरीका और ब्रिटेन, इन दोनों देशों के बीच इस बात को लेकर शुरू से ही मतभेद रहे हैं और आज भी जारी हैं। इस बारे में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन और ब्रिटिश प्रधान मंत्री टोनी ब्लेयर के बीच कई बार बैठकें हुईं, लेकिन ब्रिटेन इस बारे में टस से मस न हुआ, क्योंकि उसे जीवानांतरित खाद्य पदार्थों का प्रचार करने की बजाय अपने नागरिकों के स्वास्थ्य तथा किसानों के हितों की अधिक चिंता है। उधर अमरीका ने अपने सभी दूतावासों को भी अमरीकी बायोटेक-उद्योग के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने के आदेश दिए हैं।

जब फ्रांस ने अपनी सरजमीं पर मोंसाण्टो के पराजीनी बीज बोने से मना किया, तो 'सेण्ट लुई पौस्ट डिस्पैच' में प्रकाशित एक रिपोर्ट के मुताबिक अमरीकी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट सुश्री मेडलाइन ऑलब्राइट तथा अमरीकी व्यापारिक प्रतिनिधि शार्लिन बारशव्स्की ने मोंसाण्टो की वकालत की। इसके बावजूद फ्रांस इंकार करता रहा तो स्वयं राष्ट्रपति क्लिंटन ने फ्रांस के प्रधानमंत्री लिओनिल जोस्पिन से एक मुलाकात में मोंसाण्टो के 'बायोटेक-बीज' अपनाने पर जोर दिया। यहां तक कि इसी मसले पर तत्कालीन अमरीकी उपराष्ट्रपति अलगोर ने फ्रांस के प्रधानमंत्री को टेलीफोन करके सिफारिश की। आखिर में फ्रांस राजी हो गया। इतना दबाव जो पड़ रहा था।

इससे पता चलता है कि बड़ी-बड़ी बायोटेक कम्पनियों के हाथ कितने लंबे हैं और वे किसी की भी गर्दन तक पहुंच सकते हैं। कृषि पर बायोटेक-उद्योग की गिद्ध-दृष्टि कई दशकों से लगी हुई है और किसानों को बायोटेक-बीज अपनाने के लिए झूठे सब्जबाग दिखाए जाते हैं। इन सब्जबागों से कितनी जल्दी फल टपकेंगे, इस बारे में भी बड़े थोथे दावे किए गए हैं। इस बारे में अधिकतर वैज्ञानिक खोजें भी उन प्रयोगशालाओं में की गई हैं जिनका खाद्य-उत्पादन की प्रौद्योगिकी से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं रहा। जबकि वही बायोटेक-तकनीक सफल हो सकती है जो वर्तमान कृषि और खाद्यान्न प्रणालियों में पूरी तरह फिट होती है और इस क्षेत्र में उपलब्ध अन्य नई तकनीकों के मुकाबले में ठहर सके।

बहस

इस बारे में बहस केवल खाद्य पदार्थों तक सीमित नहीं है। जीनांतरित वस्तुएं तरह-तरह से इस्तेमाल हो रही हैं — कपड़ों से लेकर दवाओं तक। लेकिन सबसे ज्यादा प्रतिक्रिया 'जी. एम. फूड' को लेकर ही हुई है। उपभोक्ताओं की ओर से उनके आंदोलनकारी कहते हैं कि उन्हें यह पूरा अधिकार है कि जीवानांतरित खाद्य पदार्थों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करें और फिर फैसला करें कि उसे अपनाया जाए या नहीं।

इधर जैव प्रौद्योगिकी के पक्षधरों का तर्क है कि किसी खाद्य-वस्तु पर 'जी.एम.फूड.' का लेबल लगाने से उपभोक्ता यही समझेंगे कि यह वस्तु खाने योग्य नहीं है। फिर वस्तुओं

के दाम भी बढ़ जायेंगे, क्योंकि लेबलिंग वगैरह का खर्च भी उसी की जेब से निकलेगा। उनका यह भी कहना है कि 'अनुवंशिक दृष्टि से सुधारी गई प्रजातियां' फसलों की पैदावार बढ़ाने के लिए बहुत जरूरी हैं, नहीं तो विस्फोटक तौर पर बढ़ रही विश्व की जनसंख्या का पेट कहां से भरेगा? वे यह भी दलील देते हैं कि पराजीनी फसलें खरपातनाशी और कीटनाशी रसायनों के इस्तेमाल में कटौती करके पर्यावरण की रक्षा करेंगीं। वे दावा करते हैं कि जीनांतरित खाद्य पदार्थों के पूरी तरह परीक्षण किए जा चुके हैं और अमरीका के खाद्य-विभाग तथा पर्यावरण रक्षा एजेंसी, दोनों ने ही नहीं, बल्कि संबंधित अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी उन्हें सुरक्षित बताया है।

यह बहस जोर पकड़ती जा रही है और इसी बीच पत्रकारों ने अमरीकी कृषि विभाग (यू.एस.डी.ए.) की भूमिका का भी पता लगा लिया है। लगता है कि अमरीका का कृषि विभाग वहां की जैव प्रौद्योगिक कंपनियों की हिमायत करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा, ताकि विकासशील देशों के बाजारों में इन कंपनियों के जीनियोगरी-उत्पाद आराम से बिकें। इसके लिए उन पर बिना कोई परीक्षण किए उनके सुरक्षित होने की गारंटी भी दे रहा है। इस बारे में मीडिया को भी तरह-तरह के लालच देकर पटाया जा रहा है। उदाहरण के लिए एशिया-प्रशांत क्षेत्र के देशों की प्रमुख कृषि-प्रणालियों की उत्पादकता, लाभप्रदता, स्थिरता और टिकाऊपन बढ़ाने के बहाने से इस तरह के 'बायोसैफ्टी प्रोटोकॉल' अर्थात् जैव-रक्षा नियम लागू कर रहा है, जिनमें से बायोटैक-वस्तुएं आसानी से पार होकर इन देशों के बाजारों में बिकने लगे। इसकी कोई परवाह नहीं है कि पराजीनी फसलों की इन देशों को जरूरत है भी या नहीं और जो लोग जीनांतरित खाद्य का सेवन करेंगे उनके स्वास्थ्य पर उसका क्या असर पड़ेगा!

फिर भी अनेक विकासशील देशों में पत्रकार भ्रम में पड़ जाते हैं और अमरीका के प्रचार-तंत्र के बहकावे में आकर उनकी हां में हां मिलाने लगते हैं। इस तरह से वे बायोटैक-उत्पादों को विकासशील देशों में पहुंचाने में मदद करने लगते हैं। उधर अमरीकी कृषि विभाग इन बायोटैक-उत्पादों के कारण पर्यावरण की हानि होने या स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की जिम्मेदारी लेने से साफ-साफ मुकर जाता है। वह तो किसी पराजीनी-उत्पाद पर अपनी स्वीकृति का ठप्पा लगा देता है और यह प्रमाण-पत्र नहीं देता कि यह प्रचलित किस्म या खाद्य-वस्तुओं से बेहतर है। वह इस बारे में भी मौन साधे है कि जब पराजीनी फसलें जीनांतरित जीव (जी.एम.ओ.) की श्रेणी में आती हैं तो उसे उगाकर किसान जैव-संकट का खतरा क्यों मोल लें। वे उसका इस्तेमाल करें या न करें, यह पूरी तरह किसानों पर छोड़ दिया है, जिन्हें इस नूतन विज्ञान की बारीकियां कतई पता नहीं हैं।

एशिया-प्रशांत क्षेत्र में चीन, जापान, कोरिया और थाइलैण्ड पराजीनी फसलों के परीक्षण और उपयोग का सिलसिला शुरू कर चुके हैं। इसमें चीन सबसे आगे है। भारत में भी सरकार ने बीटी कपास बोने की इजाजत दे दी है। कहा तो यह जा रहा है कि पूरे देश में परीक्षण के बाद ही यह फैसला किया गया है, लेकिन इन परीक्षणों

के नतीजे खुलासा नहीं किए गए। अमरीकी कृषि विभाग कहता है कि पहले अपने यहां बायोटेक—उत्पादों के लिए जैव—रक्षा प्रणालियां विकसित करो या फिर 'पहिए का फिर से आविष्कार' करने का इरादा छोड़ दो और पश्चिम में पहले से परीक्षण से गुजरी बायोटेक—वस्तुओं को बिना किसी 'ननुनच' के अपनाओ। लेकिन 'परीक्षण किया जा चुका है' के दावे जैसे ही किए जाते हैं, वैसे ही जरा—सी तफतीश करने पर उनकी पोल खुल जाती है।

आइए देखें कि किस तरह दानवाकार बहुराष्ट्रीय कंपनी मोंसाण्टो दुनिया को ऐसा टमाटर देने में असफल रही जो सड़े नहीं, हालांकि दावा यही किया गया था। 'फ्लावर सावर' नाम से प्रचारित इस टमाटर में ऐसा वंशाणु (जीन) डाला गया था, जो उसे देर तक हरा रखता था। इस तरह सुपर बाजारों में पहुंचते—पहुंचते यह पककर सड़ता नहीं था। लेकिन हरा और कच्चा टमाटर भला किस काम का। फिर छिलका इतना मोटा जैसे चमड़ा। ऐसे स्वादहीन टमाटर को उपभोक्ताओं ने जल्दी ही नकार दिया। यों भी पर्यावरणवादी इस पहले पराजीनी खाद्य पौधे का विरोध कर रहे थे। खाद्य—उद्योग ने भी इस टमाटर को 'सॉस' (चटनी) वगैरह बनाने के काबिल नहीं पाया। अमरीका के शेयर—उद्योग की प्रसिद्ध पत्रिका 'वाल स्ट्रीट जर्नल' ने भी इसको 'आर्थिक दृष्टि से अनर्थकारी' ('इकोनॉमिक डिजास्टर') कह दिया। इस तरह 'फ्लावर सावर' खुद भले ही नहीं सड़ता हो, 'मोंसाण्टो' को तो पिचका ही दिया और सन् 1996 में इस टमाटर को 'मोंसाण्टो' ने वापस ले लिया। यहां यह भी याद दिला दें कि अमरीकी कृषि विभाग ने 'फ्लावर सावर' को भी व्यापारिक खेती के लिए जारी करने की अनुमति दे दी थी। इसके बावजूद यह बहुप्रचारित विवादास्पद पराजीनी टमाटर असफल रहा।

इसके बाद 'मोंसाण्टो' ने टमाटर की एक और किस्म ईजाद की — '5345'। यह दुनिया का दूसरा पराजीनी टमाटर था। इसमें मिट्टी में पाए जाने वाले एक जीवाणु (बैक्टीरिया) 'बेसीलस थूरिंजिएंसिस' का वही वंशाणु डाला गया था, जो कि 'बीटी जीन' के नाम से मशहूर है। यह टमाटर के अंदर एक ज़हर पैदा करता है जिसे प्राकृतिक कीटनाशी कहा गया है। इस तरह टमाटर में छेद करके उसका रस चूसने वाली इल्लियां उस पर हमला करेंगी, तो मर जाएंगीं। यानी यह दावा किया गया कि अगर इस टमाटर की खेती की गई तो किसानों को कीटनाशी दवाओं का छिड़काव नहीं करना पड़ेगा। अमरीकी कृषि विभाग ने इस पर तीन साल तक परीक्षण करने के बाद '5345' टमाटर की व्यापारिक खेती करने की इजाजत दे दी। उस समय भी पर्यावरण के प्रति चिंतित पत्रकारों और विज्ञान—लेखकों ने यह सवाल उठाया था कि इस टमाटर में डाला गया 'बीटी जीन' टमाटर की फसल से आसपास उगे खरपतवारों में नहीं पहुंचेगा, इस बात की क्या गारण्टी है? साथ ही इसे भी उपभोक्ताओं ने अस्वीकार कर दिया तो किसानों के नुकसान की भरपाई कौन करेगा?

सन् 1996 में कपास में लगने वाली सूंडी 'अमेरिकन बॉलवर्म' ने मोंसाण्टो के उस कपास पर भी हमला बोला जिसमें 'बीटी जीन' डालकर यह ढोल पीटा गया था कि 'बीटी कॉटन' पर कोई कीड़ा नहीं लगेगा। उत्तरी अमरीका में जॉर्जिया और टैक्सास में किसानों ने मोंसाण्टो को 'बीटी कपास' की खेती की और भारी नुकसान उठाया। इन

किसानों ने मोसाण्टो की 'बीटी कपास' उगाने के लिए प्रति एकड़ 32 डॉलर लाइसेंस फीस दी थी ताकि फसल कीट-व्याधियों से सुरक्षित रहे। इसकी बजाए इन्हें भारी नुकसान उठाना पड़ा। मोसाण्टो की ओर से इस 'बीटी कपास' का बीज अमरीका की 'डेल्टा एण्ड पाइनलैण्ड' नामक कंपनी ने किसानों को बेचा था, उसी तरह जैसे भारत में मोसाण्टो के 'बीटी कॉटन' का बीज महाराष्ट्र की 'माहिको' नामक कंपनी बेच रही है। जैसे ही अमरीकी किसानों की 'बीटी कपास' की फसल मारे जाने का समाचार फैला, 'डेल्टा एण्ड पाइन लैण्ड' कंपनी के शेयर लुढ़क गए। यहां फिर यदि दिला दें कि यह 'बीटी कॉटन' भी अमरीकी कृषि विभाग और पर्यावरण रक्षा एजेंसी (ई.पी.ए.) दोनों ने स्वीकृत किया था।

मैं कई बार अपने विश्लेषणात्मक लेखों में यह प्रश्न उठा चुका हूँ कि अमरीका का कृषि विभाग ऐसी तकनीकियों को क्यों बढ़ावा देता है, जिन्हें ठीक से जांचा-परखा नहीं गया। अमरीकी कृषि विभाग और बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियां यह नहीं बतातीं कि अमरीका में 'बीटी जीन' वाली कपास की कई किस्मों की खेती पर इस डर से पाबंदी लगाई गई थी कि कहीं इसका 'टॉक्सिन' (जीवविष) पैदा करने वाला जीन पर्यावरण में मुक्त होकर कोई विपदा न खड़ी कर दे। इस प्रौद्योगिकी का तिलिस्म इतनी जल्दी टूट गया कि अमरीका की पर्यावरण-रक्षा एजेंसी को यह नियम बनाना पड़ा कि मक्का की नई बीटी किस्में किसानों के मक्का के खेतों के एक हिस्से में ही बोई जाएंगीं और उन्हें अलग से पूरे खेत में नहीं बोया जाएगा। कॉर्नेल यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने जांच करने पर यह नतीजा निकाला कि खेतों में बोई गई बीटी जीन वाली मक्का के कारण मोनार्क तितली की मौत हो सकती है। सभी किसान भाई जानते हैं कि तितलियां फसलों में परांगण करके उनकी पैदावार बढ़ाती हैं। लेकिन जिन चीजों पर अमरीका अपने यहां पाबंदी लगाता है, उन्हें विकासशील देशों में पटकने पर उसे कोई एतराज नहीं होता। यही कारण है कि 'बीटी कपास' को और बीटी मक्का को तथा अन्य बीटी जीन वाली किस्मों को भारत जैसे विकासशील देशों में लाने की कोशिश की जा रही है। अमरीका का कृषि विभाग भी इस पर ठप्पा लगा देता है कि पराजीनी फसलें पर्यावरण के लिए कोई खतरा पैदा नहीं करतीं। जाहिर है कि उसे भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कमाई की ज्यादा फिक्र है, किसानों की नहीं।

जब ज्यादा दबाव पड़ा तो अमरीका के कृषि विभाग को यह मानना पड़ा कि उसने पराजीनी फसलों के पर्यावरण संबंधी खतरों के बारे में कोई परीक्षण नहीं किए हैं और ऐसे परीक्षण करने की उसकी कोई योजना भी नहीं है। पराजीनी सामग्री को पर्यावरण में छोड़ने से पहले क्या-क्या सावधानी बरतनी चाहिए, इसके लिए तो वह बड़े साफ नियम बनाता है, लेकिन सिर्फ दूसरों के लिए। लेकिन अगर पराजीनी फसलें पर्यावरण में कोई विपदा खड़ी कर दें तो इसकी जिम्मेदारी अपने सिर लेने के लिए तैयार नहीं। अमरीकी कृषि विभाग स्वयं इस बारे में कोई अनुसंधान नहीं कर रहा कि पराजीनी फसलों का पर्यावरण पर क्या असर पड़ेगा। उसने तो बस एक ही जिम्मेदारी निभानी है कि अमरीका की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापारिक हितों को दुनिया भर में बढ़ाया जाए और उनकी रक्षा की जाए।

जहां तक एशिया-प्रशांत क्षेत्र के किसानों का प्रश्न है, यहां के अधिकतर किसान गरीब हैं और किसी तरह का खतरा नहीं उठा सकते। इन देशों में फसल-बीमा की कोई ठोस योजनाएं भी ढंग से कार्यान्वित नहीं हुई हैं। इसलिए उनको जीनियोगरी से तैयार पराजीनी फसलों के बीज बेचने से पहले या कोई अन्य जैव प्रौद्योगिक प्रणाली थमाने से पहले उसकी लागत क्या पड़ेगी और उससे क्या मुनाफा होगा, इसका पूरा हिसाब लगा लेना चाहिए। और लागत में पर्यावरण के लिए आशंकित संकट भी शामिल किए जाने चाहिए। इस बारे में जैव प्रौद्योगिकी के आलोचकों का प्रस्ताव यह है कि 'जो प्रदूषण पैदा करे, वही उसके नुकसान को भरे' का सिद्धांत यहां भी लागू किया जाए। जैव प्रौद्योगिकी अपनाने से अगर किसानों का कोई नुकसान होता है, तो उसकी भरपाई बायोटेक कंपनियां करेंगी, यह गारंटी सरकार को उनसे लेनी चाहिए। अगर इसके बिना ही इन कंपनियों को पराजीनी फसलों के बीज बेचने और दूसरी पराजीनी वस्तुएं बाजार में लाने की छूट दे दी गई, तो विकासशील देशों के गरीब किसान आगे चलकर न जाने कैसे संकट में फंस जाएं। लेकिन लगता है भारत सहित अधिकतर विकासशील देशों को विदेशी पूंजी निवेश का लालच जितना ज्यादा है, उतनी ज्यादा अपने गरीब किसानों की चिंता उन्हें नहीं सताती।

जीनियोगरी से पैदा की गई फसलों की खेती करने से पर्यावरण में संकट की जितनी भी आशंकाएं प्रकट की जा रही हैं, वे हवाई नहीं हैं। उनके पीछे ठोस कारण हैं। संचार माध्यमों में उनका अच्छा प्रचार हुआ है और जैव प्रौद्योगिकी की खामियों को खूब अच्छी तरह समझाया गया है। इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं, जब पर्यावरण में पराए जीन पराजीनी फसलों से बाहर आकर दूसरे पौधों में जा घुसे हैं। सरसों कुल की तिलहनी फसल 'रेपसीड' में खरपातरधी वंशाणु डाले गए थे। ये जीन 'रेपसीड' की जंगली प्रजातियों में भी जा पहुंचे। हम यह बता चुके हैं कि बीटी जीन वाली मक्का का जहर तितलियों के लिए भी घातक सिद्ध हुआ है। यह बात अमरीका की ही कोर्नेल यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दी है। सच तो यह है कि इस तरह के खतरे विकासशील देशों में ज्यादा हो सकते हैं, क्योंकि यहां पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं में जैव विविधता अधिक है। इनके इसी कुदरती खजाने पर तो दुनिया भर की आंखें गड़ी हुई हैं। जान-बूझकर यहां के पर्यावरण में कोई भी पराजीनी पदार्थ छोड़ा गया तो उसके तात्कालिक और दूरगामी परिणाम कितने खतरनाक होंगे, उनका अंदाजा लगाना भी मुश्किल है। इसलिए विकासशील देशों को अपने यहां इस जैव-प्रदूषण से बचने के लिए पूरी तैयारी करनी होगी।

तीसरी दुनिया

लेकिन इस जीनियोगरी की तकनीक से तीसरी दुनिया में भूख और कुपोषण मिटाने पर कोई सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा या नहीं, इस बारे में मीडिया ने उतना ध्यान नहीं दिया। शायद इसका एक कारण यह भी है कि दक्षिणी विश्व की अर्थव्यवस्थाओं से जुड़े मुद्दों और इस तीसरी दुनिया के सामने खड़ी चुनौतियों का भी उन्हें उतना ज्ञान नहीं है, जितना कि होना चाहिए। यह इसलिए बहुत जरूरी है कि तीसरी दुनिया के भाग्य का फैसला दुर्भाग्यवश आज भी पश्चिमी देश ही करते हैं। मेरा

अपना विचार यह है कि कृषि संबंधी जैव प्रौद्योगिकी मूलतः पश्चिमी बाजारों के लिए विकसित की गई है। विकसित देशों की किसी भी प्रयोगशाला में ऐसी जैव प्रौद्योगिकी विकसित करने के प्रयास नहीं किए जा रहे, जो विकासशील देशों की बढ़ती खाद्यान्न-आवश्यकता की पूर्ति में सहायता करे। कथनी और करनी के बीच यहां भी बहुत बड़ी खाई है। जैव प्रौद्योगिकी से जुड़े उद्योग ऐसे उत्पाद बनाने में लगे हैं, जिनका उत्तरी विश्व में अधिक उपयोग हो सकता है। दक्षिणी विश्व में इन्हें केवल इसलिए पटका जा रहा है, क्योंकि बहुराष्ट्रीय कंपनियां बेहद लालची हैं और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना चाहती हैं।

उदाहरण के लिए गायों में दूध की मात्रा बढ़ाने के लिए जीनियोगरी से एक हार्मोन बनाया गया, जिसे 'रिकम्बाइनेंट बोवाइन ग्रोथ हार्मोन (r BGH) कहा जाता है। यह असल में तो अमरीकी और यूरोपी पशुपालकों के लिए बनाया गया था। दावा किया गया कि इस हार्मोन के इंजेक्शन बार-बार लगाए जाएं तो गाय-भैंस में दूध की पैदावार 15 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। लेकिन यूरोपी संघ ने इस हार्मोन के इस्तेमाल पर सन् 2000 तक पाबंदी लगा दी तो अब बायोटेक-उद्योग को चिंता सताई और वह बाजार ढूंढने लगा। लेकिन इस हार्मोन की सुइयों का गायों पर इतना बुरा असर पड़ा कि उधर तो यूरोपी संघ ने पाबंदी की अवधि बढ़ाने का फैसला किया और इधर तीसरी दुनिया में भी इस हार्मोन के खिलाफ जन-चेतना उभरी। यह हार्मोन गाय-भैंस में अनेक समस्याएं पैदा करता है, जिनमें दनैला (मेस्टाइटिस) रोग भी शामिल है और जहां सुई लगाई जाती है, वहां की मांसपेशियां सूज जाती हैं और जानवर को बड़ी तकलीफ होती है।

लेकिन पश्चिमी दुनिया की कंपनियां तो जानवरों को भी एक फैक्टरी ही समझती हैं। वे उनका दुखदर्द क्या जानें। इसलिए पशु-स्वास्थ्य संबंधी खतरे तथा नैतिक और धार्मिक प्रश्न सबकी अनदेखी की गई। जिन गाय-भैंसों को हार्मोन की सुइयां लगाकर दूध बढ़ाया जाता है, उनके दूध का मानव-स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बारे में प्राप्त अनुसंधान के परिणाम विवादास्पद हैं फिर भी कनाडा की 'पशु-वैज्ञानिक उपायों की वैज्ञानिक समिति' (कनाडियन साइंटिफिक कमेटी ऑन वेटेरिनरी मेजर्स) ने यूरोपी संघ को एक रिपोर्ट भेजी थी। इसमें बताया गया कि इन पशुओं के दूध में 'आई.जी.एफ-1' के स्तर और इस दूध को पीने वाले स्त्री-पुरुषों में स्तन-कैंसर तथा प्रोस्टेट कैंसर का खतरा बढ़ने के बीच चिंताजनक संबंध पाया गया है। 'आई.जी.एफ-1' का मतलब है 'इंसुलिन लाइक ग्रोथ फैक्टर', जो कि दूध में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। लेकिन जब गाय-भैंस में 'रिकम्बाइनेंट बोवाइन ग्रोथ हार्मोन' का इंजेक्शन लगाया जाता है तो इस इंसुलिन जैसे वृद्धि-कारक (आई.जी.एफ-1) की मात्रा असामान्य रूप से बढ़ जाती है।

भारत, ब्राजील और अर्जेंटिना में जानवरों और उनका दूध पीने वाले मनुष्यों पर इस हार्मोन के प्रभाव के बारे में कोई वैज्ञानिक परीक्षण नहीं किए गए थे। एक तो यह हार्मोन जिस अनुसंधान से विकसित किया गया, वह विदेशी नस्लों पर किया गया था, भारतीय नस्लों पर नहीं। हमारे देश की गाय-भैंस की नस्लें भले ही कम दूध देती हों,

लेकिन यहां की गर्मी और नमी बर्दाश्त कर लेती हैं और कठिन परिस्थितियों में भी पशुपालकों को सहारा देती हैं। जिनके पास अपने जानवर नहीं हैं, वे गरीब बाजार से खरीदकर दूध नहीं पी सकते। इस हार्मोन के इस्तेमाल से इन गरीबों का भला क्या फायदा होगा। दूसरी ओर विकसित देशों में तो पहले ही दूध की नदियां बह रही हैं। अमरीका, यूरोपी संघ, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड तीसरी दुनिया में अपना दूध और दूध से बनी डेरी की वस्तुएं सस्ती दरों पर पटक रहे हैं। भारत में भी दूध की पैदावार अब इतनी बढ़ गई है कि वह विश्व में प्रथम स्थान पर आ गया है, फिर भी विश्व व्यापार संगठन के दबाव में अन्य कृषि-वस्तुओं के साथ ही विदेशी डेरी-उत्पादों के लिए भी भारत ने अपने द्वार खोल दिए हैं!

इस समस्या का एक और पहलू यह है कि अब जैव प्रौद्योगिकी जैसे विषयों पर अनुसंधान के लिए वित्तीय व्यवस्था सरकारें तो कम कर रही हैं, उद्योग ज्यादा कर रहे हैं। उद्योग जिस काम में पूंजी लगाते हैं, उसका फायदा खुद ही उठाना चाहते हैं। जनता पर क्या असर पड़ेगा, खाद्य-सुरक्षा बिगड़ेगी या सुधरेगी, इसकी उनको चिंता नहीं होती। कृषि संबंधी जैव प्रौद्योगिकी के उत्पादों को बाजार में पटकने से पहले किसानों से कोई नहीं पूछता कि ये तकनीकें या चीजें उनके काम की हैं या नहीं। इस तरह बायोटेक्नोलॉजी ऐसी प्रौद्योगिकी बन गई है, जिस पर समाज का कोई वश नहीं है और किसानों का तो बिल्कुल ही नहीं। किसी भी बायोटेक-कंपनी के कोई आधा दर्जन अधिकारी वातानुकूलित कक्ष में बैठकर जो भी फैसला कर देते हैं, वह सबको मानना पड़ता है, भले ही इस फैसले का असर करोड़ों किसानों की आजीविका पर क्यों न पड़ता हो। इन अधिकारियों की विशेषज्ञता को चुनौती देना मीडिया का कर्तव्य है, ताकि किसानों के हितों की रक्षा हो।

जैव प्रौद्योगिकी को विज्ञान जगत में 'कटिंग ऐज टेक्नोलॉजी' जैसे सुहावने विशेषणों से विभूषित किया जाता है। साथ ही इसे भोजन में विविधता लाने तथा विश्व में खाद्यान्न की कमी मिटाकर भूख से मुक्ति लाने का ब्रह्मास्त्र बताया जाता है। इस दावे को प्रचारित करने वाले यह भूल जाते हैं कि दुनिया में भुखमरी और कुपोषण इसलिए नहीं है कि अन्न की कमी है। इसका कारण यही है कि अन्न उन तक नहीं पहुंच पाता, जिनको उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है।

इस तरह के तमाम दावों का विश्लेषण करके लोगों तक सही जानकारी पहुंचाने की जिम्मेदारी मीडिया की है। इसके लिए किसी भी प्रौद्योगिकी की केवल आलोचना करने से न तो जनता पर सही प्रभाव पड़ेगा और न नीति-निर्माताओं पर। इसके लिए जरूरी है कि आलोचना पूरे आंकड़ों और प्रमाणों के साथ की जाए। उदाहरण के लिए पराजीनी जीवों (जिनेटिकली मोडीफाइड ऑर्गेनिज्मस - जी.एम.ओ.) के लिए कहा जाता है कि वे रासायनिक कीटनाशियों के 'विषचक्र' से विश्व की मुक्त कर देंगे, क्योंकि वे पर्यावरण के मित्र हैं और पराजीनी फसलों पर कीटनाशी दवाएं छिड़कने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। खासतौर से बीटी-कपास की फसल के बारे में बड़े-बड़े दावे किए गए। इसमें कोई शक नहीं कि भारत में 55 प्रतिशत कीटनाशी दवाएं कपास की फसल पर ही छिड़की जाती हैं। यह भी सच है कि कीटनाशी दवाओं की चौथी पीढ़ी के

सिंथेटिक पाइरेथ्रोइड का भी अमेरिकन बॉलवर्म (*हेलिकावर्पा आर्मीजेरी*) पर अब कोई असर नहीं पड़ता। लेकिन अगर यह कीटव्याधि 'बीटी' के प्रति भी रोधी हो गई, तो क्या होगा? पहले ही कुछ कीटों में 'बीटी' के प्रति रोधिता आ चुकी है। अगर बीटी-कपास को भी अमरीकी बॉलवर्म खा गया तो न जाने कितने किसानों को आत्महत्या करनी पड़ेगी।

इस तरह यह 'जैविक विषचक्र', 'रासायनिक विषचक्र' से भी ज्यादा खतरनाक साबित होगा। एक बार पर्यावरण में कोई जीन (वंशाणु) छोड़ दिया गया तो फिर उसे वापस नहीं बुलाया जा सकता। इसलिए इस समस्या का हल पराजीनी फसलें नहीं हैं। यहां यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जैसा कुदरत में कभी नहीं हुआ, वह करके अप्राकृतिक रूप से दूसरी प्रजातियों, प्राणियों, यहां तक कि आदमी के जीन फसलों में डालने से वैज्ञानिक एक ऐसी नई सृष्टि कर सकते हैं, जिस पर हमारा कोई वश नहीं होगा।

भयावह भविष्य

इस बारीक तकनीकी की असलियत उजागर करने के लिए सबको इसके बारे में जानकारी देना जरूरी है। अभी तो इसका असली असर पता लगने में ही दस साल लग जाने हैं। हां, कुछ छुटपुट घटनाएं आने वाले दिनों का अहसास जरूर करा देती हैं। दस साल तक इंतजार किया तो जितनी हानि होनी है, हो लेगी। वर्ल्ड वाच इंस्टीट्यूट के लीस्टर ब्राउन ने एक बार पर्यावरण-समस्या के बारे में कहा था कि "हमारे पास चंद साल ही बाकी हैं, पीढ़िया नहीं।" यही बात जैव प्रौद्योगिकी पर भी लागू होती है।

बल्कि यहां तो परिवर्तन इतनी तेजी से लाए जा रहे हैं कि हमारे पास इनकी छानबीन के लिए भी वक्त नहीं बचा। अब प्रजातियों के बीच कोई दीवार नहीं रही। सारे पेड़-पौधे और तमाम जीव-जंतु एक दूसरे के जीन गड्डमड्ड करके बदले जा सकते हैं। सेब का स्वाद देने वाला केला, रात में आंखें चमकाने वाला खरगोश, जुगनू-जैसी चमक फेंकने वाला तंबाकू का पौधा — ये सब हर हफ्ते हो रहा है। प्रयोगशालाओं में क्या-क्या किया जा रहा है, इसका किसी को नहीं पता। बायोटेक-उद्योग कहता है कि भूख मिटा देंगे, रोग मिटा देंगे, ऊर्जा की समस्या हल कर देंगे और वह भी कम लागत में। लेकिन बायोटेक-उद्योग समाज को किस तरह प्रभावित करेगा, अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा, तीसरी दुनिया के साधनहीन गरीबों पर क्या बीतेगी, उनकी आजीविका-सुरक्षा का क्या होगा? अनेक नैतिक और धार्मिक प्रश्नों का क्या होगा? इस पर बायोटेक-उद्योग मौन है। चूं भी नहीं करते।

अमरीका ने दावा किया था कि जीनियोगरी से तैयार फसलें सन् 2000 तक अमरीका में मक्का की पैदावार में 21 प्रतिशत, सोयाबीन की पैदावार में 68 प्रतिशत और गेहूं की पैदावार में 35 प्रतिशत की बढ़ोतरी कर देंगी। लेकिन इन फसलों के अधिक उत्पादन से क्या होगा? यही होगा कि अंतर्राष्ट्रीय मंडी में इन अनाजों के दाम गिरेंगे। आज सन्

2002 में यही हो रहा है कि अनाजों की कीमतें विश्वस्तर पर बराबर गिर रही हैं। जाहिर है कि फालतू अनाज किसी न किसी बहाने से तीसरी दुनिया में पटका जाएगा। जैव प्रौद्योगिकी दुनिया में 'आनुवंशिक दरिद्रता' को ही बढ़ावा देगी।

जैव प्रौद्योगिकी तीसरी दुनिया के गरीब किसानों के पेट पर लात मारने की तकनीकें ही पैदा कर रही हैं। फसलों से मिलने वाले रसायन प्रयोगशाला में बना लेंगे, तो फसलें कौन खरीदेगा। परखनली में ही ये रसायन बना लिए जाएंगे। उदाहरण के लिए 'कोको बटर' चाकलेट बनाने में काम आता है। कोको के पौधे हमारे देश में दक्षिण भारत में खासतौर से केरल में उगाए जाते हैं। अब जीनियोगरी से 'कोको बटर' परखनली में ही पैदा किया जा सकता है। यानी कोको-उत्पादकों की आजीविका छिनने का खतरा पैदा हो गया है।

इस तरह की जीनियोगरी की सूची बड़ी लंबी है। ये वैज्ञानिक खोजें हमें चमत्कृत करती हैं। मगर साथ ही भरमाती भी हैं। मीडिया भी कभी-कभी भरमा जाता है। सारी खबरें ही बाहर से आती हैं। उन्हें ज्यों का त्यों छाप देने से मीडिया का दायित्व पूरा नहीं होता। हमें उनके गुण-दोष परखने होंगे। मीडिया सामाजिक परिवर्तन का औजार रहा है और रहेगा। जैव प्रौद्योगिकी के मामले में भी उसे अपनी सामाजिक भूमिका निभानी होगी।

6. जैव प्रौद्योगिकी भूख नहीं मिटायेगी

भारत के पूर्व प्रधानमंत्री स्व. मोरारजी देसाई एक अलिखित नियम का पालन किया करते थे। वे किसी ऐसी सभा या सम्मेलन का उद्घाटन करने नहीं जाते थे, जिसका विषय ग्रामीण विकास से जुड़ा हुआ न हो। उनके कार्यकाल में नई दिल्ली में वैज्ञानिक उद्योग ने एक सम्मेलन का आयोजन किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था और प्रधानमंत्री से ही इसका उद्घाटन कराया जाना था। अतः मोरारजी भाई को संतुष्ट करने के लिए इस सम्मेलन का विषय रखा गया 'एयरोडाइनेमिक्स एण्ड रूरल डेवलपमेंट' अर्थात् 'वायुगतिकी और ग्रामीण विकास'।

यह चाल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी चली जाती है। तभी तो जैवप्रौद्योगिकी के लिए बराबर यह दावा किया जाता है कि यह भूख और गरीबी मिटाने का अचूक उपाय है। अब नया मंत्र यह है कि गरीबों की समस्याओं के समाधान के लिए प्रौद्योगिकी का फायदा उठाया जाए। 'यू. एन. डी. पी' अर्थात् 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' ने भी इस मंत्र का जाप करना शुरू कर दिया है। इसने सन् 2001 की मानव विकास रिपोर्ट जारी की तो उसका शीर्षक यही रखा कि 'मेकिंग न्यू टेक्नोलोजीज वर्क फॉर द ह्यूमन डेवलपमेंट' यानी 'नई प्रौद्योगिकियों को मानव विकास में लगाया जाए'। यह बायोटेक-उद्योग द्वारा प्रेरित एक और अध्ययन है, जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि 'प्रौद्योगिकी बाजार के दबाव से विकसित होती है, न कि गरीबों की ज़रूरतों से जिनकी क़य-शक्ति बहुत कम होती है।' लेकिन इस के बाद तो पूरी रिपोर्ट में उस प्रौद्योगिकी के गुन गाए गए हैं जो पश्चिम की प्रयोगशालाओं में विकसित की गईं और ठीक से जांचे बगैर भूख और गरीबी मिटाने के नाम पर तीसरी दुनिया के साधनहीन किसानों पर थोपी जा रही है। लेकिन एक बात बराबर छुपाई गई है कि भूखों को भोजन चाहिए न कि तकनीक। और भोजन की कोई कमी नहीं है।

इसमें जिस विज्ञान और प्रौद्योगिकी को 'कटिंग ऐज' यानी तेज़ धार वाली बताया गया है, वह और कोई नहीं बायोटेक्नोलोजी है। इसके बारे में कहा गया है कि विकासशील देशों में अनुसंधान की उच्चकोटि की प्रयोगशालाओं में इस बारे में ठोस परिणाम मिले हैं कि जैव प्रौद्योगिकी मानव-जाति की सदियों पुरानी समस्या - गरीबी - को कितनी आसानी से मिटा सकती है। इस रिपोर्ट में यह चेतावनी भी दी गई है कि "यदि विकासशील देशों ने खाद्यान्न, चिकित्सा और सूचना के क्षेत्र में नई सूझबूझ भरी प्रौद्योगिकी के विस्फोट से मुंह मोड़ लिया तो वे हाशिए पर चले जाएंगे।" असल में इस रिपोर्ट के पीछे भी अमरीका की वह हताशा नज़र आती है, जो उसमें हर तरह से कोशिश करने के बाद भी पराजीनी खाद्यान्न को दुनिया पर थोपने में असफल होने के कारण पैदा हुई है। खाद्यान्न सहायता के नाम पर अफ्रीका के स्कूली बच्चों को भी

पराजीनी खाद्यान्न देने की कोशिश की गई। भारत में भी उड़ीसा में पराजीनी सोयाबीन अंतर्राष्ट्रीय सहायता के रास्ते पहुंचाने के समाचार मिले थे। लेकिन इस तरह की कोशिशों का गरीब देशों ने भी विरोध किया। लेकिन यह तो हद ही हो गई कि 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' की वार्षिक रिपोर्ट को भी अमरीकी हितों की सुरक्षा का माध्यम बनाते हुए इसमें बायोटेक्नोलोजी की वकालत की गई। इससे संयुक्त राष्ट्र के मानव-विकास संबंधी कार्यक्रमों पर भी उंगलियां उठने लगेंगी।

इस रिपोर्ट में जैवप्रौद्योगिकी की महत्ता बताते हुए दलील दी गई है कि जो इलाके हरित क्रांति के स्पर्श से वंचित रहे थे ओर जहां दुनिया की सबसे गरीब आधी आबादी बसी हुई है, उन कृषि और पशुपालन पर निर्भर दरिद्र परिवारों के लिए आशा की किरण बनकर आई है जैव प्रौद्योगिकी। उनके पास इसके सिवा कोई और विकल्प नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हरित क्रांति ने विश्व के कुछ अत्यंत कठिन प्रदेशों में रहने वाले लोगों को छुआ ही नहीं। लेकिन जिस तरह से इस बड़ी बारीक प्रौद्योगिकी को छोटे और सीमांत किसानों के लिए वरदान बताया जा रहा है, वह सफेद झूठ है क्योंकि यह प्रौद्योगिकी हर हालत में छोटे और सीमांत किसानों की बगल से निकल जाएगी और उन पर इसके छींटे भी नहीं पड़ेंगे। दुनिया के एक तिहाई भूखे और गरीब लोग भारत में बसते हैं। यदि भारत इन लगभग 32 करोड़ लोगों की गरीबी और भूख मिटा दे, तो एक तरह से पूरी दुनिया के माथे पर से इस कलंक का अधिकांश मिट जाएगा।

लेकिन हमने तो दुनिया के सामने 'जल बिच मीन पियासी' का ऐसा शर्मनाक नमूना पेश कर दिया कि मानव के इतिहास में वैसा उदाहरण कोई और नहीं मिलता। 6 करोड़ टन से अधिक अनाज गोदामों में भरा रहा और उसमें से बहुत-सा चूहे और कीड़े-मकोड़े खाते रहे और दूसरी ओर लोग भुखमरी के शिकार होते रहे। हमारे पड़ोसी देशों — बांग्लादेश और पाकिस्तान में भी सरकारी गोदामों में अनाज भरा पड़ा है। इन देशों में से किसी ने भी इतना राजनीतिक साहस नहीं दिखाया कि फालतू जमा हो रहे अनाज को भूखों तक पहुंचाते। अनाज के पहाड़ों तले भूख पनपती रही और भूखे लोग पिसते रहे। 21 वीं सदी की इस सबसे भयंकर भूल के प्रति विश्व के वैज्ञानिकों और विकास कर्मियों ने भी कोई आवाज नहीं बुलंद की।

आखिरकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मतलब क्या है — यही कि वह धरती के माथे से भूख का कलंक मिटा दे। हरित क्रांति का उद्देश्य भूख से निपटना ही था और अपनी सीमाओं में यह लक्ष्य बखूबी पूरा किया गया। लेकिन आज जब अनाज के पहाड़ खड़े हो गए हैं तो विश्व समुदाय उसे सड़ने तो दे रहा है, लेकिन उन भूखे गरीबों तक नहीं पहुंचा रहा, जिनके पास इसे खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं। फोर्ड फाउण्डेशन, रॉकफैलर फाउण्डेशन, एक्शनएड, किश्चियन एड, ऑक्सफैम, ब्रिटिश डी. एफ. आइ. डी. आदि कोई भी बिल्ली के गले घंटी बांधने को तैयार नहीं है। इसके लिए भगीरथ-प्रयास करने की ज़रूरत थी जिससे 'एफ. ए. ओ.' ने भी मुंह मोड़ लिया है। इसकी बजाय वे पांच साल पहले किए गए विश्व खाद्य शिखर सम्मेलन (वर्ल्ड फूड समिट) को फिर से दुहराने में लग गए। इस सम्मेलन में विश्व के राष्ट्राध्यक्षों ने फिर

से वायदा किया कि वे सन् 2015 तक दुनिया में भूखे रहने वाले गरीबों की गिनती घटाकर आधी कर देंगे।

भूख और कुपोषण की वास्तविकताएं पूरी तरह समझी जा सकें, यह भी आसान नहीं है। गांवों में मोबाइल फोन बांटने से ग्रामीण भूख का पेट नहीं भरेगा। विटामिन 'ए' के वंशाणु फसलों में डालकर तैयार की गई पराजीनी फसलें भी गरीबों की भूख नहीं मिटा सकतीं। नए-नए खाद्य पदार्थों के विकल्प प्रस्तुत करके भी भूखों का पेट नहीं भरा जा सकता। जिन्होंने मानव विकास रिपोर्ट तैयार की है वे उद्योगों के बायोर्टक संबंधी हितों की रक्षा में लग गए और उन्होंने ज़मीनी सचाइयों पर ध्यान नहीं दिया। वे इस मंहगी प्रौद्योगिकी की हिमायत करने की धुन में यह भी भूल गए कि जिन गरीबों की कीमत पर वे इस प्रौद्योगिकी को आगे बढ़ाना चाहते हैं, उनके और अमीरों के बीच की खाई यह प्रौद्योगिकी और भी ज़्यादा बढ़ायेगी। इस विशाल अंतराल को कोई नीति-निर्देश नहीं भर सकता। भूमंडलीकरण और प्रौद्योगिकी क्रांति दोनों को आर्थिक विकास का जुड़वां इंजन बताया जा रहा है जब कि वे इस खाई को और भी चौड़ा करेंगे। वस्तुतः जैवप्रौद्योगिकी लोगों को भूख के जबड़ों में और भी तेज़ी से धकेल देगी। आने वाले वर्षों में भूख और भी ज़्यादा लोगों को दबोचेगी क्योंकि ज़मीनी सचाइयों को दर किनार कर के लोगों का ध्यान, धन और संसाधन फिज़ूल की तकनीकों में गंवा दिए जाएंगे।

जब राजनीतिक नेतृत्व ने दुनिया में भूखों की संख्या घटाकर आधी करने की जिम्मेदारी सन् 2015 तक टाल दी, तो वैज्ञानिक समुदाय को भी कंधे से यह जुआ उतार फेंकने का मौका मिल गया। चाहे उत्तरी विश्व में हों या दक्षिणी विश्व में जीनियोगरी की सभी प्रयोगशालाएं इस उधेड़बुन में जुटी हैं कि ऐसी पराजीनी फसलें पैदा करें जो खाने योग्य टीके पैदा करें या फिर विटामिन 'ए', लोहा और अन्य खनिज पैदा करने वाले वंशाणु डालकर कुपोषण से पैदा छुपी भूख मिटा सकें। लेकिन विश्व के विज्ञान एवं विकास से जुड़े समुदाय यह भूल जाते हैं कि अगर भूख मिटा दी जाए तो 'छुपी भूख' तो अपने-आप मिट जायेगी।

उदाहरण के लिए बहुप्रचारित 'गोल्डन राइस' को ही लें। इस 'सुनहरे चावल' में विटामिन 'ए' बनाने वाले जीन डाले गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अकेले भारत में कोई 120 लाख बच्चे, औरतें और अन्य गरीब लोग विटामिन 'ए' की कमी के शिकार हैं और यह नेत्रहीनता पनपने का सबसे बड़ा कारण है। लेकिन यह कहना कि 'सुनहरे चावल' खिलाकर यह समस्या दूर कर दी जाएगी, वास्तविकता से मुंह फेर लेना माना जाएगा। यह ज्ञात होना चाहिए कि विटामिन 'ए' की कमी वाली अधिकतर आबादी पिछड़े और साधनहीन परिवारों में इतनी दरिद्रता की जिंदगी गुज़ार रही है कि वे दोनों वक्त की रोटी भी नहीं जुटा पाती। अगर उन्हें भर पेट भोजन मिल जाए तो फिर उन्हें विटामिन 'ए' की कमी क्यों सताएगी? जो लोग सामान्य दाल-रोटी भी नहीं जुटा पाते वे भला 'सुनहरा चावल' खरीदने लायक साधन कहां से जुटा पाएंगे। इस बारे में 'गोल्डन राइस' के हिमायती मौन हैं।

तीसरी दुनिया के लिए नहीं

पूरी दुनिया में जैव-प्रौद्योगिकी ने जैसा विवाद खड़ा किया है, वैसा शायद एटम-बम को लेकर परमाणु-प्रौद्योगिकी ने भी पैदा नहीं किया था। नाभिकीय-प्रौद्योगिकी से पैदा एटम-बम से भी ज्यादा खतरनाक है यह बायोटेक-बम, जो बायोटेक्नोलॉजी की देन है। जिस तेजी से जीनियोगरी से तैयार बीज, फसलें और खाद्य पदार्थ प्रचारित किए जा रहे हैं, उसी तेजी से उनका विरोध भी हो रहा है। इस मोर्चे पर जन-संपर्क के विशेषज्ञ अपने तमाम हथकंडे अपनाकर भी जैव-प्रौद्योगिकी के पक्ष में जनता का समर्थन नहीं जुटा पा रहे और इस हताशा ने उन्हें अपने हथकंडों को नए-नए रूप देने में व्यस्त कर दिया है। उत्तरी अमरीका के बाहर हर जगह बायोटेक्नोलॉजी का विरोध किया जा रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि बायोटेक कंपनियां जनता को न तो इसकी अच्छाइयां समझने का मौका दे रही हैं, न बुराइयां समझने का। बस किसी भी तरह जल्दी से जल्दी बायोटेक्नोलॉजी को जनता के गले में ठूसना चाहती है कि कितनी ही कड़ुई क्यों न हो, लोग इसे बिना किसी आनाकानी के निगल लें। इसके लिए सरकारी क्षेत्र की प्रयोगशालाओं में कार्यरत वैज्ञानिक भी जिम्मेदार हैं, क्योंकि उनमें से शायद ही किसी ने बायोटेक्नोलॉजी का खुलकर विरोध किया हो।

कृषि के क्षेत्र में जैव-प्रौद्योगिकी से क्या-क्या फायदे होंगे, इसका प्रचार बड़े लुभावने तरीके से बढ़ा-चढ़ाकर किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि यह सभी फसलों की और पशुओं की उत्पादकता बढ़ाकर आसमान तक पहुंचा देगी। पूरी दुनिया का पेट भर देगी। भारत के कृषि-वैज्ञानिकों ने भी इन बायोटेक-बंधुओं की हां में हां मिलाना शुरू कर दिया। वे भी बायोटेक-विरुदावली गाने लगे। लेकिन खाद्यान्न की बढ़ती मांग जैव-प्रौद्योगिकी कैसे पूरी करेगी, इसका खुलासा कोई नहीं करता। इनकी कथनी और करनी के बीच बहुत बड़ी खाई है। बायोटेक-उद्योग जो भी नई चीजें पैदा कर रहा है, वे केवल अमीर देशों के मतलब की हैं। वे ही उनका खर्चा भी उठा सकते हैं और फायदा भी। तीसरी दुनिया न तो इस मंहगी प्रौद्योगिकी का आर्थिक बोझ उठा सकती है और कोई लाभ भी नहीं ले सकती। लाभ तो बस बायोटेक कंपनियों का होगा।

अगर बायोटेक कंपनियों की दुनिया से भूख मिटाने की चिंता होती तो वे ऐसे बीज लातीं, जो सूखा सह लेते; वे ऐसे बीज निकालतीं जो नोनिया मिट्टियों में भी पैदा हो जाते। असल में जैव-प्रौद्योगिकी भूखी दुनिया को खाद्य-सुरक्षा देने की बजाए बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मुनाफा-सुरक्षा देने के लिए अवतरित हुई है। कुछ दानवीय बायोटेक-कंपनियां इस तकनीक के प्रचार से अपना मुनाफा सुरसा राक्षसी के मुंह की तरह बढ़ाती चली जाएंगीं।

अगर अनाज वाली फसलों की उत्पादकता बढ़ाने में इनकी दिलचस्पी होती, तो उसके रास्ते भी खोजते! वे रास्ते क्या हो सकते हैं? क्या उत्पादकता बढ़ाने की खूबी पैदा करने वाले वंशाणु खोजे जा रहे हैं? क्या ये वंशाणु फसलों में डाले जा रहे हैं? क्या पैदावार बढ़ाने में रोक लगाने वाली आनुवंशिक बाधाएं तोड़ने में जैव-प्रौद्योगिकी की मदद ली जा रही है? दुनिया को रोटी और चावल खिलाने वाले गेहूं-धान क्षेत्र में

उत्पादकता एक स्तर पर पहुंचकर ठहर गई है। इस ठहराव को तोड़ने में क्या जैव-प्रौद्योगिकी कोई मदद कर रही है?

अभी तक सूखा, लवणता और कीट-व्याधियों की और कीट-रोधिता की समस्याओं को बस छुआ ही गया है। एक बहुत बड़ा ढोल पीटा गया था कि जिस तरह दालों जैसी फली वाली फसलों में हवा से नाइट्रोजन खींचकर मिट्टी में जमा करने और इन पौधों की जड़ों में बनने वाली गांठों में जमा करने की क्षमता है, वैसी ही क्षमता ये जीन अनाज वाली फसलों में डालकर, गेहूं, धान और मक्का वगैरह में पैदा की जा सकेगी। इस दिशा में कुछ छुटपुट प्रयास किए भी गए। लेकिन जिस बड़े स्तर पर यह कोशिश की जानी चाहिए थी, वह नहीं की गई। सुना है जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में तो इस काम के लिए बनाई गई प्रयोगशाला बंद ही कर दी गई। जिस तरह भारत के बारानी इलाकों में वर्षा-सिंचित फसलों की पैदावार बढ़ाने के बस छुटपुट प्रयास किए गए, वैसे ही जैव-प्रौद्योगिकी अनुसंधान के उन क्षेत्रों की ओर पीठ कर लेती है, जिनसे सचमुच में उन फसलों का उत्पादन बढ़े, जो तीसरी दुनिया में उगाई जाती हैं या उन कृषि-समस्याओं का समाधान हो, जो तीसरी दुनिया की खाद्य-सुरक्षा के लिए चुनौती पैदा कर रही हैं।

उदाहरण के लिए ध्यान देने की जरूरत है मोटे अनाजों और दलहनी फसलों पर। वह भी इस दृष्टि से कि इनकी उत्पादकता बढ़े, न कि इनमें हर्षीसाइड-रोधिता पैदा हो। अनुसंधान का उद्देश्य ऐसे दीर्घकालीन परिणाम प्राप्त करना होना चाहिए जो कृषि-उत्पादकता को समगतिशील यानी टिकाऊ बनाएं।

जैव-प्रौद्योगिकी की जीनियोगरी पर आधारित नई तकनीकों की सुरक्षा के बारे में अकेला विज्ञान सारे समाधान नहीं दे सकता, यह सच है। साथ ही इन सभी समस्याओं के हल भारत सरकार के जैव-प्रौद्योगिकी विभाग के पास भी नहीं है, क्योंकि कृषि और फसल-उत्पादन की जटिलताएं समझना उस विभाग की प्राथमिकताओं से बाहर है यह विभाग तो बनाया ही इसलिए गया है कि जैव-प्रौद्योगिकी को आगे बढ़ाए।

असल में जैव-प्रौद्योगिकी से जुड़े सभी सरकारी विभागों को वैज्ञानिक तथा तकनीकी मुद्दों की संकरी गली से बाहर निकलकर चौराहे पर मुंह बाए खड़े राजनीतिक, कानूनी और नैतिक मुद्दों से निपटना होगा। अनुसंधान की प्राथमिकताएं गुपचुप तय करने की बजाए, उन पर खुली बहस के बाद ही उन्हें अंतिम रूप देना चाहिए। जैव-प्रौद्योगिकी पर निगरानी रखने से जुड़े मुद्दे किस तरह उठाए जा रहे हैं, यह जनता को साफ-साफ बताया जाए, तो जनता का भरोसा जीता जा सकता है। नई प्रौद्योगिकी नए-नए मुद्दे पैदा कर रही है। उनके बारे में पूरी जानकारी दी जाए और सभी क्रिया-कलापों में पारदर्शिता बरती जाए।

करोड़ों किसानों की किस्मत का फैसला कुछ इने-गिने नौकरशाहों पर नहीं छोड़ा जा सकता जो वातानुकूलित कक्षों में बैठकर फैसले करते हैं। उन्हें जमीनी सचाइयों का कोई अहसास नहीं है और वे जिस-तिस के दबाव या बहकावे में आकर उल्टे-सीधे

फैसले करने में चूकते नहीं हैं। अपने को सर्वज्ञ मानने वाले प्रशासनिक अधिकारियों को 'डी.एन.ए.' के हिज्जे भी न आते हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुर्भाग्य से ऐसे ही लोग जैव-प्रौद्योगिकी के बारे में सर्वेसर्वा बने हुए हैं। यही तय करते हैं किस जैव-प्रौद्योगिकी का व्यापारिक उपयोग स्वीकृत किया जाए और किसका नहीं। अगर वैज्ञानिकों में से कुछ कड़ुई सचाई बयान करने की हिम्मत भी करें तो उनकी आवाज दबा दी जाती है। या फिर ऐसी कमेटियां बनाई जाती हैं जिनमें सिर्फ हामी भरने और जी-हुजूरी करने वाले विशेषज्ञ हों, जिन्हें बैठकों में भाग लेने के लिए मिलने वाले दैनिक भत्ते और मानदेय बटोरने की ज्यादा फिक्र होती है। ऐसे तमाम लोगों को जैव-प्रौद्योगिकी लाने के कारण होने वाले दुष्परिणामों के लिए जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए।

जीनियोगरी की तकनीक में इतनी क्षमता अवश्य है कि वह नए-नए जीन पौधों में डालने के लिए उपलब्ध कराएगी। लेकिन जैसा कि हरित-क्रांति लाने वाली सघन खेती में हुआ कि परंपरागत किस्मों को भुलाकर नई किस्में अपनाएने की ऐसी दौड़ शुरू हुई कि सब लोग गेहूं-धान की इनी-गिनी किस्में ही पैदा करने लगे, वैसा जैव-प्रौद्योगिकी में नहीं होना चाहिए। ऐसा न हो कि जीनियोगरी से फसलों की किस्मों में विविधता लाने की बजाए उनकी एक-सी आनुवंशिक बुनियाद डाल दी जाए और बहुत संकुचित जीनाधार बना दिया जाए। एक-दो किस्मों पर निर्भर रहने की दुनिया काफी बड़ी कीमत दे चुकी है। एक बीमारी या एक कीट-व्याधि ही लाखों हैक्टर में उग रही फसल को चौपट कर सकती है और कर चुकी है।

जैव-प्रौद्योगिकी की नीतियां बनाते समय यह ध्यान रखना होगा कि प्रकृति से छेड़छाड़ कम से कम की जाए। कहीं ऐसा न हो कि जंगली जातियां ही विलुप्त हो जाएं या फिर प्राकृतिक प्रजातियां कड़ी प्रतियोगिता में हार जाएं और दम तोड़ बैठें या फिर उनके प्राकृतिक आवास ही उनसे छिन जाएं।

कहीं से कोई भी वंशाणु निकालकर किसी भी पेड़-पौधे या जीव-जंतु में डालने की जीनियोगरी बड़ी करामाती लगती है। लेकिन इसके नतीजों को लेकर शंकाएं भी उठती हैं। क्योंकि ये नतीजे जरूरी नहीं कि वैसे ही हों, जैसे कि वैज्ञानिकों ने सोचे थे। ब्रिटेन में पराजीनी आलू खाने वाले चूहों पर जहरीला असर पड़ा तो वहां पराजीनी फसलों के खिलाफ आंदोलन खड़ा हो गया। ऐसी घटनाएं अपने देश में न हों, इसका ध्यान रखना होगा। जो जैव-प्रौद्योगिकी की हर अदा को आंखें मूंदकर अपनाते चाहते हैं, उनकी आंखें ऐसी घटनाओं से खुल जानी चाहिए।

दूसरी चिंताजनक बात यह है कि इस बारीक और मंहगी तकनीक के तमाम पहलुओं के पेटेंट बहुराष्ट्रीय कंपनियां ले रही हैं। जो भी नए वंशाणु खोजे जाते हैं, वे उनको पेटेंट करा लेते हैं। जो भी नई तकनीक खोजी जाती है, उसे भी पेटेंट करा लिया जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि बौद्धिक संपदा के अधिकार के तहत जो भी इन वंशाणुओं और तकनीकों को इस्तेमाल करना चाहेगा, उसे मोटी लाइसेंस फीस देनी होगी। यह फीस लाखों डालर में होती है। भारत जैसे विकासशील देश

जैव-प्रौद्योगिकी का खर्चा भी नहीं उठा सकते। न उनके पास इतने साधन हैं कि इस विषय पर अनुसंधान में बड़े देशों का और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मुकाबला कर सकें। इसीलिए अभी तक भारत में जैव-प्रौद्योगिक अनुसंधान के कोई ऐसे खास नतीजे नहीं आए हैं, जिनसे किसानों का और उपभोक्ताओं का भला हो। बाहर वाले तो हमेशा ही घिसीपिटी तकनीकें देते हैं, जो उनके यहां असफल रही हों या अस्वीकार कर दी गई हों। भारत में कपास में बीटी जीन डालने की तकनीक पेटेंट कराने की एक कंपनी ने कोशिश की थी, जिसे भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के वैज्ञानिकों ने नाकाम कर दिया। इसका विरोध करते हुए वैज्ञानिकों ने इसे जनहित-विरोधी साबित किया था। लेकिन बाद में वही बीटी-कपास एक भारतीय कंपनी के जरिए भारत के किसानों पर थोप दिया गया और उस पर उठाए गए तमाम सवाल ठुकरा दिए गए।

ऐसे माहौल में यह और भी जरूरी हो गया है कि हमारा देश जैव-प्रौद्योगिकी के बारे में क्या नजरिया रखता है, यह जनता के सामने साफ-साफ रखा जाए। हमारे पास इस विषय पर अनुसंधान और विकास का ढांचा क्या है? यह हो जाएगा और वह हो जाएगा, इसके दावे तो बहुत किए जाते हैं, लेकिन कुछ किया भी? कुछ हुआ भी?

इधर हम इन तमाम सवालों को लेकर ऊहापोह में लगे हुए हैं और उधर बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां बायोटेक्नोलॉजी को अपनी बपौती बनाने में तुली हुई हैं। भारत में भी इन कंपनियों की देखा-देखी अनेक निजी कंपनियां बायोटेक्नोलॉजी में अनुसंधान करा रही हैं। भारत का सबसे बड़ा निजी उद्योग अम्बानी समूह भी जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पदार्पण कर चुका है। इस तरह सरकारी प्रयोगशालाओं के तमाम प्रतिभाशाली वैज्ञानिक निजी प्रयोगशालाओं के अधिक वेतन और सुविधाओं की ओर खिंचे चले जा रहे हैं। जब पौधों की जैव-प्रौद्योगिकी के राष्ट्रीय केन्द्र के निदेशक का पद खाली हुआ तो उसके लिए सुयोग्य व्यक्ति खोजना कठिन हो गया। बाहर से जो वैज्ञानिक चुने गए, वे निजी कंपनी की प्रयोगशाला में चले गए। इसी तरह वरिष्ठ वैज्ञानिक के पद पर जो वैज्ञानिक एक विश्वविद्यालय छोड़कर आए, उस विश्वविद्यालय में उनके बाद जैव-प्रौद्योगिकी का अनुसंधान ठप्प-सा हो गया।

क्या जैव-प्रौद्योगिकी रोजगार पैदा करेगी? इसका जवाब भी नकार में ही है। स्वयं जैव-प्रौद्योगिकी विभाग ने एक सर्वेक्षण कराया तो पता चला कि जैव-प्रौद्योगिकी में एम.एससी. करने वालों के लिए भारत में नौकरियां ही नहीं हैं। उन्हें न तो आनुवंशिकी का विशेषज्ञ माना जाता है और न जीव-रसायन का। इन दोनों विज्ञानों में नौकरियां हैं; बायोटेक्नोलॉजी में नहीं है। इसके बावजूद नए-नए संस्थानों में जैव-प्रौद्योगिकी की पढ़ाई के लुभावने विज्ञापन देकर अभिभावकों से मोटी-मोटी फीस वसूली जा रही है और विद्यार्थियों को मूर्ख बनाया जा रहा है। ऐसे अनेक संस्थानों के पास न तो जैव प्रौद्योगिकी के योग्य अध्यापक हैं और न प्रयोगशालाएं हैं, फिर भी पता नहीं कैसे उन्हें इस विषय में स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू करने की इजाजत मिल जाती है। भारत के नौजवानों के भविष्य से ऐसी खिलवाड़ तुरंत बंद की जानी चाहिए।

पिछले दिनों मानव-जीनोम की घोषणा की गई। अमरीका के राष्ट्रपति क्लिंटन और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री भी वैज्ञानिकों की पीठ टोकने के लिए इस घोषणा के समय मौजूद थे। लेकिन असलियत यह है कि मानव-वंशाणुकोष की चार रासायनिक अक्षरों की भाषा में उसकी कोई सवा तीन अरब अक्षरों की इबारत ही पढ़ी गई है। उसके कोई 40,000 वंशाणु में से जिस वंशाणु की इबारत जान ली जाती है, उसकी खोज करने वाला वैज्ञानिक उसका पेटेंट ले लेता है। यह ऐसा ही है जैसे इंसान को पेटेंट किया जा रहा हो। अब कोई इन वैज्ञानिकों से पूछे कि क्या इंसान उनकी प्रयोगशाला में पैदा हुआ था?

इसी तरह पौधों के जीनकोष बनाए जा रहे हैं। यहां भी कोई काम का वंशाणु नजर आया तो उसे पेटेंट करा लेते हैं। अलग-अलग दावे किए जाते हैं। पहले मोसाण्टो ने दावा किया कि उसने धान का जीन-कोष बना लिया है। फिर वाहवाही लूटने के लिए यह भी कहा गया कि यह जीन-कोष सबको उपलब्ध रहेगा। बाद में पता चला कि अभी तो धान के 12 गुणसूत्रों पर 'वंशाणु-क्रम क्या है, इसकी खोज चल रही है। भारत भी ग्यारहवें गुणसूत्र (क्रोमोसोम) के एक हिस्से पर लगभग 50 करोड़ रुपए की लागत से इस अनुसंधान में शामिल हो गया। तभी चीन ने घोषणा की कि उसने 'इंडिका' धान का जीन-कोष खोज लिया है। दूसरी ओर सिंजेटा कंपनी ने दावा किया कि उसने 'जैपोनिका' धान का जीन कोष खोज लिया है। अब तो भारत सहित दस देशों के कंसोर्शियम ने धान के 12 गुणसूत्रों के 'जीनोम' का दूसरा चरण पूरा कर लिया है और अब तीसरे चरण में 'खाली जगह' भरी जा रही हैं। इसमें सिंजेटा और मोसाण्टो ने अपना धान-जीनोम मसौदा इस शर्त पर दिया है कि अगर कोई व्यापारिक फायदा उठाया गया तो उसमें उनका भी हिस्सा होगा। इस तरह जैव-प्रौद्योगिकी से फायदा उठाने की कोशिश में ऐसी आपाधापी मची है कि किसके दावे सच हैं और किसके झूठे, इसका पता ही नहीं चलता। और पता करने के लिए जो बुनियादी ढांचा चाहिए या जो पारदर्शिता होनी चाहिए, वह भी गायब है।

यदि निजी कंपनियां जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में किए जा रहे अनुसंधान के उपयोगी परिणामों को छुपाना चाहती हैं या उन्हें अपनी बपौती बनाना चाहती हैं, तो निजी कंपनियों और सरकारी प्रयोगशालाओं के बीच अनुसंधान में सहयोग के जो गठजोड़ किए जा रहे हैं, उनकी समीक्षा की जानी चाहिए। शायद ये समझौते और गठजोड़ केवल इसलिए किए जा रहे हैं कि इस बहाने से निजी कंपनियां सरकारी संस्थानों में संग्रहीत बहुमूल्य जैव-विविधता तक अपनी पहुंच बना लें और उसका फायदा उठाकर जो भी नई चीज निकले उसे पेटेंट करा लें। अनेक निजी कंपनियां शायद इसीलिए करोड़ों रुपए के पूंजीनिवेश की गाजर लटका कर भारत सरकार के अनुसंधान-संगठनों को लुभा रही हैं।

यह भूख का हल नहीं

जीनियागरी-उद्योग दावा करता है कि जिस दुनिया में 80 करोड़ लोग भूखे पेटे सोते हों और अगले दस साल में जहां इन भूखों की संख्या डेढ़ अरब तक पहुंचने वाली हो,

उस दुनिया से केवल बायोटेक्नोलॉजी ही भूख मिटा सकती है। अब जिन्हें जैव प्रौद्योगिकी की असलियत नहीं मालूम उन लोगों पर ही उनके इस दावे का असर पड़ सकता है। दुर्भाग्य से मीडिया में भी ऐसे संपादक हैं, जिन्हें बायोटेक का 'क ख ग' भी नहीं पता। आम जनता में तो यों ही निरक्षरता फैली हुई है। हमारे नीति-निर्माता भी इस विज्ञान की बारीकियों में जाने से कतराते हैं कि कौन माथापच्ची करे।

सचाई यह है कि आज की दुनिया सभी 80 करोड़ भूखों का पेट भर सकती है। समस्या उत्पादन की नहीं, वितरण की है। भूख और गरीबी यूरोप के देशों में भी हैं। लेकिन वहां किसानों को 600,000 पाउण्ड यानी कोई 4200,0000 रुपए किसानों में इसलिए बांटे जाते हैं कि वे अपनी पकी फसल को हल चलाकर फिर से मिट्टी में मिला दें, उसे मंडी में न लाएं। 270 लाख पाउण्ड किसानों को खेत खाली छोड़ने की एवज में दिए जाते हैं और ऊपर से दावे किए जाते हैं कि ये सभी देश दुनिया से भूख मिटाना चाहते हैं।

भारत खाद्यान्न में 'आत्म-निर्भर' ही नहीं हो गया, बल्कि इतना अनाज पैदा होने लगा है कि रखने की जगह नहीं है। फिर भी उड़ीसा के कालाहांडी जैसे इलाकों से भुखमरी की दर्दनाक खबरें आती रहती है। यहां पर ऐसा नहीं है कि हर साल सूखे के कारण भुखमरी फैलती हो। इस जिले में कोई 2 करोड़ की जनसंख्या रहती है। जमीनें उपजाऊ हैं। पुराने जमाने से यह उड़ीसा का धान का कटोरा माना जाता रहा है। जब सन् 1943 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा था, तो कालाहांडी से वहां चावल भेजा गया था!

तो समस्या उत्पादन की नहीं है। भूख से वही गरीब मरते हैं, जिनके पास बाजार में बिकते अन्न को खरीदने लायक पैसे नहीं हैं। इन सबसे गरीब लोगों का पेट जैव प्रौद्योगिकी कैसे भर देगी? और भारत में कोई 32 करोड़ लोग अब भी गरीबी की रेखा के नीचे गुजर-बसर करते बताए जाते हैं।

सन् 1999 में, भारत ने गेहूं की भरपूर फसल पैदा की – पिछले साल से 60 लाख टन ज्यादा। पहले ही सरकारी गोदामों में 40 लाख टन गेहूं जमा था। 60 लाख टन और जमा हो गया। इस तरह गोदामों में 100 लाख टन गेहूं भर गया। अब यह जैव प्रौद्योगिकी ने तो नहीं किया? असलियत यह है कि जीनियोगरी इतनी मंहगी तकनीक है कि इसको खेतीबाड़ी में अपनाने से बीज मंहगा होगा, फसल मंहगी होगी और किसान और उपभोक्ता दोनों को नुकसान उठाना पड़ेगा। बस, कंपनियां फायदे में रहेंगी।

पक्षपात

पत्रकारिता के विद्यालयों में यह पढ़ाया जाता है कि किसी भी 'खबर' के दोनों पहलू पाठकों के सामने रखने चाहिए। यानी समाचार संतुलित होने चाहिए। यह अवधारणा बाजारू अर्थव्यवस्था लागू होने के बाद और भी बलवती हुई है। समाचारों में दोनों पक्ष

रखने पर इसीलिए जोर दिया जा रहा है ताकि नई अर्थ व्यवस्था के नुकसान ही न गिनाए जाएं, फायदे भी बताए जाएं। हम संतुलित समाचारों का विरोध नहीं करते, लेकिन पत्रकारों को समाचारों का विश्लेषण करके हर मुद्दे को दोनों पहलू से कसौटी पर कसने और यह बताने की तो छूट होनी ही चाहिए कि कितना दूध है और कितना पानी। 'नीर-क्षीर विवेक' की यह प्राचीन परंपरा कम से कम भारत जैसे विकासशील देश की पत्रकारिता में तो जारी रहनी ही चाहिए। क्योंकि 'संतुलित' पत्रकारिता के नाम पर अमीरों का पक्षपात किए जाने का ज्यादा डर है। इसीलिए पत्रकारों का एक वर्ग बायोटेक कंपनियों के बहकावे में आकर उनकी हिमायत करता रहा है। जीनियागरी के बारे में उठे विवाद ने यह दिखा दिया है कि पूरी दुनिया में संचार माध्यम अपने दायित्व के प्रति सजग हैं। उपभोक्ताओं का साथ निभाकर पत्रकारों ने कुछ बुरा नहीं किया है, भले ही फिर उन पर 'जर्नलिस्ट' की बजाए 'एक्टिविस्ट' होने का आरोप लगाया जाए। विकसित और विकासशील देशों में जैव प्रौद्योगिकी की सामाजिक-आर्थिक प्रासंगिकता के बारे में संचार माध्यमों ने पूरी स्पष्टता के साथ विश्लेषणपरक समाचार और आलेख प्रकाशित किए हैं और रेडियो तथा टी.वी. पर परिचर्चाएं आयोजित की हैं। इनका असर पड़ा है, नहीं तो जैव प्रौद्योगिकी के विरुद्ध आंदोलन करने वाले संगठनों की आवाज नक्कारखाने में तूती बनकर रह जाती। अर्थव्यवस्था के बारे में सरकारी रूख के विपरीत दूसरी विचारधारा का प्रचार करके और जैव प्रौद्योगिकी का विरोध करके संचार माध्यमों ने टिकाऊ विकास की अवधारणा का प्रबल समर्थन किया है। पत्रकारिता को समाधान का साथ निभाना होगा, न कि समस्या का। तभी विकासशील देशों की बहुसंख्यक जनता का भला होगा, जहां लोग सूखा, अकाल और भुखमरी से लड़ रहे हैं।

इस तरह के वैश्विक या भूमंडलीय मुद्दों पर लिखने और उन्हें स्थानीय मुद्दों से जोड़ने के लिए ऐसे पत्रकारों की जरूरत है, जो विज्ञान की बारीकियां समझते हों। यानी जिन्होंने विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की हो। या फिर विज्ञान में रूचि होने के कारण उसका ज्ञान अर्जित किया हो। एक ऐसा पत्रकार-वर्ग जरूरी है जो पर्यावरण और मानव-समाज पर मंडराते संकट में गहरी दिलचस्पी रखता हो और जिसे सचमुच इसकी चिंता हो। दुर्भाग्य से पत्रकारिता में विज्ञान-संवाददाता और विज्ञान-लेखक नाम का जीव विकासशील देशों में दुर्लभ है। कुछ इने-गिने लोग ही यह जिम्मेदारी निभा रहे हैं। दूसरी ओर नई प्रौद्योगिकियों को लेकर दुनियाभर में द्विपक्षीय या बहुपक्षीय समझौते हो रहे हैं और जरूरत हो न हो, तमाम तरह की तकनीकियां विकासशील देशों के सिर पर पटकी जा रही हैं। इसका खुलासा पत्रकार ही कर सकते हैं कि यह एक साजिश है, गरीब देशों को लूटने की। जैव प्रौद्योगिकी के बारे में पत्रकार तभी अपनी राय कायम कर सकते हैं और लिख सकते हैं, जब उन्हें इसकी बारीकियां आती हों। तभी वे इस नई प्रौद्योगिकी का नई व्यापारिक नीतियों, बाजार खोलने के दबावों और जैव-विविधता तथा बौद्धिक संपदा के अधिकार के संदर्भ में सही विवेचन कर सकेंगे।

बायोटेक-उद्योग ने जो दावे किए हैं उन्हें भी मीडिया ने काफी जगह दी है। उदाहरण के लिए यह बात खूब प्रचारित की गई कि मई 1997 तक अकेले अमरीका में

जीनियोगरी से तैयार पौधों के 5000 फील्ड टैस्ट किए गए। इसके अलावा जीनांतरित सूक्ष्म जीवों के भी कोई 100–200 फील्ड टैस्ट किए गए। साथ ही मछलियों की भी दो पराजीनी नस्लें परखी गईं। वहां अनेक पौधों में पराए जीन डालकर उनसे दवाएं, पोलिमेर और आद्योगिक एंजाइम निकालने और कुछ पौधों का तैलीय, स्टार्च तथा प्रोटीन-अंश बढ़ाने के प्रयास भी किए गए।

मई 1994 में अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी 'काल्जीन' ने 'फ्लावर-सावर' नामक टमाटर तैयार किया था। इसे बाजार में लाने वाली कंपनी थी मॉसाण्टो। तभी से अनेक कंपनियों में पराजीनी फसलें लाने की होड़ लग गई, जिन्हें मीडिया ने ही 'डिजाइनर फसलें' कहकर उनके भाव बढ़ाए। असल में 60 के करीब फसलें अब तक पराए जीन डालकर पराजीनी बनाई जा चुकी हैं। जिनेटिक इंजीनियरिंग यानी जीनियोगरी ऐसी प्रौद्योगिकी है जिसमें एक जीव के जीन दूसरे में डालने की तमाम तकनीकें अपनाई जाती हैं। इरादा यही है कि बाजार में उनके ऊंचे दाम मिलें और उनमें ऐसी खूबियां हों कि कोई और उनका मुकाबला न कर पाए। उत्तरी अमरीका में इन 60 पराजीनी फसलों में से कम से कम 20 फसलों की व्यापारिक खेती की जा रही है।

जीनियोगरी की बारीक तकनीकों को और भी पैनाया जा रहा है, ताकि एक जीव का जीन दूसरे जीव में जल्दी डाला जा सके, आसानी से डाला जा सके और इसकी पहचान भी हो जाए कि वह जीन दूसरे जीव में पहुंच गया है। जब हम जीव कहते हैं तो उसमें बैक्टीरिया जैसे सूक्ष्मजीव से लेकर तमाम पौधे और प्राणी सभी आते हैं। इसी के साथ इन पराजीनी जीवों का व्यापारिक लाभ कैसे उठाया जाए इसके लिए भी बड़ी माथापच्ची की जाती है और सारे व्यापारिक हथकंडे अपनाए जाते हैं। फिलहाल जीनियोगरी की तकनीक से फसलों में खरपात-रोधी जीन डाले जा रहे हैं ताकि खरपातवार-नाशी दवाएं किसान बेखटके इस्तेमाल करें। कीटरोधी जीन भी डाले जा रहे हैं। प्रोटीन की मात्रा बढ़ाने वाले जीन भी डाले गए हैं। विटामिन और खनिज बढ़ाने वाले जीन भी डाले गए हैं। साथ ही ऐसे जीन डाले गए हैं कि कटाई और तुड़ाई के बाद फसल जल्दी खराब न हो और देर तक ताजा बनी रहे। लेकिन अभी तक विश्व की कृषि पर इन तमाम जैव प्रौद्योगिक प्रयासों का कोई खास असर नहीं पड़ा है और औद्योगिक देशों के किसानों में भी यह तकनीक उनका विश्वास नहीं पा सकी।

अमरीका के 'ऑफिस ऑफ टेक्नोलॉजी असेसमेंट' के अनुसार "बायोटेक्नोलॉजी ऐसी तकनीक है, जिसमें सचेतन जीव का इस्तेमाल किया जाता है या फिर ऐसे जीवों से प्राप्त पदार्थों का उपयोग किया जाता है और इस तरह पौधे या प्राणी में सुधार किया जाता है या किसी खास इस्तेमाल के लिए सूक्ष्मजीव विकसित किए जाते हैं।" इस तरह जैव प्राद्योगिकी में 'परंपरागत जैव प्रौद्योगिकी' भी शामिल है, जो बहुत समय से प्रचलित है और तमाम तरह के व्यापारिक कामों में इस्तेमाल की जाती है। जैसे कि खमीर उठाना, सिरका बनाना, दही जमाना। इन सबमें सूक्ष्मजीव इस्तेमाल होते हैं, जो कोरी आंख से नजर नहीं आते और कोई नुकसान भी नहीं करते।

टर्मिनेटर

जैव प्रौद्योगिकी की विनाशकारी तकनीकी का प्रचलन रोकने में मीडिया ने कई सफलताएं हासिल की हैं, जैसे कि 'टर्मिनेटर टेक्नोलॉजी' को रोकने में। इस तकनीक का समाज को कोई फायदा नहीं था और खासतौर से गरीब किसानों की भारी नुकसान उठाना पड़ता। इस तकनीक में बीजों की अंकुरण शक्ति को ही 'टर्मिनेट' यानी खत्म कर दिया जाता है। इस बीज को केवल एक बार ही बो सकते हैं। अगली बार बोने पर बीज फूटेगा ही नहीं।

'टर्मिनेटर टेक्नोलॉजी' के बारे में उड़ती-उड़ती खबरें सन् 1998 के शुरू में आने लगी थीं। इसके बारे में भारत के प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में तुरंत प्रतिक्रिया हुई। तुरंत ही यह प्रतिक्रिया एक देश व्यापी आंदोलन में बदल गई। तीन महीने बाद ही भारत सरकार को यह फैसला करना पड़ा कि टर्मिनेटर जीन वाले बीजों को भारत में नहीं आने दिया जाएगा। उस समय 'हिन्दू' समूह के अखबार 'बिजनेस लाइन' ने छापा था कि "जैव युद्ध का मैदान अब बदल गया है। अब पराजीनी बीजों का खतरा सीधे साधनहीन किसानों को भुगतना पड़ेगा। पेटेण्ट के अधिकार से बीजों पर एकाधिकार जमाने की साजिश रचकर बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपना नया हथियार बाजार में ला रही हैं।

अमरीकी कृषि विभाग ने कपास का बीज बनाने वाली एक बड़ी कंपनी 'डेल्टा एण्ड पाइनलैण्ड' के साथ मिलकर यह जीनियागरी निकाली कि वे बीजों की अंकुरण-क्षमता को जब चाहें, चालू कर दें और जब चाहें ठप्प कर दें। इसका मतलब यह हुआ कि जो किसान इस 'टर्मिनेटर जीन-प्रणाली' वाले बीज इस्तेमाल करेंगे, उन्हें पहले साल तो अच्छी फसल मिलेगी। लेकिन उसी फसल का बीज लेकर अगले मौसम में बोने की कोशिश की गई तो एक दाना भी नहीं उगेगा। यानी हर साल बाजार से नया बीज खरीदना पड़ेगा।

इससे भी अधिक चिंताजनक बात यह है कि जीनियागरी की तकनीकें किसी भी वर्ष में फसलों की पैदावार घटाने या बढ़ाने के लिए इस्तेमाल की जा सकती है। बीज-कंपनियां और खाद्यान्न का निर्यात करने वाली कंपनियां मिली भगत से किसी भी देश की खाद्य-सुरक्षा में संध लगा सकती हैं। अगर किसी साल सोयाबीन की कम पैदावार से उन्हें फायदा होने वाला है, तो वे किसानों को ऐसा बीज थमा देंगीं, जिसमें अंकुरण बहुत कम हो। या फिर उन्हें गेहूं ज्यादा चाहिए तो ऐसा बीज देंगी कि गेहूं में अंकुरण ज्यादा हो। 'एस्ट्राजेनेका' नामक बीज-कंपनी ने ऐसी तकनीक का पेटेण्ट लिया है, जिसे इस्तेमाल करने से फसल पर एक खास केमीकल छिड़कना पड़ेगा, तभी अंकुरण होगा और तभी पौधों की बढ़वार भी अच्छी होगी। जाहिर है कि यह केमीकल भी यही कंपनी बनाती है। इसी तरह से 'नोवार्टिस' नामक कंपनी ने टर्मिनेटर-जीन जैसी 12 प्रौद्योगिकियों के पेटेण्ट लिए हैं। इनमें बीजों के अंदर इन हथियारों जीन को चालू करने या ठप्प करने की प्रणाली को खास खरपातनाशी दवाओं और उर्वरकों से

जोड़ दिया गया है। यानी खेत किसान का, फसल किसान की, लेकिन उन पर नियंत्रण किसका – बहुराष्ट्रीय कंपनियों का!

भूखे लोग क्या आंकड़े चबाएंगे?

सैकड़ों अमरीकियों ने एग्रीबायोवर्ल्ड फाउण्डेशन की एक याचिका पर हस्ताक्षर किए, जिसके द्वारा एवेनिस क्रोप साइंस नामक बहुराष्ट्रीय कंपनी से यह निवेदन किया गया कि वे प्रयोग के तौर पर तैयार किए गए 3000 टन पराजीनी चावल को फेंकने की बजाय भूखे को दान में दे दें। हस्ताक्षर करने वालों में ज्यादातर अमरीका के कृषि वैज्ञानिक थे। असल में भूखे गरीबों की चिंता की बजाय इस याचिका के पीछे जनसंपर्क का ही एक दाव खेला गया, ताकि दुनिया को लगे कि देखो जैव प्रौद्योगिकी वाले भूखे गरीबों के दुख से कितने दुखी हैं। एग्रीबायोवर्ल्ड फाउण्डेशन ने इस याचिका में यह विश्व के बुभुक्षितों पर अपनी करुणा उड़ेलते हुए यह भी कहा कि 'वह इस ओर प्रयासरत है कि अमरीकी किसान पोषक फसलें बड़ी मात्रा में पैदा करें और करते रहें, ताकि सम्पूर्ण मानवता फले-फूले।'

यह नहीं कहा गया कि इसके साथ ही फसलों के बायोटेक्नोलोजिस्ट भी फलें-फूलें, जो कि भूखों पर हमेशा बड़ा तरस खाते रहते हैं। दुनिया को खिलाने की यह चिंता असल में निजी बायोटेक कंपनियों की तिजोरियां भरने की तिकड़म के सिवा कुछ नहीं है। यह अलग बात है कि इसके लिए इन लोगों ने विश्व के गरीब, भूखों और कुपोषितों के प्रति दयावान दिखने का ढोंग रचा है।

दुनिया से भूख मिटाने की नीयत हो तो बड़ी अच्छी बात है। लेकिन जिस जीनांतरित चावल की मात्रा 3000 टन की मात्रा को भूखों को खिलाने की हिमायत की गई है, उसका मानव शरीर पर क्या असर पड़ेगा, यह कभी जांचा ही नहीं गया। उन्होंने सोचा होगा कि इस बहाने से यह जांच भी कर ली जाएगी। लेकिन जब उन्हें बताया गया कि भारत में तो 32 करोड़ लोग भूख और गरीबी से पीड़ित हैं और भारत के पास 6 करोड़ टन से ज्यादा अनाज गोदामों में भरा पड़ा है, तो एग्रीबायोवर्ल्ड फाउण्डेशन की दरियादिली फौरन हवा हो गई।

पूरी दुनिया जानती है कि 80 करोड़ लोग अब भी अधपेट खाकर भूखे ही सो जाते हैं। जैव प्रौद्योगिकी वाले यह शोर मचा रहे हैं कि बायोटेक्नोलोजी से पैदा की गई पराजीनी फसलें ही इनका पेट भर सकती हैं। उनके सुर में सुर मिलाने में राजनेता और अनेक वैज्ञानिक भी पीछे नहीं हैं। लेकिन वे यह नहीं देखते कि भारत ही नहीं बल्कि पूरे दक्षिण एशिया में भूख अनाज के पहाड़ों के साये में पल रही है। गोदाम अनाज से भरे पड़े हैं और फिर भी इन देशों की प्रजा भूखी है। कैसी विडम्बना है कि भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में दुनिया के सबसे ज्यादा भूखे लोग रहते हैं और यहीं पर पिछले कुछ सालों से अनाज के गोदाम भरे पड़े हैं। अगर दक्षिण एशिया की सरकारें कृषि वैज्ञानिकों की सूझबूझ भरी मदद लेकर एग्री बायोटेक कंपनियों के कौशल

को जोड़ कर बस इतना कर दें कि गोदामों में भरा अनाज भूखे लोगों तक पहुंचा दिया जाए तो दुनिया के आधे भूखों की भूख आज और अभी मिटाई जा सकती है।

दक्षिण एशिया की सरकारों को अपने-अपने देश के भूखों तक खाद्यान्न पहुंचाने के लिए एफ. ए. ओ., विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय खाद्य-नीति अनुसंधान संस्थान (इपफ्री) जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन विवश कर सकते हैं। लेकिन नहीं कर रहे, इसलिए वे भी दुनिया में फैली भूख से आंखे फेर लेने के दोषी हैं। भारत में तो पिछले पांच सालों से सरकारी गोदाम अनाज से भरे पड़े हैं। सन् 2001 में तो सुरक्षित अन्न भंडार के सारे रिकार्ड तोड़कर अन्न-भंडार 6 करोड़ टन से अधिक हो गया। रखने की जगह नहीं है, इसलिए बहुत-सा तो बोरियों में भरकर पोलिथीन से ढककर खुले में ही छोड़ दिया गया है। फिर भले ही वर्षा और नमी सड़ा दे या चूहे खा जाएं। असल में दुनिया से भूख मिट गई तो फिर संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ. ए. ओ.) की क्या ज़रूरत रहेगी? भूख है तो ये संस्थाएं भी फल-फूल रही हैं। सन् 1943 के हॉट स्पिंग्स सम्मेलन के बाद दुनिया के देशों ने एफ. ए. ओ. की स्थापना की थी। 16 अक्टूबर 1945 से एफ. ए. ओ. ने काम करना शुरू किया। इसका उद्देश्य मात्र यह था कि दुनिया भर से खेती और खाद्यान्न उत्पादन के आंकड़े इकट्ठे करे। इस पर एफ. ए. ओ. के पहले महानिदेशक बॉयड-ऑर ने ही टिप्पणी की थी कि 'गरीब लोगों को ज़रूरत तो है खाद्यान्न की और उन्हें जो परोसा जा रहा है, वे हैं आंकड़े।' इपफ्री ने बॉन (जर्मनी) में एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें सन् 2020 तक विश्व में टिकाऊ खाद्य-सुरक्षा सुनिश्चित करने के उपायों पर विचार किया गया। लेकिन इसमें अफ्रीका में भुखमरी पर तो चिंता व्यक्त की गई, लेकिन दक्षिण एशिया में अनाज की भरमार के बावजूद फैली भुखमरी पर न जाने क्यों अजीब चुप्पी साध ली गई।

तो जाहिर है कि दुनिया के भूखे और गरीब लोगों को खाने के लिए बस आंकड़े ही परोसे जाते रहेंगे और उनका पेट भरने की जिम्मेदारी बाजारू ताकतों के भरासे छोड़ दी जाएगी। एफ. ए. ओ. खुद दुनिया के भूखों को खिलाने और खाद्य-सुरक्षा प्रदान करने के नाम पर धान का जीन-कोष (जीनोम) बनाने, विटामिन 'ए' से भरपूर पराजीनी 'गोल्डन राइस' या अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कृषि को शामिल करने जैसे प्रयासों की हिमायत करने में सबसे आगे रहता है। अब तो एफ.ए. ओ. खुले आम यह कहता फिरता है कि खाद्य-उत्पादन बढ़ाने और भूख मिटाने में बड़ी खाद्य-कंपनियां और बीज-कंपनियां ही मदद कर सकती हैं। दक्षिण एशिया में तो अनाज के गोदाम उस समय ही भर गए हैं, जब इन देशों में अनाजों की उत्पादकता दुनिया में सबसे कम-केवल दो टन प्रति हैक्टर के औसत पर अटकी हुई है। जो प्रौद्योगिकी इस समय इन देशों में उपलब्ध है, उसी के इस्तेमाल से खाद्यान्न-उत्पादन का स्तर तीन गुना बढ़ाया जा सकता है। फिर भला इस विदेशी मंहगी और अविश्वसनीय पराजीनी फसलों वाली प्रौद्योगिकी की किसको ज़रूरत है?

भारत में बहुत-से किसान इसलिए आत्महत्या कर रहे हैं कि मेहनत से उपजायी गई उनकी फसल के खरीदार नहीं हैं। पाकिस्तान में मंडियों में पड़े अनाज के ढेरों में किसानों ने आग लगा दी, क्योंकि उन्हें उसके वाजिब दाम नहीं मिल रहे थे।

इण्डोनेशिया में किसान अपने चावल बेचने के लिए इंतजार करते रहते हैं कि खरीदार आयें और इंतजार की यह घड़ी कभी खत्म नहीं होती। इधर इण्डोनेशिया की सरकार वियतनाम से चावल खरीद रही है। उधर एफ. ए. ओ. और अरबों-खरबों डालर वाले कृषि उद्योग सन् 2020 की ज़रूरतों के मद्देनजर अनाज की पैदावार कई गुना बढ़ाने की तजबीजों में लगे हुए हैं, और इधर किसान कई देशों में खेतीबाड़ी का धंधा छोड़ने के लिए मजबूर हो गए हैं। भारत में सरकार खुद ही किसानों से कह रही है कि अनाज ज्यादा पैदा न करें, क्योंकि सरकार अब उसे खरीद नहीं सकती। क्या किसान ज्यादा पैदा करके अपनी मिट्टी पलीद करते रहें? क्या अब भी वे भरपूर फसल उपजाते रहें, जब कि उन्हें पता है कि उनकी फसल के खरीदार नहीं हैं और जो हैं वे उन्हें सही कीमत नहीं देंगे? क्या किसान ज्यादा पैदा करने के अपराध में आत्महत्या के लिए मजबूर होते रहेंगे?

तीसरी दुनिया और पराजीनी खाद्य

शुरूआत सन् 1994 में टमाटर की 'प्लावर-सावर' किस्म से की गई थी और तब से कोई 60 पराजीनी किस्में बन चुकी हैं। 20 की अमरीका में व्यापारिक खेती होने लगी है। इस तरह पराजीनी खाद्य पदार्थ तीसरी दुनिया में पटकने की तैयारियां पूरी हैं। इनको बाजार में लाने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाए जा रहे हैं। अमरीकी कृषि विभाग ने तो यहां तक दावा किया कि जैव-कृषि (ऑर्गेनिक एग्रीकल्चर) में पराजीनी फसलें मदद करेंगीं। जब यह दावा इंटरनेट पर जारी किया गया तो कोई 200,000 लोगों ने इंटरनेट पर ही इसका विरोध किया। इसके बाद अमरीकी कृषि विभाग को अपना दावा वापस लेना पड़ा। असलियत यही है कि अमरीकी कृषि विभाग (यू.एस.डी. ए.) अरबो डालर वाले बायोटेक-उद्योग को बढ़ावा देना चाहता है। बायोटेक-उद्योग इस बारे में अनेक दावे कर चुका है कि जैव-प्रौद्योगिकी किस तरह तीसरी दुनिया के लिए वरदान साबित होगी। लेकिन अभी तक का अनुभव यही बताता है कि ये सभी दावे थोथे हैं और बायोटेक-उद्योग की निगाह केवल मुनाफा बटोरने पर टिकी है। इसका एक उदाहरण है कसावा या टेपिओका की फसल। अफ्रीका में कम से कम 3 करोड़ लोगों का मुख्य भोजन यही कसावा है। यह शकरकंद की शक्ल का फीका कंद है, जिसे भूनकर या उबालकर खा सकते हैं। अगर बायोटेक-कंपनियों को तीसरी दुनिया की खाद्य-सुरक्षा की इतनी ही चिंता है, तो उन्होंने कसावा की किस्में सुधारने और उपज बढ़ाने में जैव-प्रौद्योगिकी का करिश्मा क्यों नहीं दिखाया?

जब कसावा को सूअरों को खिलाया गया तो वे इसे खाने लगे और मोटे होने लगे। तब चार अमरीकी खाद्य और बायोटेक कंपनियों ने कसावा पर अनुसंधान शुरू किया, क्योंकि उन्हें दिखाई दे रहा था 'फूड' नहीं 'फीड' (दाने) के रूप में कसावा से कमाई की जा सकती है। इससे साफ जाहिर है कि उन्हें इंसानों से ज्यादा सूअर प्यारे हैं, जो उन्हें मुनाफा कमाने का नया रास्ता दिखा रहे हैं। बेचारे सूअर पराजीनी कसावा खाने का विरोध भी नहीं करेंगे।

बायोटेक कंपनियों की तीसरी दुनिया की दशा सुधारने में कितनी गहरी दिलचस्पी है, इसका एक और उदाहरण लीजिए। एफ.ए.ओ. यानी कृषि एवं खाद्य संगठन संयुक्त राष्ट्र की ऐसी संस्था है, जिसे पूरी दुनिया की कृषि-व्यवस्था सुधारने और धरती से भूख का कलंक मिटाने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। भूख-बीमारी-गरीबी या गरीबी-भूख-बीमारी या बीमारी-गरीबी-भूख कैसे भी लिखें इस तिगड़े का दुश्चक्र ऐसा है, जिसे तोड़े बिना इन तीनों से निपटना मुश्किल है। अफ्रीका के सहारा मरुस्थल के नीचे के इलाके में त्सी-त्सी मक्खी होती है, जो कि करीब 110 लाख वर्ग किलोमीटर के इलाके में 'निद्रारोग' फैलाती है। इस बीमारी से विक्टोरिया झील के किनारे की बस्तियों में ही 200,000 के करीब स्त्री-पुरुष मौत की नींद सो चुके हैं। पूरे अफ्रीका का 37 प्रतिशत इलाका इस भयंकर मक्खी की चपेट में है। यह मक्खी जानवरों पर भी हमला बोलती है और सांडों को बधिया बनाकर बेकार कर देती है।

वैज्ञानिकों ने इस मक्खी को ही बधिया बनाने की तकनीक खोज ली। इस तकनीक की खोज 'इंटरनेशनल एटोमिक एनर्जी एजेंसी' (आइ.ए.ई.ए.) ने की। इसमें परमाणु-विकिरणों की बौछार करके मक्खी को बांझ बना देते हैं। नर मक्खे को भी बधिया कर देते हैं। इस तरह आगे संतान पैदा नहीं होगी और मक्खियां धीरे-धीरे समाप्त हो जाएंगीं। प्रयोगों के परिणाम सकारात्मक थे। सफल थे। मगर फिर भी कोई बड़ी कंपनी आगे नहीं आई कि इस प्रौद्योगिकी को अपनाकर त्सी-त्सी की रोकथाम का काम आगे बढ़ाती। इसलिए मानव-कल्याण की इनकी चिंता कितनी उथली है, इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, जब तक भरपूर मुनाफा न हो, कोई भी बहुराष्ट्रीय कंपनी किसी काम में हाथ नहीं लगाती।

अब वैज्ञानिक अनुसंधान में सरकारी पूंजी निवेश की जगह निजी पूंजी निवेश पर बल दिया जा रहा है। अमरीका और ब्रिटेन जैसे बड़े देश तो कई बड़े-बड़े वैज्ञानिक संस्थान निजी कंपनियों के हवाले कर चुके हैं। उधर बौद्धिक संपदा के अधिकार तमाम नई तकनीकों को निगल रहे हैं, क्योंकि उनके पेटेंट निजी कंपनियों के पास हैं। इसलिए ये उम्मीद करना फिजूल है कि निजी कंपनियां विश्व की खाद्य-सुरक्षा और पोषण-सुरक्षा के लिए अनुसंधान करेंगीं। वे किसान की गरीबी हटाने के लिए भी चिंतित नहीं हैं। वे तो किसानों और कृषि की समस्याओं को समझना भी नहीं चाहती, सुलझाना तो दूर की बात है।

भारत में पटकी जा रही है जीनियागरी

यूरोप और अमरीका के किसानों और उपभोक्ताओं ने जिन पराजीनी फसलों और पराजीनी खाद्य-पदार्थों को ठुकरा दिया, उन्हें भारत-जैसे विकासशील देशों में पटका जा रहा है।

यूरोप, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और ब्राजील ने जीनियागरी से तैयार उत्पादों के लिए ऐसे कड़े मानक तय कर दिए हैं कि उन्हें इन देशों की सीमा पार करने में लोहे के चने चबाने पड़ेंगे। लेकिन हमारे यहां लाल-फीताशाही ऐसी फितरती है कि बौद्धिक संपदा

के अधिकार संबंधी कानूनों और अपने पेटेंट कानूनों के मसौदे पर मसौदे बनाते रहे, लेकिन उन्हें अंतिम रूप नहीं दिया। इस तरह इन कानूनों के बनने से पहले ही बाहर से कुछ भी माल आए, इसके दरवाजे खोल दिए।

इनमें सबसे ताजा उदाहरण तो बीटी कपास का है, जो गैर-कानूनी तौर पर हजारों एकड़ में उगाया गया और सरकारी विभागों को जरा भी भनक नहीं लगी। फिर इस गैर-कानूनी खेती के आधार पर ही उसे पर्यावरण मंत्रालय ने उगाने की स्वीकृति भी दे दी। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने कहा, क्या परीक्षण किए और उनके क्या नतीजे निकले इसके बारे में कुछ भी खुलासा नहीं किया गया।

इससे पहले हर्बीसाइड-रोधी फसलें आने दी गईं। उससे भी पहले जैव-प्रौद्योगिकी विभाग ने 'पुनर्संयोजी डी.एन.ए.' (रिकम्बाइनेट डि-ऑक्सीराइबो न्यूक्लिक एसिड) तकनीक से तैयार 'बोवाइन ग्रोथ हार्मोन' (rBGH) को आने दिया। बहाना यह था कि इसे देशी गायों में उनका दूध बढ़ाने के लिए आजमाया जाएगा।

हर सम्मेलन, विचार-गोष्ठी और पत्रकार-गोष्ठी में जैव-प्रौद्योगिकी विभाग की सचिव डा. मंजु शर्मा यह कहती सुनी गई हैं कि "देश की खाद्य-सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परंपरागत और आधुनिक कृषि विधियों का संतुलित सम्मिश्रण आवश्यक है, जिसमें जैव-प्रौद्योगिकी की प्रमुख भूमिका रहेगी।" वे अक्सर 'ग्रीन-रिवोल्यूशन' और 'जीन-रिवोल्यूशन' को मिलाने की भी पेशकश करती हैं। लेकिन असलियत यह है कि अमरीका जैसे देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए डी. बी.टी. यानी 'डिपार्टमेंट ऑफ बायोटेक्नोलॉजी' ने अपने रास्ते खोल दिए हैं। शायद यही कारण है कि जिन सचिव महोदयों को 58 वर्ष की आयु में रिटायर होना चाहिए था, वे एक के बाद दूसरा एक्सटेंशन लेकर पूरे पांच एक्सटेंशन लेने का रिकार्ड कायम कर चुकी हैं। जो जैव-प्रौद्योगिकी बाहर से लाई जा रही है, उसका अनाज-उत्पादन बढ़ाने से कोई सरोकार नहीं है।

दूसरी ओर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद जो विश्व के सबसे बड़े कृषि-संगठनों में शामिल है, बाहर के संगठनों से जैव-प्रौद्योगिकी में सहयोग के लिए उतावला बना हुआ है। होता यह है कि सहयोग के बहाने से विदेशी अनुसंधान संगठन भारत की कृषि संबंधी विविधता का लाभ उठाते हैं। सामग्री और अनुसंधान के परिणामों के आदान-प्रदान को इन समझौतों में प्रमुखता दी जाती है। सामग्री वो हमारे पास है। उनके पास तो बस तकनीक है। तकनीक वे उतनी ही देते हैं, जो हमें उनसे नीचे दोगुना दर्जे पर रखे। उत्कृष्ट बारीक तकनीकों को तो दिखाते भी नहीं है। यह बात जब प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी जी को पता चली, तो उन्होंने देश के 90 प्रतिशत अनुसंधान संगठनों का नियंत्रण करने वाले आइ.सी.ए.आर. तथा सी.एस.आइ.आर. (कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च) को आदेश दिया कि वे विदेशी संगठनों से इस तरह के निरर्थक समझौते न करें।

संभवतः प्रधानमंत्री को जैव-प्रौद्योगिकी पर प्रतिबंध लगाने के लिए भी ऐसी ही कड़ी कार्रवाई करनी पड़ेगी। यूरोप में पराजीनी खाद्य के बारे में जैसा कड़ा रुख अपनाया गया है, वैसा ही हमारे देश को भी अपनाना पड़ेगा। हमें विदेशों में जैव-प्रौद्योगिकी के खिलाफ चल रही हलचलों से सबक लेना चाहिए।

अमरीका में बॉयस थाम्पसन इंस्टीट्यूट ने केले की ऐसी किस्म बना दी, जिसके खाने से हिपेटाइटिस-बी का टीका अलग से लगवाने की जरूरत नहीं। यह केला खा लेना ही काफी है। लेकिन इसको लेकर वहां खास विवाद खड़ा हो गया। यह केला अभी तक बाजार में नहीं आ पाया। लेकिन इधर हमारे यहां टमाटर में कुछ किस्म के टीके बनाने के जीन डालने के विदेशी अनुसंधान में सहयोग करने के प्रस्तावों पर गंभीरता से विचार चल रहा है।

इसी तरह सरसों, बैंगन और तोरिया (रेपसीड) में ऐसी क्या कठिनाई है, कि हम उसमें जीवाणु (बैक्टीरिया) का जीन डालने की इजाजत दे दें। ये फसलें खासी अच्छी पैदावार दे रही हैं और इनकी रोगरोधी तथा कीटरोधी किस्में भारत के कृषि वैज्ञानिकों ने ही दर्जनों तैयार कर दी है – बिना जीनियोगरी के। अगर कोई जीनियोगरी करनी है तो बाराणी इलाकों की पैदावार बढ़ाने के लिए करें। गेहूं और धान में कुछ कारिस्तानी दिखाएं, ताकि गेहूं-धान क्षेत्र में आया ठहराव टूटे।

मोंसेण्टो के बीटी-कपास को उगाने की इजाजत दे दी गई है, लेकिन क्या हमारे कृषि-वैज्ञानिकों को पता है कि उसमें हर्बीसाइड-रोधी जीन भी डाला गया है। जो भी मोंसाण्टो का यह बीज उगाएगा, उस किसान को उनका हर्बीसाइड राउण्ड-अप भी खरीदना पड़ेगा। यह ऐसा खरपतवारनाशी रसायन है, जिसमें कैसर पैदा करने वाला यौगिक मौजूद हैं। इसकी काफी मात्रा का छिड़काव करना होता है। तभी तो पराजीनी सोयाबीन में इस रसायन के अवशेष सामान्य सोयाबीन से 200 गुना अधिक पाए गए। यही नहीं बीटी-जीन सांस के साथ शरीर में पहुंच जाए तो उसका भी स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। यह बात ताजा अनुसंधान और सर्वेक्षणों से ज्ञात हुई है।

हमारे देश का जैव-प्रौद्योगिकी विभाग बायोटेक-उत्पादों को निरापद बताते समय प्रायः अमरीका के कृषि विभाग तथा खाद्य और दवा प्रशासन (फूड एण्ड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन – एफ.डी.ए.) की दुहाई देता है। एफ.डी.ए. ने पराजीनी खाद्य और टीकों वगैरह को मानव-स्वास्थ्य के लिए सुरक्षित बताते समय अपने ही वैज्ञानिकों की सलाह ठुकराई है, इसकी पोल खुलने के बाद वहां भी हड़कंप मचा हुआ है। एफ.डी.ए. के वैज्ञानिकों ने बार-बार कहा कि डी.एन.ए. में हेर-फेर करके जो खाद्य पदार्थ बनाए गए हैं, वे प्राकृतिक खाद्य पदार्थों से तुलनीय नहीं हैं। लेकिन इसके बावजूद बायोटेक-उद्योग के दबाव में आकर एफ.डी.ए. ने पराजीनी खाद्य पदार्थों को निरापद घोषित कर दिया। इस तरह एफ.डी.ए. की इस खोटी नीति को हम भारत में नहीं अपना सकते।

एफ.डी.ए. की पोल तब खुली जब अमरीका के कुछ समाजसेवी संगठनों ने जनहित याचिका दायर की। तब पता चला कि एफ.डी.ए. अमरीका के 'फूड, ड्रग एण्ड

कॉस्मेटिक एक्ट' की अवहेलना करके पराजीनी खाद्य पदार्थों को बिना किसी परीक्षण के केवल इस आधार पर बाजार में लाने दे रहा था कि सुयोग्य विशेषज्ञों ने आमतौर पर इनको सुरक्षित बताया है।

एफ.डी.ए. ने स्वीकार किया कि उसे ऊपर से आदेश मिले हैं कि बायोटेक-उद्योग को बढ़ावा दिया जाए। ऐसे एफ.डी.ए. की हम क्यों नकल करें? भारत के जैव प्रौद्योगिकी विभाग को यहां के नागरिकों के स्वास्थ्य से खिलवाड़ करने की कोई इजाजत नहीं है। न ही पर्यावरण और वन मंत्रालय को ऐसी छूट है और न आइ.सी.ए.आर. को किसी को भी हक नहीं है कि वह इस देश में आनुवंशिक प्रदूषण फैलाए और बायोटेक-उद्योग की हिमायत करने के अंतर्राष्ट्रीय षडयंत्र में शामिल हो। पर्यावरण और स्वास्थ्य पर जीनियोगरी के असर को परखे बगैर इस तकनीक को आने देना मानवता के प्रति जघन्य अपराध है। और ऐसे अपराधियों को कभी माफ नहीं किया जा सकता।

कड्डुए फल

चाहे जीव-जंतु हों या पेड़-पौधे उनके जीन यानी वंशाणु ही पुरखों के गुण-अवगुण संतान में पहुंचाते हैं। यानी कोई भी वंशाणु किसी भी प्राणी या पौधे में डालकर उनमें वे गुणावगुण पहुंचाए जाते हैं, जिनका नियंत्रण ये वंशाणु करते हैं। इस प्रौद्योगिकी में बड़ी तेजी से प्रगति हो रही है और जैव-प्रौद्योगिकी का यही पहलू सबसे चिंताजनक है। फसलों में अब जीनियोगरी यानी जीनों के हेर-फेर से मनचाही फसलें गढ़ने के रास्ते खुल गए हैं। इस समय बड़े देशों की सरकारी प्रयोगशालाओं में और वहां की बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्रयोगशालाओं में जैव-प्रौद्योगिकी के व्यापारिक फायदे उठाने पर पूरा जोर दिया जा रहा है। खासतौर से फसलों में खरपातनाशियों के प्रति रोधिता, कीटरोधिता, अधिक प्रोटीन और बेहतर प्रोटीन तथा कटाई या तुड़ाई के बाद देर तक ताजा बने रहने की खूबियां डालने की कोशिश की जा रही है। अभी तक विकसित देशों में भी वहां की कृषि को और किसानों को जैव-प्रौद्योगिकी का कोई खास फायदा नहीं हुआ है।

फसलों के अलावा खमीर उठाने, हानिकर कीटों के जैव-नियंत्रण, जानवरों और मनुष्यों के रोगों को पहचानने के किट बनाने और टीके विकसित करने पर भी बल दिया गया है। इसके लिए एक तो डी.एन.ए. यानी डी-ऑक्सी राइबोज न्यूक्लिक एसिड नामक महाअणु के टुकड़े करके उनमें पराए डी.एन.ए. खण्ड डालकर उन्हें फिर से जोड़ने की तकनीक अपनाई जाती है। इसको 'रिकम्बाइनेंट डी.एन.ए. टेक्नोलॉजी' यानी 'पुनर्संयोजी डी.एन.ए. प्रौद्योगिकी' कहा जाता है। इसी तरह 'मोनोकलोनल एण्टीबॉडी' की तकनीक भी अपनाई जाती है, जो खासतौर से रोगों के निदान के किट और टीके बनाने में काम आती है। कोशिकाओं को परखनली में पनपाकर पूरे पौधे या पूरे जानवर बना डालने की क्लोनिंग की तकनीक भी जैव-प्रौद्योगिकी का ही हिस्सा है। इस तरह चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में भी इसकी अपार संभावनाएं बताई जा रही हैं, जबकि वहां भी अनेक कानूनी, नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठ रहे हैं।

अभी तक वैज्ञानिक जैव-प्रौद्योगिकी को भविष्य का विज्ञान और भविष्य की प्रौद्योगिकी प्रचारित करके वाहवाही लूट रहे हैं। वर्तमान में तुरंत उसका कोई फायदा अब तक हुआ है तो केवल बहुराष्ट्रीय कंपनियों को ही हुआ है। खासतौर से कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने जैव-प्रौद्योगिकी के उपयोग को लेकर जो सब्जबाग दिखाए थे, वे अभी तक आकाशकुसुम ही बने हुए हैं यानी ऐसा काल्पनिक फूल जो कभी पैदा ही नहीं हुआ।

विकासशील देशों में जैव-प्रौद्योगिकी के उपयोग से फसलों को पैदा करने की नई तकनीकें खोजने और उन फसलों से मिलने वाली वस्तुओं को प्रयोगशाला में और भी अच्छे ढंग से पैदा करने का प्रचार किया गया। ये वस्तुएं अधिकतर रासायनिक यौगिक हैं, जो फसल से निकालने की बजाए परखनली में पैदा किए जाएंगे। जैसे कि कोको के पौधे में कोको फल से कोको बटर बनाया जाता है, जो खासतौर से चाकलेट बनाने में काम आता है। इसको अब परखनली में बनाने की तकनीक खोज ली गई है। अनेक अफ्रीकी देश कोको बटर बेचकर ही अपनी अर्थव्यवस्था चला रहे हैं। फिर उनकी कोको की फसल का क्या होगा? यह एक तरह से गरीब देशों की पेट पर लात मारना ही हुआ। फिर ऐसी प्रौद्योगिकी को अपनाने का क्या फायदा।

गरीब देशों की फसलों या वस्तुओं की जगह अमीर देश अपनी फसलों में भी वही गुण पैदा करके गरीब देशों की फसलों का निर्यात और इस तरह उनकी आमदनी घटा सकते हैं। उदाहरण के लिए अमरीका अपनी मुख्य तिलहनी फसल रेपसीड (तोरिया) में ऐसी खूबियां डाल रहा है कि गरम मुल्कों का नारियल का तेल बिकना बंद हो जाए और सभी लोग रेपसीड ऑयल का ही इस्तेमाल करने लगें।

विकासशील देशों की कृषि-व्यवस्था पर खासतौर से जैव-प्रौद्योगिकी की इन दो तकनीकों का बुरा असर पड़ेगा :

1. परखनली में कोशिका या उतक संवर्धन (टिश्यूकल्चर) की तकनीक
2. एंजाइम पर आधारित मीठे पदार्थ जो गन्ने की चीनी की जगह ले सकते हैं।

चीनी की जगह ज्यादा मीठे करने वाले पदार्थ

सदियों से विकासशील देशों में गन्ना या ईख उनकी सबसे बड़ी नगदी फसल रही है। बहुत समय तक तो शहद के बाद गन्ने से पैदा की गई चीनी, गुड़ या खंडसारी ही मिठास पैदा करने वाले पदार्थ थे। सन् 1880 में आकर चुकंदर को चीनी का वैकल्पिक स्रोत बनाया गया, जिसके बारे में खासतौर से फ्रांस में अनुसंधान हुआ था। यह चुकंदर की 'सुगरबीट' वाली किस्म थी और इसकी खेती भूमध्यसागरीय देशों से आगे फैलती हुई अमरीका, कनाडा और तत्कालीन सोवियत संघ में भी की जाने लगी। किसानों को 'चीनी चुकंदर' उगाने के लिए भारी सब्सिडी दी गई और इस तरह यूरोप के सभी देशों में चीनी पैदा करने के लिए चुकंदर की खेती होने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि ये सभी देश जहां दक्षिण-पूर्व एशिया, कैरीबियन द्वीप समूह और लातिन अमरीकी देशों

से गन्ने से बनने वाली चीनी मंगाते थे, वहीं सन् सत्तरादिक के मध्य तक चीनी के निर्यातक बन गए।

सन् साठादिक में एक और वैज्ञानिक खोज हुई कि वे एंजाइम खोज लिए गए जो स्टार्च यानी मांड को चीनी में बदल देते हैं। इस तरह अब स्टार्च से ही मिठास पैदा करने वाले पदार्थ बनाना संभव हो गया। इस तकनीक को भी अमीर देशों ने फौरन अपनाया, क्योंकि चुकंदर से चीनी बनाना काफी मंहगा पड़ रहा था। इस तरह तीसरी दुनिया के गन्ना-उत्पादकों के ऊपर एक और गाज गिरी।

इसी तरह कैरीबियन द्वीपों और फिलिपीन्स से अमरीका ने गन्ने की चीनी काफी कम मंगानी शुरू कर दी। इसका एक कारण था उच्च फ्रक्टोज वाला कोर्न सिरप जो मक्का से बनाया जाता था और जो तमाम तरह की पश्चिमी मिठाइयों, चुइंगम और लेमनजूस वगैरह में इस्तेमाल होने लगा। इसने धीरे-धीरे सामान्य चीनी की जगह ले ली। कोर्न सिरप चीनी से कोई पौने दो गुना ज्यादा मीठा है और इस तरह से बाहर से चीनी मंगाने की बजाए अपने ही देश में पैदा होने वाला कोर्न सिरप अमरीका के खाद्य-प्रसंस्करण उद्योग (फूड प्रोसेसिंग इण्डस्ट्री) को सस्ता पड़ने लगा। सन् 1980 तक मीठा पानी बेचकर दुनिया को लूटने वाले दो महा-शीतल पेय-उत्पादक कोकोकोला और पेप्सी ने भी कोर्न सिरप का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया।

इस तरह अमरीका ने बाहर से चीनी मंगाने का सिलसिला कम करना शुरू किया। सन् 1978 में अमरीका बाहर से 46 लाख टन चीनी मंगाता था। सन् 1985 में यह 16 लाख टन रह गई। सन् 1990 तक गन्ने की चीनी का आयात अमरीका में लगभग ना के बराबर रह गया।

इसी तरह जापान में 4 लाख टन के करीब चीनी बाहर से मंगाई जाती थी। सन् 1990 के बाद के दशक में इसमें कोई 20 प्रतिशत की कटौती हो गई। एफ.ए.ओ. के अनुसार सन् 1990 तक कोर्न सिरप के इस्तेमाल ने अमरीका और जापान में कोई 75 लाख टन गन्ने की चीनी की जगह ले ली।

शुरू-शुरू में कोर्न सिरप केवल तरल अवस्था में बिकता था और पूरी दुनिया में इसका उपयोग 60 लाख टन तक सीमित था। लेकिन बाद में अमरीका की कंपनी 'स्टेली कोण्टीनेण्टल' ने कोर्न सिरप के रवे बनाने की तकनीक निकाल ली। इस तरह दुनियाभर में इसका इस्तेमाल बढ़ने लगा। बाद में तो मक्का की बजाए आलू जैसी फसलों का स्टार्च भी मीठे पदार्थों में बदला जाने लगा। यही नहीं नए-नए यौगिक भी खोजे गए जो चीनी से कई गुने मीठे थे। ऐसा ही एक यौगिक है 'एस्पार्टम' जो असल में एक अमीनो एसिड है। इसमें मिठास 200 गुनी होने के बावजूद यह उतनी कैलोरी ऊर्जा नहीं देता जितनी कि चीनी। सो, इसके इस गुण का भी फायदा उठाया गया। सन् 1981 में अमरीका में 'न्यूट्रा स्वीट' के नाम से इसकी बिक्री शुरू की गई, यानी ऐसी मिठास जो कि पोषक भी है। हर साल कोई एक अरब डालर का 'न्यूट्रा स्वीट'

बिकने लगा। इसमें खासा मुनाफा देखकर बहुराष्ट्रीय दानव मॉसण्टो ने 'एस्पार्टम' बनाने वाली 'जी.डी. सर्ले' कंपनी को खरीद लिया।

मिठास की तलाश का यह सिलसिला 'एस्पार्टम' तक ही नहीं रुका। मिठास के प्राकृतिक स्रोत खोजने की चाहत में जंगल छाने गए और इस तरह 'थॉमेटिन' का पता चला, जो कि चीनी से 2500 गुना अधिक मीठा होता है।

'थॉमेटिन' रासायनिक यौगिक होता है, जो पश्चिम अफ्रीका के एक झाड़ीनुमा पौधे काटेम्फे (**Kateme**) के झरबेरी-जैसे फलों में पाया जाता है। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी 'टेट एण्ड लायल' ने इस झाड़ी को घाना, लाइबेरिया और मलेशिया में बड़ी तादाद में उगाना शुरू किया। यह सन् सत्तरादिक की बात है। यहां से काटेम्फे के फल तोड़कर इकट्ठे करके बर्फ में जमाए गए और ब्रिटेन की फैक्ट्रियों में ले जाए गए। इस तरह उनसे दुनिया का सबसे मीठा पदार्थ 'थॉमेटिन' पैदा किया जाने लगा। बाद में ब्रिटेन की ही यूनीलिवर कंपनी ने जीनियोगरी की तकनीक से 'थॉमेटिन' बनाने वाला वंशाणु काटेम्फे के पौधे से अलग कर लिया और उसे एक जीवाणु (बैक्टीरिया) में डाल दिया इस तरह से अफ्रीका और मलेशिया में उगाई गई झाड़ियां भी बेकार हो गईं, क्योंकि थॉमेटिन उनके फलों की बजाए प्रयोगशाला में बनाया जाने लगा। यानी लाखों झाड़ी-उत्पादकों की रोजी-रोटी खत्म।

लेकिन थॉमेटिन में भी एक कमी निकल आई। यह अपनी मिठास का स्वाद मुंह में देर तक छोड़ देता है। बाद में अमरीकी खाद्य और औषधि प्रशासन ने थॉमेटिन की यह कमी भी दूर कर दी और 'ग्रास' (**GRAS**) के तहत उसे 'जनरली रिकॉग्नाइज्ड एज सेफ' यानी 'कुल मिलाकर सुरक्षित के रूप में मान्य' का प्रमाण पत्र दे दिया। स्वाद बढ़ाने, कडुआहट को ढकने और अन्य मिठास पैदा करने वाले पदार्थों की मिठास बढ़ाने के लिए मुख्य रूप से थॉमेटिन का उपयोग होने लगा। इसे अमरीका में 'टालिन' के नाम से बेचा जाता है। बेचने वाली कंपनी है 'कल्टोर फूड साइंस'। इसे यूरोप में स्वीकृति मिल चुकी है, जहां कुछ खाद्यों में 'टालिन' मिलाकर मिठास और स्वाद बढ़ाया जा सकता है। इनमें चुइंगम, दूसरी कंफेक्शनरी, कोको बटर और खाने की मेज पर चीनी की जगह इस्तेमाल करना शामिल है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को थॉमेटिन से ही सब्र नहीं हुआ। वे तमाम वनस्पति विज्ञान संबंधी साहित्य छानकर ऐसे अन्य प्राकृतिक स्रोतों की तलाश कर रही हैं, जिनसे मिठास पैदा करने वाले यौगिक निकाले जा सकें। इसके लिए परंपरागत ज्ञान की भी छानबीन चल रही है। अनेक जापानी कंपनियां इसी तलाश में लातिन अमरीका पहुंच गईं और वहां कुछ मिठास के वानस्पतिक स्रोत खोज डाले। क्योंकि इस क्षेत्र में निजी कंपनिया ही काम कर रही हैं, इसलिए यह नहीं पता कि उनकी खोज कहां तक पहुंची है, क्योंकि ये कंपनियां अपना काम गुपचुप ही करती हैं। यहां हम कुछ ऐसे पौधों की प्रजातियों की सूची दे रहे हैं, जिनसे मिठास पैदा करने वाले पदार्थ खोजे गए हैं :

| मिठास पैदा करने वाला पदार्थ पौधा तीव्रता तुलना में) | स्थान | मिठास की (चीनी की |
|---|-------------------------------|----------------------|
| पॉमेटिन | काटेम्फ | अफ्रीका |
| मॉनेलिन | सेरेण्डिपिटी के फल | अफ्रीका |
| मिरेकुलिन | मिरेकुलस के फल | अफ्रीका |
| स्टेविओसाइड्स | बर्टोनी | पेराग्वे |
| हर्नाण्डलसिन | <i>लिधिया डल्लिसस</i> | मैक्सिको |
| पेविआण्ड्रिन | ब्राजीलिन अन लिकोराइस | ब्राजील |
| ग्लूकोसाइड्स | अनेक जड़ीबूटी वाले पौधे | चीन |
| मोग्रोसाइड | <i>मोमोर्डिका ग्रोसवेनोरी</i> | चीन |
| ग्लाइसीराइजीन | लिकोराइस | |
| फिलोडल्लिसन | हाइड्रेंज | |

स्रोत : होबलिंग एच. "बायोटेक्नोलॉजी एण्ड द फ्यूचर ऑफ वर्ल्ड एग्रीकल्चर" जेड बुक्स, लंदन, 1991

एक और मीठा पदार्थ अमरीका और जापान में 'सामान्यतौर पर सुरक्षित' की मान्यता पा चुका है। यह है एरीथ्रिटोल। इसे भी कम कैलोरी वाला मिठास पैदा करने वाला पदार्थ माना गया है, जो कैंसरजनक नहीं है और आसानी से पच जाता है। इसका उपयोग करके अनेक प्रकार के पौष्टिक खाद्य पदार्थ बनाए और बेचे जा रहे हैं। लेकिन इनमें से कोई भी जहां तक पौष्टिकता का प्रश्न है, भारत के देशी गुड़ का मुकाबला नहीं कर सकता। इसका ठीक ढंग से प्रचार-प्रसार किया जाए तो इन तमाम 'स्वीटनरों' को मात देकर पूरी दुनिया में हम अपना गुड़ बेच सकते हैं।

इसी बीच मॉसाण्टो ने अगली पीढ़ी के एक मीठे पदार्थ का पेटेंट ले लिया है। यह चीनी की मिठास – सुक्रोज से 8000 गुना अधिक मीठा है। वैज्ञानिक इसके विकास में कोई 16 वर्षों से लगे हुए थे। इसे नाम दिया गया है 'निओटेम'। मॉसाण्टो ने इसे खाने की मेज पर 'स्वीटनर' के रूप में इस्तेमाल करने के लिए भी पेटेंट लेने का आवेदन किया है। बाद में यह खाने-पीने की चीजों को मीठा करने के लिए 'निओटेम' के इस्तेमाल का पेटेंट लेगा, जो 2010 तक मॉसाण्टो के पास रहेगा। अमरीका में इसका पेटेंट लेने के बाद मॉसाण्टो बाकी दुनिया में भी इसका पेटेंट लेकर पूरी दुनिया में चीनी की जगह 'निओटेक' को खपाने की तैयारी कर चुका है।

कडुई फसल

विकसित देशों में इन अधिक मिठास वाले संश्लेषित पदार्थों के आ जाने से चीनी की खपत लगातार कम हो रही है। इन्हें कम कैलोरी वाले मिठास जनक पदार्थों के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। ये चीनी से सस्ते भी पड़ते हैं, क्योंकि जितनी मिठास पैदा करने के लिए जहां आधा किलो चीनी डालनी पड़ेगी, वहां इन पदार्थों की पांच-दस बूंदें ही काफी हैं। मिठास पैदा करने वाले कृत्रिम पदार्थों में से 'सेक्रीन' को तो विकसित देशों में प्रतिबंधित कर दिया गया है, क्योंकि इसमें कैंसर पैदा करने का दोष

पाया गया। लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में पाबंदी के बावजूद सेक्रीन मिलाई जाती है – खासतौर से पेय पदार्थों में। इसलिए जिन्हें अपने स्वास्थ्य की चिंता है, उन्हें देशी शर्बत और लस्सी वगैरह का ही उपयोग करना चाहिए।

उधर अमरीका में इन बनावटी मीठों के आ जाने से चीनी की खपत में 50 प्रतिशत की कमी आ गई है। 'कोर्न सिरप' की खपत 40 प्रतिशत बढ़ गई है। बाकी 10 प्रतिशत में बनावटी मीठे आ गए हैं और जल्दी ही 'निओटेम' जो चीनी से 8000 गुना मीठा है, 'कोर्न-सिरप' की जगह ले लेगा।

लेकिन जिन बनावटी मीठों को फिलहाल कम कैलोरी वाला, पाचक और पौष्टिक बताकर बेचा जा रहा है, उनमें भी अनेक दोष हो सकते हैं, जो छुपाए जा रहे होंगे। जब इनका उपयोग बढ़ने के बाद डायबिटीज, हृदय रोग और कैंसर की घटनाएं बढ़ेंगीं, तब अमीर देशों को होश आएगा।

जहां तक विकासशील देशों का प्रश्न है, वहां भी इन बनावटी मीठों के प्रचार-प्रसार की भरपूर कोशिश की जा रही है। परोक्ष रूप में शीतल पेयों के रूप में तो यह पूरी दुनिया में फैलाए जा चुके हैं। क्योंकि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सभी पेय पदार्थों में बनावटी मिठास होती है।

इसका कुप्रभाव उन विकासशील देशों पर पड़ेगा, जहां गन्ना उगाया जाता है और चीनी का निर्यात किया जाता है। अनुमान है कि कोई 5 करोड़ गन्ना-उत्पादक इन बनावटी मिठासों के कारण घाटा उठाएंगे। गन्ना पैदा करने में भारत सबसे अग्रणी देश है, इसलिए उसे भी चीनी के निर्यात से होने वाली विदेशी मुद्रा की कमाई घटने से काफी नुकसान होगा और हो रहा है। पूरी दुनिया में चीनी का ढेर जमा हो गया है और अंतर्राष्ट्रीय मंडी में चीनी के दाम आधे मुंह आ गिरे हैं। हमारे देश में चीनी की जो कीमत है, उससे आधे दामों में अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में बिक रही है। इसका एक ही कारण है, बनावटी मिठास जो, तमाम रासायनिक पदार्थों और कोर्न सिरप के रूप में कडुआहट फैला रही है। 5 करोड़ किसानों के अलावा करोड़ों मजदूर गन्ने की खेती, चीनी मिल, गुड़, खंडसारी वगैरह से रोजी-रोटी कमाते हैं। अगर ये कृत्रिम मीठे चल पड़े तो गन्ने की खेती और चीनी उद्योग ठप्प हो जाएगा और करोड़ों लोग गरीब देशों में और भी गरीब हो जाएंगे।

कोशिश यह भी हो रही है कि बनावटी मिठास पैदा करने वाली फैक्ट्रियां भारत-जैसे देशों में लगा दी जाएं और इन देशों में पैदा करके इनको ही बेची जाएं। यह तो 'करेला और नीम चढ़ा' से भी ज्यादा कडुआहट पैदा करेगा। ऐसा हुआ तो चीनी-गुड़ को तो लोग भूल ही जाएंगे। फिर बनावटी मिठासों से जो कडुए फल तमाम तरह के रोगों के रूप में मिलेंगे, उनका भी नुकसान विकासशील देशों को ही उठाना पड़ेगा।

ये कडुए फल भी जैव-प्रौद्योगिकी की ही देन हैं, जिसके गुन गाते-गाते हमारे वैज्ञानिक थकते नहीं हैं। अभी तक भारत के कोई 4 करोड़ गन्ना-उत्पादक और 3.5

लाख गन्ना-श्रमिक तथा कारीगर इस बनावटी कडुई मिठास से बचे हुए हैं। लेकिन भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में कब तक बचे रहेंगे, यह चिंता करने की बात है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बनावटी मिठास-उद्योग पर एकाधिकार है और उनके लंबे हाथों को गन्ना-उत्पादकों और चीनी मिल-मालिकों की गर्दन तक पहुंचने में देर नहीं लगेगी।

भाग तीन

वैज्ञानिक
और
आर्थिक अलगाववाद

7. पेटेण्ट-युद्ध

“ऐसा क्यों है कि भारत के लोग तो ‘डब्ल्यू. टी. ओ’ का विरोध कर रहे हैं। लेकिन स्वयं भारत सरकार समर्थन करती है,” मुझसे बातचीत में यह प्रश्न उठाया था। नॉर्वे की प्रधान मंत्री श्रीमती ग्रो ब्रण्टलैण्ड ने। तब मैंने उन्हें बताया था कि “बड़ी सादी-सी बात है। जिन लोगों ने गैट/डब्ल्यू.टी.ओ वार्ताओं में भारत का प्रतिनिधित्व किया था, उनमें से अधिकांश की जेबों में उनके “बायोडाटा” (जीवन-परिचय) थे। उन्हें केवल ऐसे सम्पर्क साधने की ललक थी जिनकी सिफारिश पर ‘डब्ल्यू. टी. ओ’ में या फिर किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में उनकी नौकरी लग जाए।” मैंने उन्हें यह भी बताया कि यह बात भारत के ही नहीं लगभग सभी विकासशील देशों के प्रतिनिधियों पर लागू होती है।

वार्तालाप के चार साल बाद 1 जनवरी 1995 को ‘डब्ल्यू. टी. ओ’ अस्तित्व में आया। डब्ल्यू. टी. ओ’ इसलिए नहीं बन गया कि भारत ने आंख मींच कर जहा। बताया गया, वहाँ हस्ताक्षर कर दिए, बल्कि इसलिए कि उस समय हमारे प्रतिनिधियों ने यह समझने की कोशिश नहीं की कि हमारे इस तरह अंगूठा-छापों की तरह बे-सोचें-समझें दस्तखत कर देने के नतीजे क्या होंगे। उस समय सरकार दूसरी और जो आज सरकार में हैं, वे डब्ल्यू. टी. ओ. के कहर विरोधी थे। इस तरह देशहित की तनिक भी चिंता न करने वाले लोगों ने सिर्फ इस लालच से कि भारत में विदेशी पूंजी निवेश बढ़ेगा डब्ल्यू. टी. ओ. की सदस्यता स्वीकार कर के विनाश के बीज बो दिए। डब्ल्यू. टी. ओ. की गुलामी मान लेने का ही नतीजा है कि हमें 1970 का इण्डियन पेटेण्ट एक्ट बदलना पड़ रहा है

विश्व व्यापार संगठन के अधीन हमें ट्रिप्स यानी ट्रेड रिलेटेड इण्टलैक्चुअल प्रोपर्टी राइट्स (TRIPS) को भी मानना पड़ा। इस व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा के अधिकार को भारत स्वीकार करे, जिन लोगों ने यह सुझाव दिया था, उनमें तत्कालीन वाणिज्य सचिव ए. वी. गणेशन भी सम्मिलित थे। उन्होंने मराकेश समझौते को स्वीकार करते हुए कहा था कि “हमारे पास कोई और चारा नहीं था।” इस तरह अपनी गलती के लिए स्वयं को निरुपाय बताकर वे पूरे देश को विश्व व्यापार संगठन के चुंगल में धकेल गए। डब्ल्यू. टी. ओ. के तहत अपने पेटेण्ट कानून को बदलने का मतलब यह है कि हमारा दवा-उद्योग ठप्प हो जाएगा और दवाओं के दाम आसमान को छूने लगेंगे। इस कानून में ऐसी व्यवस्था रही कि हमारे देश में दुनिया की ऐसी कोई भी दवा बनाई जा सकती है जिसको बनाने में हम उस प्रक्रिया का शुरू से आखिर तक वैसा ही इस्तेमाल न करें, जैसे कि उस दवा का पेटेण्ट जिसके पास है, उस कम्पनी ने किया है। पूरी प्रक्रिया का पेटेण्ट था, उत्पादन यानी दवा का पेटेण्ट हमारे कानून में नहीं

था। इस तरह टी. बी. और फिर एड्स के उपचार में काम आने वाली 'ए. जेड. टी' को हमारे देश की हैदराबाद में स्थित प्रयोगशाला ने बना लिया और मुम्बई की एक दवा कंपनी को लाइसेंस देकर बड़े पैमाने पर इसका निर्माण करना शुरू कर दिया। यही दवा विदेश से मंगवाने पर बड़ी मंहगी पड़ती थी— करीब 100 गुनी मंहगी।

यह तो एक उदाहरण है। ऐसी अनेक दवाएं हैं, जो भारत में बड़ी सस्ती बिकती हैं और पड़ोस के देश पाकिस्तान में ही यहां से कई गुने दामों पर बेची जा रही हैं, क्योंकि वहां वे बाहर से आती हैं। यह हमारे पेटेण्ट—कानून की बदौलत ही संभव हो पाया था।

लेकिन अब हमें नया पेटेण्ट कानून बनाना पड़ा है, जिसमें 'प्रोसेस' यानी प्रक्रिया की जगह, 'प्रोडक्ट' यानी उत्पाद के पेटेण्ट का प्रावधान है।

अक्सर हमारे देश में लोग चीन का उदाहरण देते हैं। चीज शुरू में 'डब्ल्यू. टी. ओ' का सदस्य नहीं था, लेकिन बाद में जब उसने पूरी तैयारी कर ली कि किस तरह दुनिया के बाजार खुलने पर वह अपना माल झोंक सकेगा, उसने सदस्यता स्वीकार कर ली। नतीजा यह हुआ है कि आज भारत में तमाम तरह के सस्ते चीनी उत्पाद—टॉर्च, साइकिल, पंखे, खिलौने और टी. वी. सैट वगैरह — छा गए हैं। भले ही उनकी क्वालिटी अच्छी न हो, लेकिन एक बार तो सस्ते के चक्कर में बिक ही जाते हैं। हमारा माल कहां—कितना बिक रहा है? ऊपर से हम चीनी की नकल करने की बात करते हैं।

असल में हमारे बुद्धिजीवी चीन की मिसाल देते हुए एक तो यह भूल जाते हैं कि वहां जो शासन—व्यवस्था है, उसके अंतर्गत हर काम डण्डा घुमाकर करा लिया जाता है। जिसने इंकार किया, उसे कुचल दिया। जबकि हमारे यहां वास्तविक जनतंत्र—प्रणाली है। लोगों को अपनी आवाज उठाने की स्वतंत्रता है। चीन ने पेटेण्ट—कानून बदलने से पहले पेटेण्ट—व्यवस्था की हर बारीकी का अपने यहां प्रसार किया। पेटेण्ट—साक्षरता का अभियान चलाया। वर्षों पहले—से। इस तरह बौद्धिक सम्पदा के अधिकार के बारे में भी चीन ने अपने नागरिकों में चेतना जगाई। चीन के बारे में सबको पता है कि उसे विश्व—मैत्री दिखाने या दुनिया की चिंता करने का कोई शौक नहीं है। उसके लिए राष्ट्रहित सर्वोपरि है। शायद आपको याद हो कि जैसे ही अमरीका ने कुछ जिंसां को अमरीका भेजने पर पाबंदी लगाई तो चीन ने फौरन जवाबी कार्यवाही की, और उसने भी अपने देश में अमरीकी माल के प्रवेश पर वैसी ही पाबंदियां लगा दीं।

चीन के बार—बार दुनिया को यह अच्छी तरह दिखा दिया है कि बदले की कार्यवाही से भले ही उसकी अन्तर्राष्ट्रीय छवि धूमिल होती हो, उसे इसकी तनिक भी परवाह नहीं है। सारी दुनिया जानती है कि चीन किसी का भी सगा नहीं है। अपने देश के हित और गौरव की रक्षा के लिए चीन किसी भी हद तक गिर सकता है।

दूसरी ओर हम हैं कि पोखरन में दूसरी बार परमाणु—परीक्षण के बाद जब अमरीका ने प्रतिबंध लगाए तो हमने फौरन घुटने टेक दिए। क्या भारत को भी जवाबी कार्यवाही

करते हुए तुरंत वैसे ही प्रतिबंध नहीं लगा देने चाहिए थे, जैसा कि चीन ने किया! उस समय हमें अपने देश की चिंता क्यों नहीं हुई? आप कहेंगे कि ऐसा किया होता तो भारत दुनिया में अलग-थलग पड़ जाता, क्योंकि अमरीका की देखादेखी उसके तमाम पिछलग्गुओं ने उस समय प्रतिबंध लगा दिए थे। तो क्या होता। चीन भी तो इतने वर्षों तक 'बांस के परदों' के पीछे छुपा रहा और जब बाहर आया तो दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी ताकत बन कर। कौन नहीं जानता कि शीतयुद्ध खत्म होने और सोवियत संघ के बिखर जाने के बाद अमरीका अगर किसी से खौफ़ खाता है, तो बस चीन से।

कुछ साल पहले मैं भारत में 'पीछे के दरवाजे से' 'पेप्सी फूड्स' कंपनी के प्रवेश का कड़ा विरोध कर रहा था तो उस समय सरकारी सोच यह था कि 'देखो अगर चीन में 'पेप्सी' और 'कोकाकोला' है तो भारत में क्यों नहीं।' बाद में सबको पता है कि किस तरह पेप्सी पंजाब में कृषि अनुसंधान की प्रयोगशाला खोलने के बहाने से भारत में आ धमका और फिर एक भारतीय पेय कंपनी को खरीदकर अपना मीठा पानी बेचने लगा। उसके पीछे-पीछे कोकोकोला आया। दोनों ने शीतलपेय-बाज़ार पर ही नहीं, खाद्य-व्यापार पर भी कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया।

इसी तरह जब बैंक सिक्योरिटीज़ का घपला हुआ और सरकार को सैकड़ों करोड़ रुपये की चपत लगी तो तत्कालीन वित्तमंत्री डा. मनमोहन सिंह ने कह दिया कि विदेशी बैंकों के खिलाफ़ कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी, क्योंकि उससे विदेशी निवेशकों को ग़लत संदेश मिलेगा और वे भारत में पूंजी निवेश करना बंद कर देंगे। जबकि चीन कभी भी विदेशी कंपनियों को डाटने-डपटने या हड़काने से नहीं चूकता। इसी तरह वह विदेशी निवेशकों को बिलकुल सटीक संदेश भेजता है कि चीन में तुम्हारी हेकड़ी नहीं चलेगी। हमारे यहां तो तमाम विदेशी बैंकों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों में हमारे नौकरशाहों के बेटे-बेटियां मोटे-मोटे वेतनों पर ऐश कर रहे हैं। फिर किसकी मजाल कि उनके खिलाफ़ कोई कार्यवाही की जाए।

हम चर्चा कर रहे थे पेटेंट की। हमें अक्सर कहा जाता है कि डब्ल्यू. टी. ओ. प्रणाली में परस्पर-लाभ के आधार पर काम होता है। लेकिन असल में विश्व व्यापार संगठन बड़े देशों के लिए दुनिया के बाज़ार खोल देने के लिए बनाया गया है। खासतौर से अमरीका के लिए जहां माल भरा पड़ा है और उसे बेचने के लिए बाजार चाहिए, नहीं तो मंदी की चपेट में आई वहाँ कि अर्थव्यवस्था चौपट हो जाएगी। खुद अमरीका विश्व व्यापार संगठन की उतनी ही सलाह मानता है, जो उसके मतलब की है और डब्ल्यू. टी. ओ. के कम से कम 17 फ़ैसले ऐसे हैं, जिनका पालन करने से अमरीका ने इंकार कर दिया है। जिन 70 विकासशील पर अमरीका ने 'सुपर 301' और 'स्पेशल 301' के तहत पाबंदियां थोपीं, तो क्या डब्ल्यू. टी. ओ. की सलाह से किया था। यहां डब्ल्यू. टी. ओ. का परस्पर लाभ का नियम कहा गया?

खाद्य-असुरक्षा के बीज

बौद्धिक सम्पदा के अधिकार का सबसे बड़ा दुरुपयोग यह होने वाला है कि कृषि और खाद्य के क्षेत्र में इसके कारण असुरक्षा के बीज बोये जा रहे हैं। नीम, हल्दी और इमली के बाद हमारे बासमती चावल को ही पेटेण्ट कराने की कोशिश की गई। हमें अपनी हरी विरासत को पश्चिमी बायोटेक कंपनियों की गिद्ध-दृष्टि से बचाने के लिए कड़ी मशक्कत करनी पड़ रही है। अगर इनकी बन पड़ी तो 21 वीं सदी के अंत तक हमारी सारी प्राकृतिक सम्पदा, सम्पूर्ण परंपरागत ज्ञान और देशी जड़ी-बूटियां इनके कब्जे में होंगीं और हमारा इन पर कोई अधिकार नहीं रहेगा।

यह आर्थिक अपहरण का अन्यतम उदाहरण है। हमारा सम्पूर्ण कृषि एवं खाद्यतंत्र कुछ बायोटेक-कंपनियों के हाथ में चला गया तो भारत को अपनी खाद्य सुरक्षा के लिए इन कंपनियों का मुंह जोहना पड़ेगा। उन्हें मुनाफा हुआ तब तो ठीक और अगर वे घाटे में रहें तो देश की खाद्य सुरक्षा भी खतरे में। ऐसी आर्थिक परतंत्रता से तो अंग्रेजों की गुलामी ही क्या बुरी थी?

हमारे देश में कृषि और खाद्य क्षेत्र की बड़ी गौवरपूर्ण परम्परा रही है। सभी प्रदेशों के अपने-अपने खास व्यंजन हैं, जिनके पीछे स्थानीय फसलों और स्थानीय सामग्री का बड़ा वैविध्यपूर्ण उपयोग होता रहा है। ये व्यंजन स्वाद ही नहीं, पोषण की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। अब सारी दुनिया में होड़ लगी है इन्हें पेटेण्ट कराने की। हमारी चटनियों से लेकर समोसा, कचौड़ी, इडली, डोसा, पुलाव— सभी को ही बाहर की कंपनियां पेटेण्ट कराना चाहती हैं। जो कंपनियां देश में घुस आई हैं, वे इन सबको बनाने की तकनीकें सीख रही हैं। बीकानेरी भुजिया अब बहुराष्ट्रीय कंपनी बनाकर बेच रही है। कल को उसमें कुछ नया डालकर पेटेण्ट कराने लगें तो बीकानेर का यह नामी व्यंजन भी बीकानेर के हाथ से निकल जाएगा।

इनकी मानव-द्रोही गतिविधियां कल्पना से परे हैं। जब शरीर में लवण और जल की कमी हो जाए — हैजा होने पर यही होता है— तो उसके लिए 'ओरल रिहाइड्रेशन थेरेपी' यानी 'ओ. आर. टी.' का प्रचलन है। खासतौर से विश्व स्वास्थ्य संगठन और यूनीसेफ बच्चों को इस विपत्ति से बचाने के लिए नमक-ग्लूकोज के इस मिश्रण को पानी में घोलकर पिलाने का प्रचार कर रहे हैं। अनेक गैर सरकारी संगठन बजाय पैकट खरीदने के चुटकी भर नमक, चुटकी भर चीनी या गुड़ पानी में घोलकर पिलाने की सीख गांव देहात में दे रहे हैं। इससे हज़ारों की प्राणरक्षा हुई है और हो रही है। अब एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी इस 'ओ. आर. टी.' का भी पेटेण्ट ले चुकी है!

'बासमती चावल' और 'दार्जिलिंग चाय' का पेटेण्ट लेने का प्रयास करने के बाद एक अमरीकी कम्पनी ने काली मिर्च के चटपटे यौगिक 'पाइपेरिन' को भी पेटेण्ट कराने की कोशिश की। भारत की काली मिर्च दुनिया भर में मशहूर रही है। यह पहले केवल भारत में केरल में ही उगाई जाती थी और अरब सौदागर सोने के भाव तौल कर ले जाते थे। इसके यौगिक 'पाइपेरिन' को पेटेण्ट कराने वाली कम्पनी भारत से कालीमिर्च

का निर्यात बंद कराके हमारी विदेशी मुद्रा की कमाई बंद कराना चाहती है। यह पेटेण्ट सन् 1996 में अमरीकी कम्पनी साबिन्स्का (Sabinsca) ने लिया था। अभी हमारा मसाला बोर्ड इस पेटेण्ट हमले से संभल भी नहीं पाया था कि इन्गलैण्ड की एक कंपनी जॉर्ज विलियम्सन लि. ने चाय बनाने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को ही पेटेण्ट कराने की कोशिश की। इसमें चाय की पत्तियां तोड़ने से लेकर उन्हें सुखाने और प्रशोधित करने से लेकर उनकी पैकिंग तक हर चरण को इस कंपनी ने पेटेण्ट कराना चाहा। वह तो हमारा 'चाय बोर्ड' समय पर चेत गया, नहीं तो चाय जैसा लोकप्रिय पेय आम आदमी की पहुंच से बाहर हो जाता।

बहुराष्ट्रीय कंपनी नेसले ने चावल के शाकीय पुलाव और सेला चावल का यूरोपीय पेटेण्ट ले लिया है। चटनियों से लेकर डबलरोटी पर चुपड़ने के जैम और आइसक्रीम तथा पौष्टिक आहारों के नुस्खों तक सैकड़ों व्यंजनों के पेटेण्ट आवेदन भारत के पेटेण्ट कार्यालय में पहुंचे हुए हैं। वहां कोई 36,000 पेटेण्ट आवेदन पहले-से पड़े हैं। भला हो इस कार्यालय की सुस्ती का कि अगले एक सौ वर्ष में भी इन आवेदनों पर कोई फैसला नहीं होने वाला।

अमरीकी और यूरोपी पेटेण्ट कार्यालय इस मामले में पूरी चुस्ती बरत रहे हैं। नीम की कीटनाशी और औषधीय विशेषताओं पर कोई 64 पेटेण्ट लिए जा चुके हैं। इमली पर ही 34 पेटेण्ट मिल चुके हैं। हल्दी पर 11 पेटेण्ट हैं और मिट्टी में पाए जाने वाले सूक्ष्मजीवों पर 28। ये सभी पेटेण्ट कुछ मुट्टी भर बहुराष्ट्रीय कंपनियों और निजी कंपनियों के कब्जे में हैं। असल में तो हमारे देश में कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि हमारी प्राकृतिक सम्पदा और परंपरागत ज्ञान से जुड़े कितने पेटेण्ट दुनिया भर में लिए जा चुके हैं।

भारत का पेटेण्ट कार्यालय तो जीनियागरी से सुधारे गए हर तरह के कपास का पेटेण्ट, नीम का पेटेण्ट लेने की कोशिश के लिए बदनाम डब्ल्यू. आर. ग्रेस की 'एग्रासीटस' नामक उप-कंपनी को देने लगा था। वह तो अक्टूबर 1994 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पी. वी. नरसिंह राव ने हस्तक्षेप किया, नहीं तो कपास की तमाम किस्में पराये जीन डाल-डालकर यह बहुराष्ट्रीय कंपनी अपनी झोली में डाल लेती।

इस पेटेण्ट का मतलब था कि एग्रासीटस कंपनी बायोटेक की किसी भी विधि से सुधारे गए कपास का बीज फिर किसी और को नहीं बनाने देती। इस तरह भारत में तो सारा कपास-अनुसंधान ही ठप हो जाता। गनीमत है कि एग्रासीटस भारत में पराजीनी कपास का पेटेण्ट नहीं ले पायी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इन लालची कंपनियों ने भारत की वनस्पति-सम्पदा के पेटेण्ट लेने से तौबा कर ली है। अब भी भारत की खाद्य-सुरक्षा को विदेशी पेटेण्ट कानूनों से खतरा बना हुआ है और अब तो देशी पेटेण्ट कानून भी उनकी मर्जी के मुताबिक बदल दिया गया है।

धान, सोयाबीन, कौफी, मिर्च, फूलगोभी, पत्तागोभी, मटर और खरबूज-तरबूज की पराजीनी किस्मों के पेटेण्ट तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कब्जे में पहुंच ही चुके हैं। अगर

इसी तरह के पेटेण्ट दलहनी और मसाले वाली फसलों के भी ले लिए गए तो हमारे देश के किसानों और अर्थव्यवस्था को कितना नुकसान होगा, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है।

फसलें ही नहीं पशु धन पर भी पेटेण्ट का खतरा मंडरा रहा है। अमरीकी कृषि विभाग ने गाय और सूअर का वंशाणु-कोष बना डालने की घोषणा की है। इसका मतलब यह है कि वे यह मालूम कर चुके हैं कि कौन सा वंशाणु सूअर को जल्दी मोटा करेगा और कौन-सा वंशाणु गाय का दूध बढ़ायेगा। इन वंशाणुओं की वे सूअर और गधा में संख्या बढ़ायेंगे और फिर जिस नस्ल में डालेंगे, उसके लिए कहेंगे कि यह पराजीनी नस्ल हमारी। इस तरह इन और इन जैसे अन्य पालतू पशुओं के वंशाणु भी पेटेण्ट करा लिए जाएंगे।

इसी तरह अमरीका, यूरोपी संघ, ब्रिटेन और जापान जैसे बड़े देश मिलकर कोई 14 फसलों के जीन-कोष बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इनमें धान, मक्का, गेहूं जैसी भारत की सभी मुख्य फसलें शामिल हैं। कहा तो यही जा रहा है कि इन फसलों के जीन-कोष सबको उपलब्ध रहेंगे और पूरी दुनिया के वैज्ञानिक इस ज्ञान का लाभ उठा सकेंगे। लेकिन अनुभव यही बताता है कि इन फसलों के वंशाणु-कोष के वे सभी वंशाणु पेटेण्ट करा लिए जाएंगे, जो खास काम के होंगे।

जीन-जुगाडुओं की कोशिश यही है कि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था जिन मुख्य फसलों पर आधारित है, वे फासलें उनके कब्जे में हो जाएं। एग्रासीटस ने तो यह घोषणा करके कि धान की 'इण्डिका' और 'जेपोनिका' दोनों तरह की किस्मों पर उसका एकाधिकार है, सबको चौंका दिया था। यह घोषणा केवल इस आधार पर की गई थी कि इन किस्मों के धान के पौधे में 'एग्रासीटस' के जीनियगरों ने नए जीन डाल दिए थे। बजाय इसके कि इस खास जीन वाली किस्मों का ही पेटेण्ट लिया जाता, एग्रासीटस ने पूरी धान की फसल ही पेटेण्ट करानी चाही।

अगर यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विश्व की समस्त पौध-सम्पदा और पशुधन पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एकाधिकार होगा। यह सब कुछ उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाएगा। फिर हम भले ही प्रजनकों और किसानों के अधिकारों का राग अलापते रहें या अपने स्वयं के कानून गढ़ते रहें, हमारी एक भी नहीं चलेगी और बहुराष्ट्रीय कंपनियां गरीब देशों की खाद्य-सुरक्षा और अर्थव्यवस्था पर हावी हो जायेंगी।

इस तरह की पेटेण्ट-प्रणालियां देशी कृषि अनुसंधान को ठप्प करने के साथ ही कृषि व्यापार का रूख भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों की ओर मोड़ देंगी। इसके आसार दिखाई दे रहे हैं। यूरोपी संघ ने अर्जेण्टिना से स्ट्रॉबेरी की आवक पर पाबंदी लगा दी है। इसी तरह पेरिस भेजी गई बंगलौर के 41000 गुलाबों की खेप वापस कर दी गई। असली कारण तो यह था कि 1994 में अर्जेण्टिना के स्ट्राबेरी और 1998 में भारत के गुलाब यूरोप में पहुंचने दिए जाते तो स्थानीय किसानों और व्यापारियों का नुकसान

होता। लेकिन ऊपर से तमाम तरह के दूसरे बहाने बताए गए, जिनमें से एक पेटेण्ट-कानूनों का उल्लंघन भी था। इससे पहले यूरोपी कंपनियां खुद स्ट्राबेरी और गुलाब खरीदती रही हैं। तब कोई आपत्ति नहीं थी। देसी कंपनियां भेजने लगीं तो वे उनकी आंखों की किरकिरी बन गईं।

बासमती चावल को पेटेण्ट कराने की साजिश बड़ी सोची-समझी और जटिल थी। अमरीका की राइस टैक कम्पनी ने पाकिस्तान से बासमती की देसी किस्में मंगाकर उनमें सुधार करके नयी किस्में बनाई थीं। लेकिन मूलतः बासमती अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों के संग्रह से मंगाए गए थे, जहां पाकिस्तान हो या भारत सभी विकासशील देशों की तमाम फसलों के नमूने इकट्ठे करके रखे गए हैं, ताकि नई किस्मों के विकास में उनका इस्तेमाल किया जा सके। अभी हाल तक यह आदान-प्रदान खुले मन से होता था। लेकिन अब इस पर पेटेण्ट के बादल मंडरा रहे हैं। यहां भी मेरा-तेरा शुरू हो गया है। राइसटैक ने भी यही किया कि हमने सुधारी है, इसलिए बासमती तो अब हमारी हो गई। असल में उसकी निगाहें अरब देशों और यूरोप में बासमती चावल की भारी खपत पर टिकी थीं। इससे पहले यही कंपनी 'जसमती' और 'टैक्समती' नाम से सुगंधित चावल की अपनी किस्में पेटेण्ट कराके बेच रही थी। लेकिन इस मिलते-जुलते नाम से भी काम नहीं बना और बासमती के शौकीन धोखे में नहीं आए, तो राइसटैक ने 'बासमती' का ब्राण्ड नाम ही हड़पना चाहा। थाइलैण्ड में सुगंधित चावल की एक किस्म का नाम है- 'जैस्मीन'। इसे भी राइसटैक ने सुधारी किस्म के नाम पर पेटेण्ट करा लिया था। इसके बाद उसने भारत और पाकिस्तान के बासमती-निर्यात का ठप्प करने की सोची।

बासमती पेटेण्ट को निरस्त कराने के लिए भारत को कोई 1500 पृष्ठों का दस्तावेज तैयार करना पड़ा। इसमें 'भौगोलिक सीमा' की दलील बड़ी जोरदार साबित हुई। ब्रिटेन में बहुत पहले 'बासमती' की परिभाषा यह तय की गई थी कि भारत और पाकिस्तान के खास इलाकों में उगाया जाने वाला सुगंधित चावल। इन इलाकों के नाम भी गिनाए गए थे। फिर कोई कही बासमती की कितनी ही बढ़िया किस्म बना ले, वह उसे बासमती कहकर नहीं बेच सकता।

लेकिन जिस रफ्तार से हमारी फसल-सम्पदा और व्यंजन-सम्पदा को हड़पने के लिए पेटेण्ट-आवेदन दाखिल किए जा रहे हैं, उसे देखकर डर लगता है कि कहीं इन पेटेण्टों के खिलाफ़ मुकदमे लड़ने के लिए भारत सरकार को अलग से पेटेण्ट-रोधी मंत्रालय न बनाना पड़ जाये।

'किसी भी फसल में नया जीन डालकर उस पराजीनी किस्म को पेटेण्ट करा लेना,' बहुराष्ट्रीय कंपनियों की यह पोल अब खुल गई है। हमारे तो 40 करोड़ किसानों में से बस 10 प्रतिशत ही हर साल बाज़ार से बीज खरीदते हैं। बाकी 90 प्रतिशत तो अपना ही बीज अगले साल भी इस्तेमाल करते हैं। इसलिए बीजों के पेटेण्ट भारत की कृषि व्यवस्था पर कुठाराघात करेंगे।

इधर हमने अपना पुराना पेटेण्ट कानून बदल कर नया 'पेटेण्ट-एक्ट-1998' बनाया तो है, लेकिन यह नया पेटेण्ट कानून हमारे किसानों और उपभोक्ताओं के हितों की कहीं तक रक्षा कर पाएगा, इस बारे में व्यक्त की गई सभी शंकाएं सच हैं। डब्ल्यू. टी. ओ. बनाने के डंकल-प्रस्ताव पर तत्कालीन सरकार ने हस्ताक्षर करके भारत को ऐसा बांध दिया है कि अब न तो डब्ल्यू. टी. ओ. निगलते बनता है और न उगलते। अगर हमने डब्ल्यू. टी. ओ. की शर्तों के अनुसार बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्रौद्योगिकी, भारत में आने दी तो स्वदेशी प्रौद्योगिकी, कृषि और व्यापार ठप्प होते हैं और न आने दी तो बड़ी-बड़ी कंपनियां अपने-अपने देशों से डब्ल्यू. टी. ओ. में घसीटकर भारत की ऐसी-तैसी कर देंगी।

लाइसेंस लेना ज़रूरी

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को गरीबों पर कोई दया नहीं आती। इस मामले में उनका दिल एकदम पत्थर का है। इसका एक ही उदाहरण काफी होगा। 'बरोज विलियम्स' बहुराष्ट्रीय दवा कंपनी है महादानवीय। इसके पास 'ए. जेड. टी.' नामक दवा का पेटेण्ट है, जो तपेदिक के इलाज में काम आती थी, लेकिन एड्स के मरीजों में भी उनकी प्रतिरक्षा प्रणाली (इम्यून सिस्टम) को इतना तो चेता ही देती है कि वे कुछ साल ज्यादा जी सकें। इस दवा का एक कैप्सूल 4 डालर यानी लगभग 175 रुपये का पड़ता है। इस तरह अफ्रीका और एशिया के एड्स ग्रस्त मरीजों की पहुँच से यह दवा बाहर थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'बरोज विलियम्स' से प्रार्थना की कि एड्स के गरीब रोगियों के लिए 'ए. जेड. टी.' की कीमतें कम कर दे, ताकि इस दवा को ज्यादा तादाद में खरीद कर इन मरीजों में बांटा जा सके।

लेकिन ज्यादा तादाद में बिक्री का लालच भी 'बरोज विलियम्स' के पत्थर दिल को पिघला नहीं पाया और इस कंपनी ने 'एजेडटी' के दाम घटाना मंजूर नहीं किया। फिर भारत की हैदराबाद में स्थित वैज्ञानिक प्रयोगशाला 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ केमिकल टेक्नोलॉजी' ने दूसरे रासायनिक रास्ते से 'ए. जेड. टी.' बना डाली। अब यह बेहद सस्ती पड़ी कि भारत ही 'नेशनल रिसर्च डेवलपमेन्ट कौंसिल' (एन. आर. डी. सी.) के ज़रिए इस दवा को इस नए तरीके से बनाने का लाइसेंस ब्राजील की एक दवा बनाने वाली फर्म सहित भारत की दो दवा कंपनियों—सिपला लेबोरेटरीज़ तथा लूपिन लेबोरेटरीज़ — को दिया गया।

इस बात से 'बरोज विलियम्स' खफा हो गई। लेकिन उस समय हमारे पेटेण्ट कानून में 'प्राडेक्ट' का पेटेण्ट नहीं हो सकता था, केवल 'प्रोसेस' का ही पेटेण्ट शामिल था, इसलिए 'बरोज विलियम्स' बस दांत पीस कर रह गई, कोई कानूनी कार्यवाही नहीं कर पाई। लेकिन अब डब्ल्यू. टी. ओ. के सामने घुटने टेकते हुए हमने प्रोडक्ट पेटेण्ट स्वीकार कर लिया है। कुछ प्राणरक्षक दवाओं को इस कानून से बाहर रखने की कोशिश की गई है, लेकिन 'ए. जेड. टी.' जैसी तमाम दवाएं हैं जो एड्स और कैंसर जैसे असाध्य रोगों में काम आती हैं। इनकी कीमतों को ऊपर चढ़ने से नहीं रोका जा सकेगा। इस तरह देसी दवा-अद्योग को भी बड़ा धक्का लगेगा क्योंकि अब वे किसी

भी ऐसी दवा को नहीं बना पाएंगे, जिसकी खोज उन्होंने न की हो। और नई दवा खोजना आसान नहीं है। लाखों नहीं करोड़ों रूपये खर्च होते हैं और खोज को बाजार तक लाने में 10-15 साल लगना मामूली बात है। बहुत से लोग इस बात को भूले नहीं होंगे कि इण्डियन पेटेण्ट्स एक्ट-1970 के लागू होने से पहले हमारे देश में भी दवाओं के दाम बहुत ऊंचे थे। लेकिन 1970 में अपना पेटेण्ट कानून लागू होते ही स्थानीय दवा निर्माताओं की भी पौ-बारह हो गई, क्योंकि वे किसी भी दवा को नए तरीके से बनाकर नए नाम से बाजार में बेचने लगे। इधर मरीजों को भी ज्यादातर दवाएं सस्ती मिलने लगीं। सस्ती दवाओं के कारण भारत में कितनों के प्राण बचे और किस तरह औसत आयु-सीमा बढ़ी, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। फिर मानव-कल्याण की हामी भरने वाले डब्ल्यू. टी. ओ. ने हमें अपना पेटेण्ट कानून बदलने पर क्यों मजबूर किया? बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तिजोरियां भरने के लिए ही क्यों उसका दिल पसीजता है? लाखों-करोड़ों गरीबों को भूख-रोग-गरीबी के दुश्चक्र से निकालने की बजाय डब्ल्यू. टी. ओ. को बहुराष्ट्रीय कंपनियों की आमदनी बढ़ाने की ज्यादा चिंता है।

हालांकि भारतीय दवा-निर्माताओं के लिए भी मेरे मन में कोई हमदर्दी नहीं है। उन्होंने 70,000 के करीब अनाप-शनाप दवाएं बनाकर तरह-तरह के थोथे दावे करके हमारे ऊपर थोपी हुई हैं। लेकिन विदेशी कंपनियां भी घटिया और झूठे दावों वाली दवाएं बेचने में माहिर हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी की दवा-कंपनियां 200 के करीब ऐसी दवाएं कोई 26 देशों में बेच रही हैं, जिनकी किसी को कतई जरूरत नहीं है। भारत में ये दवाएं सबसे ज्यादा बिकती हैं, जबकि खुद जर्मनी में इन पर पाबंदी लगी है। क्या पेटेण्ट कानून बदलने से इन थोथी दवाओं पर रोक लगेगी? कतई नहीं।

नए पेटेण्ट कानून की बढ़ाई में यह बात अक्सर दुहराई जाती है कि दवा बनाने वाली कंपनी को हमारे देश की किसी एक कंपनी को उस दवा को बनाने का लाइसेंस देना जरूरी होगा। जब तक पेटेण्ट कानून लागू नहीं होता, तब तक उस कंपनी को बाजार में दवा बेचने का एकाधिकार होगा। इस तरह पेटेण्ट की कानूनी जरूरत पांच साल के लिए खत्म करके उस निजी कंपनी को फायदा पहुंचाने की एक और चाल चली गई।

यही नहीं डब्ल्यू. टी. ओ. ने अनिवार्य लाइसेंसिंग प्रणाली के प्रावधान पर भी काफ़ी लीपापोती की है। इसके लिए उसी कंपनी की रजामंदी जरूरी है, जिसे पांच साल तक अपनी दवा को बेचने का एकाधिकार मिला हुआ है। वह भला लाइसेंस क्यों देने लगी? देगी भी तो ऐसी शर्तों पर जिन्हें तीसरी दुनिया की कोई भी कंपनी पूरी न कर पाये।

इसमें यह भी शर्त है कि कोई बीमारी महामारी का रूप ले चुकी हो और राष्ट्रीय संकट बन चुकी हो, तो उसके इलाज में काम आने वाली दवा या फिर किसी जन-अभियान में काम आने वाले टीके या फिर गैर-व्यापारिक उपयोग के लिए ही किसी दवा को बनाने का लाइसेंस विदेशी कंपनी देशी कंपनी को देगी। इस तरह यह सुविधा पहले ही बहुत सीमित कर दी गई है। फिर भले ही कैंसर के गरीब रोगी दवा के बिना मर जाएं, लेकिन कैंसर कोई राष्ट्रीय संकट तो है नहीं, जिसके लिए सस्ती दवा बनाने का लाइसेंस दे दिया जाए! इस लाइसेंस की एवज एक 'उचित फीस' मूल कंपनी को देनी

पड़ेगी। यह पता नहीं कि उनकी नज़र में कितनी फीस उचित होगी? जाहिर है कि वे मिलियन डालर से कम तो सोच ही नहीं पाते। हमारे देश में कितनी कंपनियाँ हैं जो इतनी 'उचित फीस' दे पायेंगी?

इस सब के बावजूद सरकारी तौर पर सबज़बाग दिखाने का सिलसिला जारी है कि नयी से नयी दवाएं फौरन भारत में आ जाएँगी। उनके लिए इंतज़ार नहीं करना पड़ेगा। दवा-उद्योग और उपभोक्ता दोनों को फायदा होगा। बौद्धिक सम्पदा का अधिकार किसानों का भला करेगा। लेकिन असलियत यह है कि हम अपने बाज़ार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए खोल रहे हैं, कि आओ हमें लूटो।

जड़ीबूटियां हड़पने की साजिश

कई सालों से हम सिर्फ बहस करते आ रहे हैं और इस बीच हर तरह का बौद्धिक भ्रम फैला, नौकरशाही खर्राटे मारती रही, राजनीतिज्ञ बेपेंदी के लोटे की तरह कभी इधर और कभी उधर लुढ़कते रहे और अंत में हमने डब्ल्यू. टी. ओ. के सामने घुटने टेक ही दिए। बाहर से सब कुछ लाने और यहां से सब-कुछ बाहर ले जाकर बेचने के लिए देश के दरवाजे खोलने से पहले हमने यह भी नहीं किया कि अपना कीमती सामान तो संभालकर ताले में बंद कर देते। हमने यह भी नहीं सोचा कि जड़ीबूटियों के क्षेत्र में हम आज भी संसार में सबसे समृद्ध हैं, ज्ञान में भी और औषधीय पौधों के भंडार में भी। केवल इसी पर ध्यान दें और इसे बचा लें तो हम हर तरह से इस प्राकृतिक वैभव का लाभ उठा सकते हैं।

लेकिन हम सोते रहे और हमारी सुस्ती का फायदा उठाकर अमरीका की एक कम्पनी ने बैंगन, करेला और जामुन के मधुमेह-रोधी गुणों को पेटेण्ट कराने की जुर्रत कर डाली। अब फिर से हमें इस पेटेण्ट का विरोध करने के लिए अमरीका की अदालत में मुकद्दमा लड़ना पड़ेगा और इन पौधों पर अपना अधिकार साबित करना पड़ेगा।

यह अमरीकी कंपनी है क्रोमाक रिसर्च इंको. जो कि वहां न्यू जर्सी में स्थित है। इसके तीन अनुसंधाताओं को पेटेण्ट नम्बर 5,900,240 दिया गया। इनमें से दो शोधकर्ता अनिवासी भारतीय हैं। स्पष्ट है कि अमरीका में बसने के बाद ये लोग भी वैसे ही लालची हो गए हैं, जैसे कि अमरीकी। इन्हें जो पेटेण्ट मिला है, उसमें बताया गया है कि वे जामुन, करेला, बैंगन और गुड़मार में से किन्हीं दो पौधों का खाने योग्य मिश्रण बना सकते हैं। इस 'हर्बल मिक्सचर' को पेटेण्टधारियों ने 'पूरक आहार' बताया है और यह दावा किया है कि यह पूरक आहार इसे खाने वाले के खून में ग्लूकोज का अनुपात घटा देगा और इस तरह से डायबिटीज के रोगियों के लिए फायदेमंद होगा।

इससे पहले हमें अपनी 'हल्दी' इनके चंगुल से छुड़ानी पड़ी। वे चोट और सूजन को दूर करने और घाव भरने के हल्दी के गुणों को भुनाना चाहते थे। अभी उनके चेहरे से हल्दी के दाग छूटे भी नहीं थे कि उन्होंने हमारे बैंगन, करेला, जामुन और गुड़मार को ही हड़प लेना चाहा। गुड़मार ऐसा अनूठा पौधा है, जिसकी पत्तियाँ चबाने के बाद आप

चीनी खाओ तो ऐसा लगेगा जैसे मुह में बालू रख ली है। सारी मिठास गायब कर देता है। हमारे वैज्ञानिकों ने गुड़मार के मिठास गायब करने वाले रासायनिक यौगिक मालूम कर लिए हैं और मधुमेह के उपचार में इससे दवा बनाकर उसको बाज़ार में लाने की कोशिश कर रहे थे। आयुर्वेद में तो इन का उपयोग सदियों से होता रहा है। फिर अमरीकी कंपनी इनको कैसे पेटेण्ट करा सकती है?

हमने बासमती चावल को पेटेण्ट कराने की अमरीकी साजिश का पर्दाफाश किया और राइसटैक कम्पनी को हार माननी पड़ी। लेकिन हम अपना देशी कानून बनाकर अपनी जैवविविधता को संरक्षित कर लें, तो उसकी जरूरत ही न पड़े। दूसरे हमें 'ट्रेड-रिलेटेड इण्टेलैक्चुअल प्रोपर्टी राइट्स' (ट्रिप्स) के आर्टिकल 22-24 का फायदा उठाना चाहिए। इसमें भौगोलिक संसूचकों का प्रावधान है। इसी तर्क पर तो हम बासमती को बचा सके। भारत और पाकिस्तान के एक खास इलाके में उगाया जाने वाला सुगंधित चावल ही चावल-व्यापार के लिए बासमती माना जाता है। वही चावल दूसरी जगह ले जाकर बोयें तो उसे बासमती कहकर नहीं बेच सकते। इसी तरह करेला, जामुन, बैंगन और गुड़मार हमारे देश की वनस्पतियाँ हैं। इन पर अमरीका की कोई कंपनी अपना अधिकार कैसे जता सकती है। इन्हें मौका इसलिए मिल जाता है कि हमारी लालफीताशाही जो काम फौरन कर देना चाहिए, उसे टालते रहने में माहिर है। यही कारण है कि अपना पेटेण्ट कानून बनाने में इतनी देर लगा दी।

और कौन-सा ऐसा देश है दुनिया में जिसके पास 45,000 स्पीशीज पौधों की हों और 81,000 जंतुओं की हों। पौधों में लगभग 7500 तो ऐसे हैं, जो जड़ी-बूटियाँ हैं और केवल इसी भारत-भूमि पर उगते हैं। न जाने कितने तो हमारी लापरवाही से विलुप्त हो गए और होते जा रहे हैं। हमें यह भी नहीं पता कि 'बचे हैं तो कहां और कितने'। इनके बारे में अधिकतर जानकारी संस्कृत, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में मिलती है। इन भाषाओं की सरकार ने इतनी उपेक्षा की हुई है कि इनमें संचित परंपरागत ज्ञान को जानने-परखने का काम कुछ स्वैच्छिक संगठन ही कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र ने हमें एक मौका दिया, उसका भी हमने फायदा नहीं उठाया। 'कन्वेंशन ऑन बायोलोजिकल डाइवर्सिटी' (सी. बी. डी) अर्थात् 'जैव विविधता के समझौते' में यह प्रावधान है कि अपने देशी पौधों और उनसे जुड़े परंपरागत ज्ञान पर केवल हमारा ही अधिकार होगा। हमारे पेटेण्ट कानून और जैवविविधता की रक्षा के अधिनियम में इसको शामिल करना ही काफी था। अब तो हमने काफी देर कर दी है। अनेक बहुराष्ट्रीय दवा कंपनियाँ भारतीय दवा कंपनियों के साथ गठबंधन करके हमारी जड़ी-बूटियों के औषधीय यौगिक अलग करके उनका व्यापारिक लाभ उठाने में काफी आगे बढ़ चुकी हैं। हमारे ही पौधों से बनाई गई दवाएं वे मंहगे दामों पर हमें ही बेचेंगीं। इनमें अमरीका ही नहीं, यूरोप, जापान और आस्ट्रेलिया भी शामिल हैं।

हम आयुर्वेद और होम्योपैथी, यूनानी और 'सिद्ध' पर वर्किंग ग्रुप बिठाने में ही लगे हैं और उधर हमारी जड़ी-बूटियाँ हमारे हाथ से खिसकती जा रही हैं। हम अपने पड़ोसी चीन से भी सबक नहीं लेते। चीन में समस्त आयुर्वेदिक ज्ञान तिब्बत के रास्ते और

बौद्ध धर्म के साथ भारत से ही पहुंचा। उसने 1996 तक ही चीनी जड़ी-बूटियों के 46 प्रतिशत पेटेण्ट लेकर दुनिया में इस क्षेत्र के पेटेण्ट लेने का रिकार्ड बना लिया था। जापान के पास 20 प्रतिशत जड़ी-बूटियों के पेटेण्ट हैं। इसके साथ ही रूस और यूरोपी संघ ने भी 12-12 प्रतिशत पेटेण्ट लिए हुए हैं। अमरीका और आस्ट्रेलिया भी पीछे नहीं रहना चाहते, इसलिए उन्होंने भी 10-10 प्रतिशत जड़ी बूटियों पर अपना हक जताया है।

आश्चर्य की बात है कि जिस क्षेत्र में भारत विश्व का जगतगुरु है, वहीं दूसरों से पिछड़ रहा है। सन् 80 के बाद के दशक में भी जड़ी-बूटियों के निर्यात में भारत सबका सिरमौर था। उस समय भारत से अकेले यूरोपी संघ को ही 10,000 टन पौधे और 14 टन उनके एल्केलॉइड भेजे जा रहे थे। सन् 1992 में सबसे अधिक लोकप्रिय जड़ी-बूटियों की 74 स्पीशीज में से 22 स्पीशीज के पौधे निर्यात किए जा रहे थे। अकेला जर्मनी हर साल कोई 40,000 टन पौध-सामग्री भारत से मंगाता है। पिछले पांच सालों से यह सिलसिला चल रहा है। भारतीय जड़ी-बूटियां केवल कानूनी तौर पर ही नहीं, गैर कानूनी तौर पर भी विदेशों को भेजी जा रही हैं। यह व्यापार तिगुने से चौगुने तक बढ़ा है।

इस तरह हमें नहीं मालूम कि असल में हमारी कितनी जड़ी-बूटियां बाहर जा रही हैं, क्योंकि गैर कानूनी व्यापार का किसी को कोई अंदाजा नहीं है। आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी जैसी परंपरागत चिकित्सा प्रणालियां बड़ी पुरानी हैं और भारत में कुल मिलाकर इनके कोई पांच लाख वैद्य हकीम इलाज कर रहे हैं। इनमें से केवल पौने तीन लाख के करीब ही रजिस्टर्ड हैं। बहुत-से खानदानी हैं और बहुत-से नीम हकीम। ऐसे बहुत कम हैं, जिन्होंने इन शास्त्रों का बाकायदा ज्ञान प्राप्त किया है। फिर भी लगभग 50 करोड़ लोग इनके ही इलाज पर निर्भर हैं। इन परंपरागत चिकित्सा प्रणालियों के लिए दवाएं बनाने का उद्योग भी खूब फला-फूला। इस समय लगभग 8000 कंपनियों परंपरागत दवाएं बनाने के लिए लाइसेंसधारी हैं। बिना लाइसेंस वाली तो न जाने कितनी होंगी।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निगाह डालें तो पौधों पर आधारित दवाएं बनाने का उद्योग बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। सन् 1990 में 2000 से अधिक यूरोपी कंपनियां जड़ी-बूटियों पर आधारित दवाएं बेच रहीं थीं। लगभग 223 बड़ी-बड़ी कंपनियां जड़ी-बूटियां खोजने के लिए जंगल छानने में संलग्न थीं। इस क्षेत्र में अपना एकाधिकार बनाने के लिए ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां डब्ल्यू. टी. ओ. का सहारा ले रही हैं। उन्हें जैवविविधता के संयुक्त राष्ट्र के समझौते – सी. बी. डी. के इस नियम से भी शह मिलती है कि उसमें किसी देश के अपने आनुवंशिक संसाधनों पर तो उसका प्रभुत्व स्वीकार किया है, लेकिन उस सम्पदा में से कोई चीज निकाल कर, बनाई और बेची जाए तो उस पर उस देश के अधिकार के बारे में 'सी. बी. डी.' भी मौन है।

पेटेण्ट अधिकार के अलावा भारतीय दवा-उद्योग पर विश्व व्यापार संगठन की अन्य धाराओं के कारण भी भारी खतरा मंडरा रहा है। बाहर से दवाएं आने पर रोक हटाने

से भारतीय दवा-उद्योग ठप्प ही हो जाएगा। अभी तक बाहर से दवाएं मंगाएं तो उन पर 25 प्रतिशत महसूल लगता रहा है। डब्ल्यू. टी. ओ. के अधीन भारत इस व्यापारिक-बाधा (ट्रेड बैरियर) को हटाने के लिए बाध्य है। इस तरह ऐलोपैथी दवाएं बनाने वाले बैठ जाएंगे। भारत में पहले से घुसपैठ कर बैठी बहुराष्ट्रीय कंपनियां इसे नहीं मानतीं। लेकिन यह सच्चाई है। एलोपैथी उद्योग पर मंडराते इस खतरे का फायदा आयुर्वेदिक तथा अन्य परंपरागत प्रणालियाँ उठा सकती हैं।

हम समय रहते चेत जाएं तो विश्व के जड़ी-बूटी व्यापार पर छा सकते हैं। साथ ही अपनी जड़ी-बूटियों के गैरकानूनी दोहन को रोक सकते हैं। उस पर अपना हक जताने के लिए पेटेंट लेने वालों की भी हिम्मत पस्त कर सकते हैं। लेकिन जिस आधे-अधूरे मन से इसमें जुटे सरकारी विभाग इस मुद्दे को टालते आ रहे हैं, उससे लगता नहीं कि हम अपने इस परंपरागत ज्ञान और सम्पदा की रक्षा कर पाएंगे। हमने हौसला दिखाया होता तो सदियों से देश में इस्तेमाल हो रहे जामुन, करेले, बैंगन और गुडमार को पेटेंट कराने की किसी की हिम्मत होती!

‘हल्दी’ से मिले सबक

जब “वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद” (सी. एस. आइ. आर.) ने भारत की वनस्पति परंपरा के खजाने से ‘हल्दी’ को लुट जाने से बचाया, तो यह वास्तव में भारतीय परंपरा की रक्षा के लिए प्रयत्नशील संगठनों, विद्वानों और वैज्ञानिकों की एक बड़ी विजय थी। हल्दी के घाव भरने और चोट ठीक करने के अनूठे गुणों को अमरीकी पेटेंट कार्यालय पेटेंट कराने की स्वीकृति देने लगा था कि सी. एस. आइ. आर. के तत्कालीन महानिदेशक डा. आर. पी. माशेलकर ने पूरे प्रमाणों के साथ इसका विरोध किया। अक्टूबर 1996 में यह विरोध इस तर्क के साथ दर्ज किया गया कि हल्दी भारत में सदियों से चोट वगैरह के इलाज में इस्तेमाल की जा रही है। हल्दी का यह गुण कोई नया आविष्कार नहीं है, जब कि पेटेंट के लिए आवेदन करने वालों ने पेटेंट कार्यालय को नया आविष्कार बताकर बरगलाने की कोशिश की थी।

स्वयं डा. माशेलकर ने हल्दी का पेटेंट लेने की अमरीकी कोशिश को विफल करने के बाद कहा था कि “यह परंपरागत भारतीय ज्ञान की रक्षा की दिशा में किया गया ऐसा सफल प्रयास है, जिसके बड़े दूरगामी परिणाम होंगे”। इस निहायत ‘बकवास’ पेटेंट के खिलाफ लड़ाई छेड़ने में सचमुच डा. माशेलकर ने अनेक बाधाओं के बावजूद संघर्षशीलता और साहस का परिचय दिया था। सी. एस. आइ. आर. के अपने स्रोतों और भारतीय शास्त्रों से हल्दी के बारे में उन्होंने पूरी जानकारी इकट्ठी की और 32 शोध प्रबंधों और प्रकाशित सामग्री ने हल्दी पर भारतीय दावे के दर्क को मजबूत किया। इनमें हल्दी के चोट ठीक करने के गुणों को भारत में किए गए वैज्ञानिक प्रयोगों से प्रमाणित किया गया था। ये दस्तावेज हिंदी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं से भी लिए गए थे और उनका अंग्रेजी में अनुवाद कराया गया था।

इससे पहले एक और पेटेण्ट भारत के अपने पेटेण्ट कार्यालय ने अक्टूबर 1994 में रद्द कर दिया था और इसके बाद मार्च 1955 में अमरीकी पेटेण्ट कार्यालय ने भी खारिज किया। भारत में यह पेटेण्ट भारतीय पेटेण्ट अधिनियम 1970 के प्रावधानों को अनदेखा करते हुए मंजूर कर लिया गया था। अमरीका में यह पेटेण्ट स्वीकार हुआ, उससे पांच महीने पहले ही भारत में स्वीकृति दे दी गई। यह पेटेण्ट 'पराजीनी कपास' के बारे में था। इसका आवेदन 'एग्रासीटस' कंपनी ने किया था। यह अमरीका की 'डब्ल्यू. आर. ग्रेस. इंको' की ही एक शाखा है। यह वही कंपनी है जो नीम के पेटेण्ट के लिए दुनिया भर में बदनाम हुई थी। अगर यह पेटेण्ट मान लिया जाता तो हर किस्म की 'पराजीनी कपास' पर इसी कंपनी का एकाधिकार हो जाता। फिर भले ही कपास की कोई भी किस्म इस्तेमाल की गई होती और जीनियोगरी की कोई भी तकनीक अपनाई गई होती। उस 'पराजीनी कपास' का बीज बनाने के लिए 'एग्रासीटस' से इजाजत लेनी पड़ती। 'उसे लाइसेंस फी' या रॉयल्टी देनी पड़ती।

भारत में इस पेटेण्ट को 'जनता के हितों का विरोधी' बताकर निरस्त किया गया। इस तरह का पेटेण्ट लेने की कोशिश यह पहली बार की गई थी। अगर यह पेटेण्ट 'एग्रासीटस' को मिल जाता तो जैव प्रौद्योगिकी की किसी भी तकनीक से सुधारी गई कपास की हर किस्म पर इस कंपनी की मिल्कियत हो जानी थी। इसका दूरगामी परिणाम यह होता कि भारत में कपास पर किया जा रहा अनुसंधान ही ठप्प हो जाता।

पूरे कपास-बीज उद्योग को हड़पने की यह साजिश सिर उठाते ही कुचल दी गई और भारत ही नहीं, अमरीकी पेटेण्ट कार्यालय ने भी इस पेटेण्ट को रद्द कर दिया। लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने फिर भी हार नहीं मानी। जैसे ही यह पेटेण्ट खारिज हुआ कि तमाम फसलों के इसी तरह के पेटेण्ट लेने के आवेदनों की अमरीकी कार्यालय में भरमार हो गई। और मजे की बात यह है कि इनमें से अनेक पेटेण्ट अमरीकी पेटेण्ट ऑफिस ने स्वीकार भी कर लिए। तब से इस दफ्तर में धान, कपास, सोयाबीन, कौफी, मिर्च, फूल गोभी, पत्ता गोभी, मटर, खरबूज-तरबूज वगैरह तमाम फसलों की पराजीनी किस्मों के व्यापक बहुआयामी पेटेण्ट स्वीकार कर लिए गए हैं। इससे भारत की खाद्य सुरक्षा के लिए भारी संकट पैदा हो गया है और करोड़ों खेतिहर परिवारों की जीविका सुरक्षा भी खतरे में पड़ गई है।

इस तरह 'एग्रासीटस' के पराजीनी कपास का पेटेण्ट लेने की कोशिश नाकाम होने की खुशियों पर जल्दी ही पानी फिर गया। लगता है कि हल्दी का पेटेण्ट जीतने की खुशी भी ऐसी ही पलभर की खुशी बन कर रह गई। क्योंकि इसके बाद भी भारत के परंपरागत ज्ञान और जड़ीबूटियों को हड़पने की कोशिशों में कोई कमी नहीं आई। जब हल्दी का पेटेण्ट जीतने पर मिठाइयां बांटी जा रही थी, तब मैंने यह शंका प्रकट की थी, जो बाद में सच साबित हुई। मैंने उस समय कहा था कि यह एक पेटेण्ट जीत लेने पर हम इस मामले में कोई ढील न डालें और अपने तमाम तीर-तरकस चौकस रखें, क्योंकि हमले आगे भी होंगे और पहले से जोरदार होंगे। इस जीत पर फूल कर कुप्पा होने की जरूरत नहीं है, बल्कि अपने पेटेण्ट कानूनों और जैवविविधता सुरक्षा

अधिनियमों को इतना मज़बूत बनाने की आवश्यकता है कि कोई भी उनमें संध न लगा पाए।

यह माना कि अमरीका पेटेण्ट कार्यालय ने भारत के परंपरागत ज्ञान और भौगोलिक सीमा का तर्क हल्दी और बासमती के मामले में स्वीकार कर लिया। लेकिन आखिरकार सी. एस. आइ. आर कितने पेटेण्टों को खारिज करने की लड़ाई लड़ेगा? यह लड़ाई लड़ना आसान नहीं है। मुकद्दमा अमरीकी अदालत में लड़ा जाता है। लाखों डालर अदालती कार्यवाही और वकीलों की फीस पर खर्च हो जाते हैं। विश्वस्तर पर यह लड़ाई सभी विकसित देशों को मिलकर लड़नी होगी। क्योंकि किसी भी देश के वैज्ञानिक संस्थानों और गैर सरकारी संगठनों के पास इतने साधन नहीं है कि वे पश्चिम के खरबपति बहुराष्ट्रीय संगठनों और निजी कंपनियों का मुकाबला कर सकें।

नीम के लगभग 80 कीटनाशी गुण पेटेण्ट करा लिए गए हैं। नीम के पेटेण्ट का विरोध करने के लिए भारत के लगभग 200 गैर सरकारी संगठनों ने अलग-अलग कोशिश की। हर कोई यह दिखाने की कोशिश करने लगा कि भारत की जैवविविधता का असली पहरेदार तो बस वही है। नतीजा यह हुआ कि हम जो जीत 'हल्दी' में हासिल कर सके थे, वह 'नीम' के मामले में दूर-दूर तक नजर नहीं आई। नीम के खिलाफ भी मिलजुलकर लड़ाई लड़ी जाती तो उसके नतीजे इतने कड़ुए न होते। हमारे गैर सरकारी संगठनों को 'सी. एस. आइ. आर' से सबक लेना होगा। जिस तैयारी के साथ सी. एस. आइ. आर 'हल्दीघाटी' के मैदान में उतरा, वैसी ही तैयारी स्वैच्छिक संगठनों की होगी, तभी वे जीत सकेंगे। कुछ स्वैच्छिक संगठन तो जनता की आंखों में घूल झोंककर हार को भी जीत बताने में नहीं चूकते। ऐसी ही करतूतों से स्वैच्छिक संगठन बदनाम होते हैं। उन्हें एक दूसरे की टांग खींचने से बाज आना चाहिए, क्योंकि देश बड़े गंभीर संकट के दौर से गुजर रहा है। भारत की परंपरागत अस्मिता को बचाने में जैसी सराहनीय भूमिका 'सी. एस. आइ. आर' ने निभाई वैसी अन्य किसी भी स्वैच्छिक संगठन ने नहीं निभाई। पौधों, जंतुओं, सूक्ष्मजीवों और मनुष्यों के डी. एन. ए. खण्डों को लेकर जिस तरह के पेटेण्ट लेने के चतुर्दिक प्रयास किए जा रहे हैं, उन्हें ट्रिप्स यानी 'ट्रेड रिलेटेड इण्टलैक्चुअल प्रोपर्टी राइट्स' के परिप्रेक्ष्य में देखें तो सम्पूर्ण मानवता के लिए और खासतौर से विकासशील देशों के लिए यह बहुत बड़ा खतरा बनता जा रहा है। पेटेण्ट लेने की कसौटी हमेशा से यह रही है कि उसमें नया पन (नॉवेल्टी) हो, यह न लगे कि इसमें क्या रखा है, यह तो कोई भी बना लेगा (नॉन-ओवियसनेस) और वह कुछ अलग हटकर हो (डिस्टिंक्टनेस)। लेकिन अब ये कसौटियां उठकर ताख में रख दी गई हैं। आप ने न कुछ नया निकाला हो और न कोई प्रयोग किया हो और न कुछ बनाया हो। बस, आप सोच रहे हैं कि इसका ऐसा कुछ किया जाये तो यह विचार, यह ख्याल ही आपको पेटेण्ट दिला सकता है। तभी तो लोगों ने कंप्यूटर पर वेब साइटों के नाम ही पेटेण्ट करा लिए और ऐसा लगा जैसे पूरा शब्दकोश ही पेटेण्ट हो गया है।

खुद अमरीकी पेटेण्ट कानून यह मानता है कि कोई भी 'आविष्कार' पेटेण्ट तब कराया जा सकता है, जब उसमें कुछ नयापन हो। कोई भी आविष्कार पेटेण्ट नहीं कराया जा सकता यदि (क) पेटेण्टकर्ता के दावे से पहले वह आविष्कार इस देश में ज्ञात है या

इस्तेमाल किया जा रहा है, या इस देश में या विदेश में किसी प्रकाशन में उसका विवरण छापा गया है या पेटेण्ट लिया जा चुका है। या (ख) अमरीका में पेटेण्ट का दावा दायर करने से एक साल से अधिक समय पहले से वह आविष्कार इस देश में या विदेश में पेटेण्ट कराया जा चुका है या प्रकाशित हो चुका है या इस्तेमाल किया जा रहा है और बेचा जा रहा है।

असल में यह नामुमकिन है कि दुनिया भर में पेटेण्ट के लिए दायर किए जा रहे दावों पर हम निगाह रखें और जहां भी हमारी किसी चीज को कोई पेटेण्ट कराने की कोशिश करे उसका विरोध करें और उसके खिलाफ मुकद्दमा लड़ें। जो हो सकता है वह यही है कि अपना पेटेण्ट कानून बहुत मजबूत बनाएं। उसमें 'नएपन' की धारा में यह भी शामिल किया जाए कि 'यह परंपरागत ज्ञान पर आधारित नहीं है'। असल में हर पेटेण्ट-याचक से भारत को यह शर्त मनवानी चाहिए कि वह यह लिखकर दे कि उसका पेटेण्ट परंपरागत ज्ञान पर आधारित नहीं है। तभी हम अपनी महान विरासत को बचा पाएंगे। क्या यह धारा भारत के पेटेण्ट कानून में डाली गयी है?

एशिया की जैवविविधता को ही पेटेण्ट न करा लें

उन्नीसवीं सदी के आखिर में 'पौधों की छानबीन का स्वर्णयुग' था। उस समय ब्रिटेन अपने सभी उपनिवेशों की प्राकृतिक सम्पदा की लूट-खासोट में लगा था। बस एक ही अच्छी बात यह हुई कि इसके लिए उसके वनस्पतिज्ञों ने पौधों का अध्ययन भी किया और तमाम 'फ्लोरा' यानि वनस्पति कोश छापे और जंतुओं का ज्ञान भी 'फॉना' पाणि कोश के रूप में प्रकाशित किया। नुकसान यह हुआ कि ये तमाम नमूने पश्चिमी देशों के जिनबैंकों में जमा होते चले गए। विकासशील देशों के किसानों और आदिवासियों ने जिन पौधों को संभालकर रखा था, उनकी इस मेहनत का कोई मुआवजा उन्हें नहीं दिया गया और कोई 200 साल में सब पौधे पश्चिमी हमलावरों ने अपने-अपने जिन-बैंकों में भर लिए- मुफ्त में। 'जीन-समृद्ध' देशों की गरीब जनता की सदियों की विरासत को लूटकर लुटेरे यह तर्क देते फिर रहे हैं कि विश्व की सम्पूर्ण जैव विविधता पर पूरी मानवता का अधिकार है। वह तो सबकी साझी विरासत है।

जर्मप्लाज्म अर्थात् जनित्रद्रव्य यानी फसलों नई की किस्मों और पशुओं की नई नस्लों के विकास के लिए आवश्यक आधार सामग्री (बीज, पौध इत्यादि) का खुला आदान-प्रदान होने से ही पश्चिमी कृषि का औद्योगीकरण संभव हो पाया। वहां इन की पैदावार विकासशील देशों की पौध-सामग्री के आधार पर कई गुनी बढ़ती रही, लेकिन उसके आर्थिक लाभ उन विकासशील देशों तक नहीं टपके जिनकी जैवविविधता और संसाधनों के दोहन से उनके गोदाम और तिजोरियां भरे। निजी कंपनियों ने भारत जैसे देशों की जड़ी-बूटियों से दवाएं बना-बनाकर अरबों डालर कमाए। उदाहरण के लिए अमरीका में बिकने वाली दवाओं में सबसे ज्यादा बिक्री जिन 20 दवाओं की होती है, वे सबकी सब पौधों, सूक्ष्मजीवों और जंतुओं से प्राप्त किए गए यौगिकों पर आधारित हैं। इन दवाओं की संयुक्त बिक्री सन् 1988 में ही 6 अरब डालर के आसपास थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो अमरीका के दवा बाजार में 25 प्रतिशत कारोबार पौधों पर आधारित यौगिकों का ही होता है।

जब से जैव प्रौद्योगिकी ने हल्ला बोला है एक बार फिर से जैवविविधता को साझी विरासत मनवाने की जिद शुरू हुई है। गनीमत है कि विकासशील देश समझने लगे हैं कि अचानक उठे इस विश्व-प्रेम के ज्वार का रहस्य क्या है। बायोटेक उद्योग तो कभी नहीं चाहता कि सभी देश अपने-अपने जैवसंसाधनों पर कीमते टांग दें कि अगर इसमें से कुछ भी इस्तेमाल करना है तो इतने डालर ढीले करो। अब तो सभी देश स्वयं ही सावधान हो गए हैं और कुछ निजी कंपनियों द्वारा अपने पौधों, वनस्पति सम्पदा तथा अन्य जैव संसाधनों पर एकाधिकार के विरुद्ध आवाज बुलंद कर रहे हैं। पूरी दुनिया जैसे अपने जैव संसाधनों के महत्व के बारे में अचानक जाग पड़ी है और अब पश्चिमी देशों में यह सोचा जा रहा है कि इन जैव संसाधनों का उपयोग आसान बनाने के लिए आखिरकार क्या किया जाए।

बायोटेक उद्योग को यह भ्रम है कि अनेक छोटे-छोटे देशों में आपसी झगड़ों और जातीय युद्धों ने तथा अस्थायी सरकारों ने यह समस्या भड़काई है। वे यह भी जानते हैं कि खुद इन देशों के पास तो इतने साधन भी नहीं हैं कि वे अपनी जैवविविधता की पहचान करके उसे बाकायदा सूचीबद्ध कर सकें, उसका उपयोग करके उसमें से कोई दवा वगैरह निकालना तो दूर की बात है। कई देश इस बात को समझ गए हैं कि जैवविविधता के अध्ययन के बहाने बड़ी-बड़ी दवा-कंपनियां वहां से काम की चीजें चुरा लाने के फेर में रहती हैं। दूसरी ओर दवा कंपनियों का तर्क है कि एक दवा को खोजने में तीन से पांच साल लग जाते हैं और फिर उसके परीक्षण वगैरह में दस साल का समय लग जाना आम बात है। इसलिए कोई भी नयी दवा निकालना वैसे ही बड़ा महंगा सौदा है। ऊपर से जिस देश का पौधा है उस देश को मुआवजा देना पड़ा तब तो नई दवाओं की खोज करना असंभव ही हो जाएगा।

यही कारण है कि अमरीका सारी दुनिया की जैवविविधता को मानव की साझी विरासत बताने का ढिंढोरा पीट रहा है। असल में तो दवा कंपनियों का मुनाफा बढ़ाना ही इस अचानक उमड़ आए 'मानवता प्रेम' का वास्तविक रहस्य है। विश्व में बौद्धिक सम्पदा के अधिकार की चर्चा भी जोर पकड़ रही है। कोई भी अब किसी देश की जैवविविधता में आसानी से प्रवेश नहीं पा सकता। जिनके पास पेटेंट हैं उनके अधिकार अब बहुत बढ़ गए हैं। इसके आधार पर वे विश्व के दवा उद्योग को ही नहीं खाद्य-उत्पादन-प्रणालियों को भी प्रभावित कर सकते हैं। जैसे-जैसे आनुवंशिक सामग्री की कीमत का पता चल रहा है वैसे-वैसे एक ऐसी सामाजिक और कानूनी प्रणाली विकसित करने पर विशेष बल दिया जा रहा है जो कि जैवविविधता के अनुचित दोहन को रोक सके।

पश्चिम की निजी कंपनियां इस कानूनी ढांचे को खड़ा करने में अपनी सरकारों की मदद से तरह-तरह के अड़ंगे लगा रही हैं। वे चाहती हैं कि ये कानून बनें, इससे पहले ही वे दुनिया के उन देशों में घुसकर वहां की जैवविविधता का शोषण कर लें,

जिनके यहां अभी प्राकृतिक वर्षावन बच रहे हैं, जिनके चप्पे-चप्पे में पौधों और सूक्ष्मजीवों तथा जंतुओं की विशाल जैवविविधता बजबजा रही है। ये कंपनियां ऐसे कानून चाहती हैं जो उन्हें स जैव विविधता के उपयोग की खुली छूट दे दें। इस तरह नयी दवाएं और नए बीज बना-बना कर वे मालामाल होना चाहती हैं। साथ ही उनका इरादा है कि दवा उद्योग और खाद्य उद्योग पर उनका एकाधिकार हो जाए और कोई प्रतिद्वंदी न हो। पहले ये आपस में एक दूसरे के प्रतियोगी थे। अब 'चोर-चोर मौसेरे भाई' की कहावत के अनुरूप बड़ी-बड़ी कंपनियों में एका हो गया है कि आओ गरीब देशों को बहकायें और उन्हें मिलजुलकर लूटें-खसोटें। जैवविविधता के समझौते पर अमरीका हस्ताक्षर नहीं करता, बस चर्चा होती रहती है। इस समझौते से वह जैवविविधता पहले ही बाहर कर दी गई है जो पश्चिमी जीनबैंकों में पहले से जमा है। अब वे चाहते हैं कि जो जैवविविधता उनके जीनबैंकों और अन्य संकलनों से बाहर हैं वह भी उनके कब्जे में आ जाए। उन्होंने विकासशील देशों की नौकरशाही और राजशाही को तो अपने हथकंडों से पटा लिया है। अनेक संस्थानों को भी खरीद लिया है। ये सब विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की वकालत करते हैं। कभी विदेशी पूंजी निवेश बढ़ाने के बहाने कभी नयी प्रौद्योगिकी को देश में लाकर उसके उपयोग से देश को समृद्ध बनाने के नाम पर ये लोग और ये संस्थाएं देशी कानूनों में लगातार ऐसे सुधार कर रही हैं जिनसे बहुराष्ट्रीय कंपनियों का फायदा हो। उधर बहुराष्ट्रीय कंपनियां ऐसे मुखौटे लगा रही हैं जिनके पीछे उनका धिनौना लालची चेहरा छुपा रहे और ऐसा चेहरा सामने आए जिससे वे गरीबों के मसीहा लगें। यही कारण है कि अधिकतर देशों में ऐसे कानून लंबे समय से लटके पड़े हैं, जिनके बनने से जैवविविधता पर इन देशों का प्रभुत्व होगा और उसका उपयोग करने वालों को मोटी रकम मुआवजे या लाइसेंस फी या रॉयल्टी के रूप में देनी पड़ेगी।

इसी बीच बहुराष्ट्रीय कंपनियों का जहां भी हाथ पड़ता है और कोई काम की चीज हाथ आती है या लगता है कि आगे चलकर काम की साबित होगी, उसे पेटेण्ट कराने की मुहिम तेज कर दी है। अब पेटेण्ट नए आविष्कारों तक सीमित नहीं है। अमरीकी कानून तो आविष्कार या खोज में भेद ही नहीं करता। इसी अमरीकी पेटेण्ट कानून को आधार बनाकर 'ट्रेड रिलेटेड इंटेलेक्चुअल प्रोपर्टी राइट्स' (ट्रिप्स) के नियम और शर्तें गढ़ी गई हैं। इसीलिए कुछ ऐसा माहौल हो गया है कि आसमान के नीचे जो भी कुछ है वह सब पेटेण्ट करा लिया जाएगा। यही कारण है कि अनेक कंपनियों में सूक्ष्मजीवों, जीव और कोशिकाओं तक को पेटेण्ट कराने की होड़ लगी है। जब कि ये नए आविष्कार नहीं हैं। ये तो प्रकृति में पहले से ही मौजूद थे। आपने खोज लिए तो ये आपके हो गए। इसी को कहते हैं 'चोरी और सीनाजोरी'।

जिस तरह से भारत की जैव सम्पदा खासतौर से परंपरागत जड़ी-बूटियों के पेटेण्ट लिए जा रहे हैं, उसकी तो गिनती ही करना मुश्किल हो गया है। आप किसी भी जड़ी-बूटी या उपयोगी पौधे का नाम लें तो उसे किसी न किसी ने पेटेण्ट करा लिया है—आंवला, जर आंवला और सलाई, करेला, जामुन और बैंगन तथा गुड़मार। उनकी देखादेखी कुछ भारतीय कंपनियों के भी पर निकलने लगे हैं। वे भी भारतीय जड़ीबूटियों के पेटेण्ट लेकर उनको कब्जाने की दौड़ में शामिल हो गई हैं। ब्राह्मी,

अर्जुन, लोध्र, कंटकारि, किराटतिता, गोखरू या गोक्षर, चित्रक और विडंग जैसे तमाम आयुर्वेदिक औषधीय पौधे पेटेण्ट की गिरफ्त में फंस चुके हैं। अब इनका काढ़ा या सार निकालकर बेचना उतना आसान नहीं रहेगा। मुझे तो संदेह है कि इन भारतीय कंपनियों को इस अंधी दौड़ के पीछे भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हाथ न हो।

अब भारत ने अपना पेटेण्ट कानून बना ही लिया है तो यह देखना है कि इस पेटेण्ट कानून के सहारे हम अपनी जैवविविधता को कहां तक बचा पाते हैं। अब भारत सरकार देश की 45000 पौध प्रजातियों, 75000 प्रणिजातियों तथा असंख्य सूक्ष्मजीवों और कीट आदि को खुद ही क्यों न पेटेण्ट करा ले। हमारे वैज्ञानिकों ने इनकी खोज की है और नए पेटेण्ट कानून में हर खोज पेटेण्ट कराई जा सकती है।

8. भेदभाव

भारत ने पेटेण्ट-प्रणाली को लेकर भी विश्वव्यापार संगठन पर भेदभाव बरतने का आरोप नहीं लगाया। असल में 'व्यापार संबंधी बौद्धिक अधिकार' के समझौते को अमरीकी पेटेण्ट कानून की देखादेखी वैसा ही बनाया गया है। जबकि यह पेटेण्ट कानून अब अप्रासंगिक हो चुका है और इसका कोई महत्व नहीं रहा। यह अमरीकी पेटेण्ट कानून कोई एक सौ साल पहले केवल निर्माताओं के भले के लिए बनाया गया था। अब उसी के दायरे में परंपरागत ज्ञान ही नहीं, जीवंत वस्तुओं का पेटेण्ट भी लाया जा रहा है, जिसमें जीन या वंशाणु तथा मानव कोशिकाओं को पेटेण्ट करना भी शामिल है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों कहती हैं कि वे ऐसा पेटेण्ट कानून चाहती हैं जो उनके 'आविष्कार' की चोरी न होने दे। जबकि अमरीकी पेटेण्ट प्रणाली 'डिस्कवरी' (खोज) और 'इनवेंशन' में कोई भेद नहीं करती। उदाहरण के लिए आपने उड़ने वाली साइकिल बना दी तो यह 'आविष्कार' हुआ। लेकिन गालों में गड्ढा डालने वाला 'जीन' पता कर लिया तो यह 'खोज' हुई। अमरीकी कानून में इन दोनों को ही पेटेण्ट किया जा सकता है।

असल में यह भेदभाव आगे दूर तक देखा जा सकता है। अमरीका को केवल एक ही चिंता है कि उसकी बहुराष्ट्रीय बायोटेक-कंपनियों को कोई नुकसान न पहुंचे। वे जिस देश के पौधे से या प्राणी से जीन लेकर कोई दवा बनाएं तो उसकी रॉयल्टी में या आमदनी में उस देश का हिस्सा न हो। यही कारण है कि अमरीका जैवविविधता के समझौते-सी. बी. डी (कन्वेंशन ऑन बायोलोजिकल डाइवर्सिटी) पर हस्ताक्षर नहीं कर रहा।

इस समझौते का मसौदा सन् 1993 में बना था और अब तक इस पर 178 देशों ने हस्ताक्षर करके इसको अभिपुष्ट (रेक्टिफाइड) कर दिया है। अब अकेला अमरीका बचा है, जो इस पर हस्ताक्षर नहीं कर रहा। इससे अमरीका का असली चेहरा दुनिया के सामने आ गया है।

'सी. बी. डी' की जिस धारा पर अमरीका को ऐतराज है, वह यह है कि इसमें पहली बार वनस्पतिजात (फ्लोरा) और प्राणिजात (फॉना) को विश्व की साझी विरासत नहीं माना गया, बल्कि जिस देश में ये पेड़-पौधे और प्राणी पाए जाते हैं, उसी देश की अपनी विरासत माना गया है। बेचारे अमरीका के पास तो अपना कहने को ज्यादा कुछ है ही नहीं। ज्यादातर प्राकृतिक सम्पदा अमरीकी ने दुनिया भर में जहां-तहां से बटोरी

है। इसलिए अगर वह सी. बी. डी को मान ले तो उसकी तमाम कंपनियों को उन देशों को रॉयल्टी देनी पड़ेगी, जिनके पेड़-पौधों से उन्होंने दवाएं बनाई हैं। उदाहरण के लिए 'सर्पगंधा' (*सॉवल्फ़िया सर्पेटाइना*) केवल भारत में पाया जाता है। जब कि सर्पगंधा से हृदय विकारों के लिए तमाम दवाएं निकाली गई हैं और पश्चिमी दवा कंपनियां उन्हें पिछले कोई 70 सालों से बनाकर बेच रही हैं। सी. बी. डी के बाद अगर भारत की 'ब्राह्मी' से कोई दवा निकाली जाएगी तो उसकी रॉयल्टी भारत को मिलेगी।

अमरीका अपने पेटेण्ट कानून के तहत हर साल कोई 1200 लाख डालर की रॉयल्टी वसूल कर लेता है। जबकि खुद विकासशील देशों की प्रकृति सम्पदा के उपयोग से हर साल कोई साढ़े पांच अरब डालर की कमाई कर रहा है। इस कमाई की एक पाई भी वह किसी देश को नहीं देता। इसमें से कम से कम एक तिहाई भारत की देन है। जबकि अमरीका से भारत को उसकी प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग की ऐवज टेंगा भी नहीं मिला।

यह एक विचित्र भेड़चाल है। अमरीका अपने पेटेण्ट कानून के तहत दुनिया भर के पेड़-पौधों, जंतुओं, यहां तक कि सूक्ष्मजीवों को भी पेटेण्ट करा रहा है। कुछ नया बनाया, कुछ नया गढ़ा हो, जो अलग हट कर बनाया गया हो, उसे कोई पेटेण्ट कराये तो बात समझ में आती है। लेकिन अमरीका में तो 5000 से अधिक 'जीन' और सैल-लाइनें (कोशिका-क्रम) ही पेटेण्ट कराए जा चुके हैं। यहां तक कि अमरीका की एक कम्पनी 'बायोसाइट' कार्पोरेशन' ने यूरोप का पेटेण्ट (संख्या ई जी 343 217) लिया है, किस चीज़ का - नवजात शिशुओं और गर्भ में पल रहे भ्रूण की नाभि से जुड़ी गर्भनाल की रूधिर-कोशिकाओं का। जिस कम्पनी ने पेटेण्ट लिया है, उसने केवल इतना किया है कि गर्भनाल की रूधिर-कोशिकाएं वहां से निकालकर डीप-फ्रीज़ में शून्य से कई डिग्री सेल्सियस नीचे ठंडी करके जमा दी हैं। इतनी-सी बात से अब इन रूधिर-कोशिकाओं का उपयोग केवल बायोसाइट कम्पनी ही कर सकेगी। अगर इनके इस्तेमाल से चिकित्सा का कोई नया तरीका निकला तो उस पर भी 'बायोसाइट' का अधिकार होगा। इसके अलावा यह पेटेण्ट कम्पनी को यह अधिकार भी देता है कि वह किसी भी शिशु का गर्भनाल इस्तेमाल कर सकती है और इसके लिए उसे माता-पिता की इजाज़त नहीं लेनी पड़ेगी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि अमरीका में टैक्सास में स्थित बेलर कॉलेज ऑफ मेडीसिन और ग्रेनाडा बायोसाइंसेज ने यूरोपियन पेटेण्ट ऑफिस में जीनियागरी की तकनीक के नाम पर एक स्त्री-देह का ही पेटेण्ट लेने के लिए आवेदन कर दिया। इतनी चतुराई से इस पेटेण्ट का मसौदा तैयार किया गया कि मानव देह में अगर जीनियागरी की कोई तकनीक अपनाई गई तो इन पेटेण्टधारियों को रॉयल्टी देनी पड़ेगी। इस पेटेण्ट में कहा गया कि 'स्तनधारियों की मादा प्रजाति अपनी स्तन-ग्रंथियों से जीनियागरी के कारण कोई जीवरसानियन स्रवित करने लगे तो इस स्राव पर उपर्युक्त दोनों संस्थाओं का पेटेण्ट होगा।' स्तनधारी यानी मैमल वर्ग में कुत्ते-बिल्ली और गाय-भैंस तथा खरगोश वगैरह से लेकर बंदर और आदमी तक सभी वे प्राणी आ जाते हैं, जो अपने बच्चों को मां का दूध पिलाते हैं। इनमें 'व्हेल' भी शामिल है। जब

इन बायोटेक-कम्पनियों के पेटेण्ट-अटोर्नी ब्रायन ल्यूकास से पूछा गया कि इस पेटेण्ट में 'स्त्री' क्यों शामिल की गई तो उनका जवाब था कि "क्या पता कहीं कोई मनुष्यों को भी पेटेण्ट करना स्वीकार कर ले।"

बायोटेक कंपनियों का वश चले तो वे मानव अंगों को भी पेटेण्ट करा लें। मानव-कोशिकाओं और मानव-वंशाणुओं को पेटेण्ट कराने का सिलसिला तो चल ही पड़ा है। वह तो बीच में अमरीकी राष्ट्रपति और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री आ गए, नहीं तो मानव-जीनकोष भी पेटेण्ट करा लिया जाता। लगता है एक दिन हमारी देह पर भी हमारा अधिकार नहीं रहेगा। 'ह्यूमन जीनोम डाइवर्सिटी प्रोजेक्ट' के तहत एक अमरीकी कंपनी 'इनसाइट' (Incyte) ने 40,000 डी. एन. ए. खण्डों तथा मानव मस्तिष्क में सक्रिय कुछ वंशाणुओं को पेटेण्ट कराने का आवेदन दे डाला था। जब कि इनकी खोज 'मानव-वंशाणुकोष विविधता' की प्रायोजना के अधीन एक सरकारी संस्थान ने की थी। इस प्रायोजना के अंतर्गत भारत के 77 विविध समुदायों की आनुवंशिक संरचना की खोज की जा रही है इनमें ब्राह्मणों से लेकर गोंड जनजाति और जाट इत्यादि सभी जाति-उपजाति शामिल हैं। इनमें जो भी खास वंशाणु पाए जाएंगे, उन्हें पेटेण्ट करा लिया जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर अगर भारत में जीन-चिकित्सा शुरू हुई तो हमें इन बायोटेक कंपनियों को तगड़ी लाइसेंस-फी या रॉयल्टी देनी होगी, जिनके पास जरूरी वंशाणुओं का पेटेण्ट होगा।

जैव-दस्युता तेरे कई नाम

पहले तो विकासशील देशों को यह समझाकर बहकाया गया था कि वे अपने यहां की विशाल वानस्पतिक सम्पदा का संग्रह करें और उसका संरक्षण करें तो उनके आर्थिक हित पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे। यह तीस साल पहले की बात है। इस तरह दुनिया भर से तमाम पौधों के बीज कोई 60 लाख नमूनों के रूप में अमीर देशों के जीन-बैंकों में पहुंच गए और वे उनका पूरा आर्थिक लाभ उठा रहे हैं। अब इन विकसित देशों को चिंता सता रहीं हैं विकासशील देशों के गांव-गांव में बिखरे "परंपरागत ज्ञान की। एक बार फिर वही भावुक पुकार कि परंपरागत ज्ञान को इक्ठ्ठा करो, उसे लुप्त होने से बचाओ। हाय कहीं पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा यह व्यावहारिक ज्ञान धरती से गायब न हो जाए। स्थानीय समुदायों और जनजातियों के बीच जाओ और इस ज्ञान को कंप्यूटरों में भरें। अगर ऐसा नहीं किया तो जल्दी ही यह हमेशा के लिए मनुष्य के हाथ से निकल जाएगा। फिर पूरी मानवता को इस लुप्त ज्ञान की भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। आखिरकार यह भी तो सम्पूर्ण मानवता की साझी धरोहर है।"

सन् 1960 के बाद के दशक में और सन् सत्तरादिक के आरंभ में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का ऐसा ही दया-भाव तीसरी दुनिया की वनस्पति-सम्पदा के लिए जागा था। उस समय इस दया और करुणा वाले मुखौटे के पीछे साजिश यह थी विकासशील देशों के पौध-आनुवंशिक संसाधनों को कब्जे में कर लिया जाए। हरित क्रांति के सुनहरे दिनों में अमरीका से उधार लिए गए "लैण्ड ग्राण्ट सिस्टम" को कृषि-शिक्षा, कृषि अनुसंधान और कृषि-प्रसार में लागू करते हुए हमसे यही कहा गया कि तुम्हारी वनस्पति-सम्पदा

केवल तुम्हारी नहीं पूरी दुनिया की धरोहर है। विकास की दौड़ में यह लुप्त हो जाएगी। इसे संकलित करने दो और जीन-बैंकों में रखने दो।

बीज बचाओ

फसलों की परंपरागत किस्मों के बीज बचाए नहीं गए तो नई किस्मों का प्रसार इन किस्मों को हमेशा के लिए खत्म कर देगा। यह तर्क हमें भी सही लगा। और हमने उनकी बात मानकर दूर-दूर तक बीज-संग्रह के अभियान चलाए। आदिवासियों और किसानों के बीच जा-जा कर दुर्गम स्थानों से भी परंपरागत फसलों के बीज इकट्ठे किए। उनकी खूबियों का पता लगाया, उन्हें सूचीबद्ध किया। फिर हमें बताया गया कि पूरे विश्व का भला इन बीजों से तभी होगा, जब इनको किसी एक जगह अंतर्राष्ट्रीय धरोहर के रूप में रखा जाये। उदाहरण के लिए दुनिया भर से धान की किस्मों के बीज इकट्ठे करके फिलिपीन्स में मनीला के पास लासबानुस में स्थित अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान (इर्री) के जीन बैंक में रख दिए गए। इसी तरह गेहूं और मक्का की तमाम किस्मों के बीज इकट्ठे करके मैक्सिको में स्थित अंतर्राष्ट्रीय मक्का और गेहूं अनुसंधान केंद्र (सिमिट) के जीन बैंक में जमा हो गए। बाकी फसलों के बीज 14 अन्य अंतर्राष्ट्रीय कृषि संस्थानों के जीन बैंकों में रखवा दिए गए। इस तरह तमाम जीन बैंकों में फसलों की हज़ारों किस्मों के बीज जमा होते चले गए और इनकी संख्या 60 लाख से ऊपर पहुंच गई। यह अब विश्व की साझी धरोहर है, ऐसा हमें समझाया गया।

अधिकार का सवाल

फिर कहा गया कि देखो ये बीज “इर्री” और ‘सिमिट’ के मनीला और मैक्सिको में स्थित जीन बैंकों में भी सुरक्षित नहीं हैं। क्या पता विश्व में फैले आतंकवाद के कारण कल कोई आतंकवादी गुट इन जीन बैंकों को बम से उड़ा दे और मानवता इन दुर्लभ बीजों से वंचित हो जाए। इसलिए ऐसा करें कि इन बीजों के नमूनों की एक खेप अमरीका में फोर्ट नॉक्स और फोर्ट कोलिंस में भी रख दी जाए। इस तरह अमरीका के इन जीन बैंकों में दुनिया भर से 6 लाख किस्मों के बीज इकट्ठे हो गए। यह विश्व का सबसे बड़ा बीज-संग्रह है। अमरीकी कृषि विभाग इसका संरक्षक है।

लेकिन हमने तो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के प्रस्तोता होने के नाते समस्त विश्व को एक परिवार का सदस्य मानकर अमरीका पर भरोसा किया और अपनी वनस्पति-सम्पदा से इकट्ठे किए गए सभी फसलों के बीज अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधानों की मार्फत अमरीका पहुंचाने पर कोई आपत्ति नहीं की। लेकिन उधर दुनिया के हालात तेजी से बदले और सन् 1992 में रियो में किए गए जैव विविधता संबंधी समझौते सी. बी. डी. (कन्वेंशन ऑन बायोलोजिकल डाइवर्सिटी) के तहत सभी देशों के पौध आनुवंशिक संसाधन उनकी अपनी सम्पत्ति माने गए। लेकिन अमरीकी कृषि विभाग के पास रखे गए बीज इस समझौते से बाहर रखे गए, नहीं तो जहां-जहां से इकट्ठे किए गए थे, उन्हें या तो वापस करने पड़ते या फिर उनके उपयोग से हुई कमाई में से रॉयल्टी या लाइसेंस फी देनी पड़ती या फिर कमाई का आधा हिस्सा। लेकिन अमरीका ने अभी तक सी. बी.

डी पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। इसलिए अमरीकी जीन बैंकों में जमा बीजों पर किसी भी देश का दावा नहीं माना जाएगा। चाहे वह राष्ट्रपति थॉमस जेफरसन द्वारा इटली से चुराए गए 'लम्बार्टी' धान के बीज हों या इरी के जीन बैंक की मार्फत अमरीका पहुँचे भारत के बासमती, हंसराज, काला नमक और बिंदी जैसी धान की सुगंधित किस्मों के बीज हों, अब उन सब पर अमरीका का अधिकार है। अब तो इनमें नए-नए जीन डालकर उन्हें पेटेंट कराने की कोशिश की जा रही है। बासमती का पेटेंट भले ही न ले पाएं हों, लेकिन अधिक उपज देने वाली बासमती किस्में अमरीका ने इन्हीं बीजों के इस्तेमाल से बना तो डालीं। अब वह चाहे दूसरे नाम से ही बेचे, इनको बेचकर अरबों डालर कमायेगा और उसमें से एक पाई भी भारत के उन किसानों को नहीं मिलेगी, जिन्होंने इन किस्मों को सदियों से संभालकर रखा।

सन् 1980 के दशक के शुरू में अमरीका में बसे अप्रवासी भारतीय वैज्ञानिक डा. आनंद चक्रवर्ती ने एक जीवाणु को पेटेंट कराके जीनों के पेटेंट का सिलसिला शुरू किया। उस समय तक अमरीका में 'जीन' को पेटेंट नहीं किया जा सकता था। अतः चक्रवर्ती महोदय को अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय तक मुकद्दमा लड़ना पड़ा। वे जीत गए। उन्होंने जीनियागरी से बैक्टीरिया में पेट्रोल का अपघटन करने वाला प्राकृतिक रूप में मौजूद वंशाणु दुगना बना कर स्यूडोमोनास की प्रजाति के इस जीवाणु की तेल खाने की क्षमता दुगनी कर दी थी। इस तरह इस जीवाणु से समुद्रों में फैला तेल या कहीं भी फैला तेल खत्म किया जा सकता था, ताकि प्रदूषण न फैले। जब डा. चक्रवर्ती को यह पेटेंट मिल गया तो अमरीका की बीज कंपनियों और बायोटेक कंपनियों का माथा ठनका कि इससे तो वे भी तमाम बीजों और जीवाणुओं और वंशाणुओं को पेटेंट करा सकती हैं। बस, यों समझिए कि भानमती का पिटारा खुल गया। अमरीकी जीन बैंक में तमाम फसलों के बीज मौजूद थे ही। बस उनमें नए-नए वंशाणु डालकर उन्हें पेटेंट कराने लगे।

अब इतनी विशाल वनस्पति सम्पदा में फसलें तो पहचानी हुई थीं, लेकिन और भी तमाम पौधे थे, जिनके गुणों के बारे में उन्हें कुछ भी पता नहीं था। लेकिन जिन देशों से यह वनस्पति-सम्पदा इकट्ठी की गई, वहां के आदिवासियों ने तो जंगलों का चप्पा-चप्पा छाना हुआ है। उन्हें जरूर पता होगा कि कौन-सा पौधा किस काम आता है। अगर पौधों का रासायनिक विश्लेषण करके सक्रिय यौगिक अलग करें और फिर परखें कि किस मर्ज में काम आ सकते हैं तो अंधेरे में लाठी चलाना होता। इस तरह पौधों के गुण पता करने में उन्हें सैकड़ों साल लग जाते। लेकिन परंपरागत ज्ञान इकट्ठा कर लिया जाए तो फौरन पता चल जाए कि हल्दी चोट और सूजन ठीक करने में काम आती है। जामुन और करेला मधुमेह के उपचार में उपयोगी हैं- वगैरह। इस तरह जिन पौधों के गुण पता चल जाएंगे, उनसे फिर सक्रिय यौगिक अलग करके उन्हें पेटेंट करा लेंगे और उनसे दवाएं बना-बना कर विकासशील देशों को ही बेचेंगे। जहां ये पौधे सदियों से सुरक्षित रखे गए और इस्तेमाल किए गए, उन्हीं देशों को इनसे निकली दवाएं बेच-बेचकर अमरीका और पश्चिमी देश मालामाल होते रहेंगे। अब तो पूरी दुनिया जैव-दस्युता (बायो-पाइरेसी) के खिलाफ इतनी चेत गई है कि केरल के जंगलों की मिट्टी चुराते या तितलियाँ ले जाते विदेशी वैज्ञानिक फौरन धर लिए गए।

इसलिए पश्चिमी देशों का कोई विश्वविद्यालय या संस्थान अनुसंधान के बहाने भी किसी विकासशील देश की जैव-विविधता में घुसपैठ करके कुछ नमूने ले जाना चाहे, तो अब मुश्किल में पड़ सकता है। इसलिए अब वे चाहते हैं कि यहीं के लोग उन्हें पका-पकाया ज्ञान दे दें।

अभिलेखन

जैव-दस्युता अब दूसरे रूप में चल रही है। वे स्थानीय वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं, स्वैच्छिक संगठनों और सरकारी संगठनों को उकसा रहे हैं कि आप परंपरागत ज्ञान को इकट्ठा करो। इसके लिए शोध के नाम पर अनुदान देने के लिए अनेक पश्चिमी संगठन तैयार हैं। जरा-सा शहद या गुड़ डालो तो चींटियां फौरन इकट्ठी हो जाती हैं। यहां तो टनों गुड़ पटका जा रहा है। अनेक संस्थाएं जैसे कि यूनाइटेड नेशंस डेवलपमेण्ट प्रोग्राम (यू. एन. डी. पी), अंकटाड (unctad), डिपार्टमेण्ट फॉर इण्टरनेशनल डेवलपमेण्ट (डी. एफ. आइ. डी.), स्वीडिश इण्टरनेशनल डेवलपमेण्ट एजेंसी (SIDA), कनाडियन इण्टरनेशनल डेवलपमेण्ट एजेंसी (CIDA), जर्मनी की 'जी टी जेड' इत्यादि और अन्य अनेक दानदाता संगठन परंपरागत ज्ञान के अभिलेखन के लिए अनुदान देने को तैयार बैठे हैं। भारत का विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डी. एस. टी.) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद (सी. एस. आइ. आर.) तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आइ. सी. ए. आर.) जैसे संगठन भी इस क्षेत्र में अनुसंधान के लिए वित्तीय सहायता देते हैं। इस ज्ञान को इकट्ठा करके आगे क्या किया जाएगा, यह कोई नहीं जानता। अचानक परंपरागत ज्ञान में हमारी इतनी गहरी दिलचस्पी क्यों पैदा हो गई है, यह भी कोई नहीं जानता। और इस ज्ञान का उपयोग कौन कर रहा है?

एकाधिकार

असल में जाने-अनजाने में हम सब लोग जैव दस्युता को बढ़ावा दे रहे हैं। और यह हम चोरी-छुपे नहीं कर रहे। खुल्लम-खुल्ला कर रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय संगठनों की सहायता से कर रहे हैं। हमें शायद पता भी नहीं है कि यह सारी जानकारी उन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास जा रही है, जो इसका व्यापारिक उपयोग करने के लिए बेचैन हैं। हम तो रिपोर्ट और किताबें या डेटाबेस बनाकर ही बस कह देंगे कि अब हमारा कार्य खत्म। दुनिया की आनुवंशिक सम्पदा को बटोरकर अपने जीन-बैंकों में जमा करने में पश्चिमी देशों को 30 साल लगे थे। लेकिन परंपरागत ज्ञान तो भारतीय संस्थाओं के डेटाबेसों से पलक झपकते ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों के डेटाबेसों में जा रहा है। कुछेक सालों में हमारे प्राचीन ग्रंथों में दर्ज ज्ञान ही नहीं, गांव-गांव जाकर इकट्ठा किया गया ज्ञान, आदिवासियों से ली गई जानकारी और प्राचीन पाण्डुलिपियों से अंग्रेजी में अनूदित जानकारी, सब की सब उनके पास पहुंच जाएगी। यानी यह सारा ज्ञान हमारे हाथ से निकल कर उनके पास पहुंच जाएगा। इस जैव-दस्युता में हम सब उनके साक्षीदार होंगे। हम तो हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे और

वे इस ज्ञान के आधार पर दवाएं और अन्य उत्पाद बनाकर हम ही को बेचेंगे। अस समय हमें यह भी मालूम नहीं पड़ेगा कि ये माल हमारी जानकारी के आधार पर बनाया गया है। जो यह मानते हैं कि इस ज्ञान से कुछ निकला तो हम उससे किसान समुदाय या आदिवासी गांव की पंचायत को रॉयल्टी दिलवाएंगे, वे यह भूल जाते हैं कि हमारे पास इसका कोई उपाय नहीं है कि किसने परंपरागत ज्ञान का क्या और कहां फायदा उठाया, इसका पता लगा सकें। हम तो अभी पश्चिमी जगत से आए उस नारे से भ्रमित हैं कि 'बौद्धिक सम्पदा के अधिकार' में विकासशील देशों के लिए अनेक 'चुनौतियां और अवसर' मौजूद हैं और अब विकासशील देशों के ऊपर है कि वे किस तरह इसका लाभ उठाते हैं।

जी हाँ, 'चुनौती' तो विकासशील देशों की जनता के सामने है कि जिन्होंने हमारी वनस्पति-सम्पदा हथियाली, उन जैवदस्युओं से अब हम अपने परंपरागत ज्ञान को किस तरह बचाएं और 'अवसर' उन अफसरों के लिए है, जो इस परंपरागत ज्ञान को बटोर कर पराये हाथों में सौंपने के बदले में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में ऊंचे वेतन वाले पद सुशोभित करेंगे।

जैवदस्युता से आंखें फेरना

हमारी जैवविविधता पर पूरी दुनिया की आंखें गड़ी हैं। न जाने क्या-क्या यहां से चोरी हो गया, इस जैवदस्युता का हमें कोई अनुमान भी नहीं है। फिर भी हम इतने लापरवाह हैं कि भारत की जैवविविधता की रक्षा के लिए बनाये जा रहे कानून के बीसियों मसौदे, बीसियों कमेटियों में विचार के लिए रखे-रखे, इस मेज से उस मेज, इस विभाग से उस विभाग और इस मंत्रालय से उस मंत्रालय धकेले जा रहे हैं। इसकी जिम्मेदारी है पर्यावरण और वन मंत्रालय पर। लेकिन जब से इस विभाग पर नौकरशाही की मेहरबानी हुई है और सचिव स्तर के पद वैज्ञानिकों से छीने गए हैं, तब से इसकी कार्यशैली घोर अवैज्ञानिक हो गई है। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर आज पर्यावरण सबसे बड़ा मुद्दा है और एकाध अपवाद को छोड़ दें, तो अधिकतर 'आइ. ए. एस.' तो यह भी नहीं जानते कि इकोलोजी की दुनिया में 'आइ. ए. एस' का मतलब है- इनवेजिव एलियन स्पीशीज- यानी बाहर से आकर घुसपैठ करने वाली आक्रामक प्रजाति। भारत के वन और पर्यावरण मंत्रालय में घुसपैठ करने वाले भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकतर अधिकारियों पर यह बात पूरी तरह चस्पां होती है। ऐसी ही आक्रामक प्रजातियां जैवविविधता की रक्षा के लिए बनाये जा रहे अधिनियम को गेंद की तरह उछालकर इस पाले से उस पाले में फेंकती रही हैं। उधर हमारी प्राकृतिक सम्पदा से छांट-छांट कर नीम, हल्दी और बासमती इत्यादि को पेटेन्ट कराने की साजिशें चलती रहीं और इधर हम अपने जैवविविधता कानून की फाइल पर लेटे-लेटे खर्चाते मारते रहे।

बहुराष्ट्रीय बायोटेक कंपनियों को पता है कि उनकी जैव प्रौद्योगिकी के लिए कच्चा माल तो भारत जैसे विकासशील देशों की जैवविविधता से ही मिलेगा। तभी तो दवा-कंपनियां छोटे-छोटे देशों को फुसलाकर उनके जंगल के जंगल पट्टे पर लेकर

छान रही हैं कि उनमें ऐसे पौधे मिल जाएं, जिनमें जड़ी-बूटियों की खूबियों की खूबियां हों। फिर भारत के पास तो दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी विशाल जैवविविधता है। पौधों की 45,000 प्रजातियां हैं, तो प्राणियों की 75,000, जिसमें सूक्ष्मजीव भी शामिल हैं। इस विशाल जैव-संपदा में से क्या-क्या विदेशी ले उड़े, यह किसी को नहीं पता।

जैवदस्युता के प्रकोप से बेखबर भारत का पर्यावरण और वन मंत्रालय अंधेरे में तीर चलाने में दक्ष हैं। सने बहुत सारा समय एक राष्ट्रीय जैव विविधता कार्ययोजना बनाने में लगा दिया क्योंकि उसके लिए बाहर से डालर मिल गए थे। इसमें खास तौर से यह पता करना है कि हमारे देश में कहां, क्या है? यह कार्ययोजना गैर सरकारी संगठनों की वजह से ठीकठाक चल रही है। कहीं सरकार खुद ही जिम्मेदारी संभालती तो इसका भी भट्टा बैठ जाना था। इसके बाद बचा थोड़ा-बहुत समय 'जैवविविधता-अधिनियम', 'बायोलोजिकल डाइवर्सिटी एक्ट' बनाने पर सोच-विचार के लिए दिया गया। हालांकि इसमें इतना समय खपाने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि हमारे पास सी. बी. डी. यानी 'कन्वेंशन ऑन बायोलोजिकल डाइवर्सिटी' के रूप में जैवविविधता के अंतर्राष्ट्रीय समझौते का बड़ा उपयोगी और महत्वपूर्ण दस्तावेज मौजूद है। इसमें किसी देश की सीमा के भीतर मौजूद जैव सम्पदा पर उसी देश की सम्प्रभुता मानी गई है। बिना उसकी इजाजत के इस जैव सम्पदा का कोई अन्य देश किसी भी रूप में इस्तेमाल नहीं कर सकता।

यह भी आश्चर्य की बात है कि जिस देश की जैवविविधता का अधिकांश पौधों की उन किस्मों और जंतुओं की उन नस्लों से संबंधित है, जो केन्द्रीय कृषि मंत्रालय के कार्य-क्षेत्र आते हैं और जो भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के लिए बड़े महत्व के हैं, उसके बारे में कानून बनाने की जिम्मेदारी केन्द्रीय पर्यावरण और वन मंत्रालय को सौंप दी गई है। यही कारण है कि इसके शुरू के मसौदों में उन किसानों के अधिकार की कोई चर्चा ही नहीं थी, जो सदियों से इस देश की जैवविविधता के रखवाले रहे हैं। इसलिए यह काम तो भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद को सौंपना था, लेकिन सरकार तो नौकरशाह चला रहे हैं, जिनमें से अधिकतर के लिए देश हित के मुद्दों का कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो बस अपनी कुर्सी और पदोन्नति की चिंता रही है और वे हर विभाग को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करते हैं। जहां पर ऊपर चढ़े कि सीढ़ी फेंकी। अंग्रेजों के दिए इस शासनतंत्र से जितनी जल्दी यह देश पिण्ड छुड़ा ले, उतना ही अच्छा। कम से कम वैज्ञानिक और तकनीकी विभागों में तो प्रशासनिक सेवा के कला-स्नातकों के घुसने पर पाबंदी होनी चाहिए। ये वैज्ञानिकों से चिढ़ते हैं और उनके लिए मुसीबतें पैदा करते रहते हैं।

अगर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आइ. सी. ए. आर) और वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद (सी. एस. आइ. आर.) जैसे वैज्ञानिक संगठन न होते, तो न जाने कितनी जैव सम्पदा हमारे हाथ से निकल जाती। ये संगठन हैं जो जैवदस्युओं पर निगाह रखे हुए हैं और जिसने भी हमारी जैव सम्पदा चुराने की कोशिश की, उसकी इन्होंने अच्छी खबर ली। अमरीका द्वारा बासमती की चोरी, हल्दी की चोरी, आस्ट्रेलिया द्वारा अरहर की चोरी और तमाम बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा सरसों, इमली, अमलतास,

आंवला आदि की चोरी रोकने में हमारे वैज्ञानिकों ने ही पहल की। नौकरशाह तो इस देश को नीलाम करने के लिए बैठे हैं। पर्यावरण और वन मंत्रालय की इसमें कोई भूमिका नहीं रही। अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलनों में भाग लेने के लिए विदेशी दौरे करने और वहां की बैठकों में जैसा बड़े देशों ने कहा, वैसा करने के लिए अपनी मुंडी हिला देने के सिवा बेचारे एम. ई. एफ. (मिनिस्ट्री ऑफ एन्वायरनमेण्ट एण्ड फॉरेस्ट्स) ने कुछ नहीं किया। जो भी अच्छा काम हुआ, वह तभी हुआ जब तक यह मंत्रालय वैज्ञानिकों के हाथ में था। उसके बाद तो एक मीठी नींद और खर्राटों की आवाज ही पर्यावरण भवन से आती रही। अनेक मंचों से बताया जाता है कि क्या किया जाए, लेकिन उनकी सिफारिशें 'एम. ई. एफ. के नौकरशाह ठंडे बस्ते में डालकर भूल जाते हैं।

उधर बाहर के देश हमारी इस शिथिलता और सुस्ती का पूरा फायदा उठा रहे हैं। किसी न किसी बहाने से जब तक कानून नहीं है, तब तक भारत की जैवविविधता में से जितना मार सको, मार लो, उनकी रणनीति यही है। यहां से ले जाई गई पौध-सामग्री में बाहरी वंशाणु डालकर वे उस पौधे को अपना 'अविष्कार' बताने लगते हैं। उसे पेटेण्ट कराने की कोशिश करते हैं। हमारा 'राष्ट्रीय जैवविविधता अधिनियम' बने या न बने सजीव वस्तुओं को पेटेण्ट कराने का कानून तो विश्व व्यापार संगठन की बदौलत सन् 1999 के अंत से लागू हो गया और हमें भी मानना पड़ेगा। इस कानून का सबसे बड़ा नुकसान भारत-जैसे जैवविविधता सम्पन्न देश को ही होने वाला है। हमारे यहां पेड़-पौधों से लेकर सूक्ष्मजीवों तक विशाल जैव विविधता बिखरी हुई है, जो कि ऊंचे पर्वतों पर बर्फ जमाने वाले शून्य से नीचे के तापमान से लेकर राजस्थान के 50 डिग्री सेल्सियस से ऊंचे तापमान तक विविध प्रकार की जलवायु में पनप रही है। हमें भी अपने जैवविविधता कानून में सूक्ष्मजीवों को शामिल करना चाहिए।

हमारे देश में जो मसौदा बनाया गया, उसमें जैवविविधता के इस्तेमाल के ही नियम बनाए गए हैं। अनुसंधान संस्थान अगर इस सामग्री का उपयोग करना चाहते हैं तो उन्हें केन्द्रीय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के साथ समझौता करना पड़ेगा। हमारे पौधों या प्राणियों से कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसका व्यापारीकरण किया जा सके, तो उसके लिए भी इस मंत्रालय से इजाजत लेनी होगी। इस तरह यह सारा मामला नौकरशाही की मुट्ठी में रहेगा, जो ऐसी मुट्ठी है कि गरम करते ही खुल जाती है। जैवविविधता की रक्षा के लिए राष्ट्रीय पौध आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो (एन. बी. पी. जी. आर.), बॉटनीकल सर्वे ऑफ इण्डिया और जूलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया जैसी वैज्ञानिक संस्थाओं ने पहले ही ऐसे नियम बनाए हुए हैं जो बाहर से सजीव वस्तुएं लाने और यहां से ले जाने - दोनों पर लागू होते हैं। जिसने भी इन संस्थाओं से संपर्क किया है, उसे पता होगा कि अनुसंधान के लिए एक नमूना लेने में भी कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं। अब ये अधिकार मंत्रालय के अधिकारियों के पास होंगे, जहाँ वैज्ञानिक चक्कर ही काटते रहेंगे।

खासतौर से दुनिया भर में उभरते बायोटेक-उद्योग की दृष्टि से हमें अपनी जैवविविधता के संरक्षण पर विशेष ध्यान देना होगा। सबसे पहली बात है कि हमारे देश की

भौगोलिक सीमा के अंदर जो भी है, वह हमारे देश का है, यह बात कानूनी तौर पर लागू होनी चाहिए। इसके लिए हमें भी वही करना होगा जो आस्ट्रेलिया, फिलिपीन्स और ईक्वाडोर— जैसे देशों ने किया है। इन देशों ने अपने संविधान में ही यह धारा डाल दी है, जो उन्हें अपनी सम्पूर्ण जैव सम्पदा पर मालिकाना हक देती है। भारत के संविधान की धारा 39 (बी) में यह प्रावधान है कि देश के भौतिक संसाधनों का समता पूर्ण वितरण हो और उत्पादन के साधन तथा उनसे होने वाली समृद्धि कुछ समुदायों या व्यक्तियों में इकट्ठी न हो जाए। इसका फायदा उठाकर हमें ऐसा कानून बनाना चाहिए था, जिससे चंद निजी कंपनियां हमारी जैव विविधता को हड़प न जाएं।

पेटेंट के कानून लागू रहने की अधिकतम अवधि 20 साल की है। लेकिन मालिकाना हक का कानून बनाया तो वह हमेशा लागू रहेगा। हमें यह देखना होगा कि बौद्धिक सम्पदा के अधिकार को लेकर बायोटेक—कंपनियों को फायदा पहुंचाने की जो अंतर्राष्ट्रीय साजिश चल रही है उसकी काट हमारा कानून पूरी तरह करे। अभी तक तो हमारे देश में यह भी तय नहीं है कि कोई हमारी अनूठी जैव—सम्पदा में से किसी पौधे, प्राणी या सूक्ष्मजीव का इस्तेमाल करना चाहे तो हम उससे क्या कीमत वसूल करेंगे। यही नहीं अगर उसमें से कुछ ऐसी चीज निकल आए जो बाजार में बेची जा सके, तो उसकी बिक्री का एक हिस्सा हम रॉयल्टी के रूप में भी वसूल सकते हैं। यह बात हमारे पेटेंट—कानून में साफ—साफ शामिल की जानी चाहिए थी।

आस्ट्रेलिया ने अपने कानून में यह प्रावधान किया है कि अगर कोई उसकी जैव—सम्पदा से कुछ व्यापारिक वस्तु निकालकर बेचता है, तो उसकी बिक्री का 7 प्रतिशत हिस्सा, उसे रॉयल्टी के रूप में आस्ट्रेलिया की सरकार को देना पड़ेगा। अमरीका का कानून तो इतना कड़ा है कि कोई भी उसकी जैवसम्पदा पर उसके मालिकाना हक का हनन करे तो उसे जासूसी के आरोप में दबोचा जा सकता है। भारत एक सम्मानित प्रभावशाली राष्ट्र के रूप में रीढ़ सीधी करके खड़ा होना कब सीखेगा?

पेटेंटों की आड़ में दादागीरी

पश्चिम में एक कोई संत वेलेंटाइन हुए हैं जिनके नाम पर आर्कीज नामक बहुराष्ट्रीय कंपनी किशोर और किशोरियों को बहकाकर अपने कार्ड बेचती है और करोड़ों का मुनाफा कमाती है। इन पंक्तियों को लिखते समय पश्चिम के कैथोलिक सम्प्रदाय में पादरियों की प्रेम—लीलाओं को लेकर अफरा—तफरी मची हुई थी। लेकिन 'वेलेंटाइन डे' का फायदा उठाकर बैंगलोर के कुछ उत्साही पुष्प विक्रेताओं ने अपने गुलाब पेरिस में बेचने चाहे तो 'वेलेंटाइन डे' बनाने वाले इस देश की बेवफाई सामने आ गयी। बैंगलोर से हवाई जहाज 41000 गुलाब लेकर उड़ा था और उसे बैरग वापस आना पड़ा। यही नहीं नीदरलैंड्स, जर्मनी और फ्रांस की कई नामी फूल कंपनियों ने धमकी भी दे डाली कि वे भारत को गुलाबों की नई किस्मों की पौध नहीं देंगी। इस तरह पता चल गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों से होड़ करना कितना टेढ़ा काम है। उनके हाथ बहुत लंबे हैं।

इन कंपनियों ने दलील यह दी कि भारत से भेजे गए गुलाब जिन किस्मों के थे उनके पेटेण्ट इन कंपनियों के पास हैं। इसलिए भारतीय कंपनियां इन गुलाबों का व्यापार नहीं कर सकती। गनीमत है कि जापान ने उस 'बोने जीन मोरिन-10' को पेटेण्ट नहीं कराया था और न मैक्सिको में स्थित अंतर्राष्ट्रीय गेहूं और मक्का अनुसंधान केन्द्र ने, नहीं तो भारत से निर्यात किया गया गेहूं भी वापस आ जाता कि इसका तो पेटेण्ट हमारे पास है। कृषि-व्यापार में अडंगा लगाने के लिए पेटेण्ट कानूनों के दुहाई देना 'गुलाब-काण्ड' से पहले से चला आ रहा है। भारतीय फूल-उद्योग से पहले अन्य देश इसका कडुआ घूंट पी चुकी है। सन् 1994 में अर्जेन्टिना से भेजी गई स्ट्राबेरी को खेप यूरोपी संघ ने रोक दी थी। कारण यह था कि अर्जेन्टिना की स्ट्राबेरी यूरोप की स्ट्राबेरी से होड़ कर रही थी। यूरोपी स्ट्राबेरी की किस्में असल में अमरीका में विकसित की गई थीं। लाइसेंस फी लेकर उन्हें पैदा करने के अधिकार अमरीकी कंपनियों ने यूरोपी कंपनियों को बेच दिए। अब वही स्ट्राबेरी अर्जेन्टिना ने उगाकर यूरोप में बेचनी चाही तो यूरोपी कंपनियों को लगा कि उनका स्ट्राबेरी व्यापार ठप्प हो जाएगा। चट से उन्होंने पेटेण्ट कानून और 'ट्रिप्स' का सहारा लिया और छोटे और गरीब देश अर्जेन्टिना को नुकसान पहुंचाने में यह कंपनियां ज़रा भी नहीं हिचकीं। स्ट्राबेरी की इस किस्म के पौधे मूलतः यूरोप की कंपनियों ने ही अर्जेन्टिना को भेजी थीं। जाहिर है कि मुफ्त में तो नहीं दी होंगी। लेकिन उसी स्ट्राबेरी को अर्जेन्टिना के किसानों ने बेचना चाहा तो उन पर पेटेण्ट कानून थोप दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय कृषि-व्यापार की गाजर दिखाकर जो भारतीय किसानों को ललचा रहे हैं कि तुम भी उनकी तरह मालामाल हो जाओगे उनके लिए बंगलौरी गुलाबों की पेरिस से वापसी एक अच्छा सबक रहा। हमारे यहां हर चीज सस्ती पैदा की जाती है इसलिए भारतीय गुलाबों के दाम फ्रांस की कंपनियों के गुलाबों से बेहद सस्ते रहे होंगे। फिर भला वे भारतीय कंपनियों को अपने पेट पर क्यों लात मारने देते। फ्रांसीसी कंपनियों ने तो भारतीय 'गुलाबों' को नकली ही बता दिया। मानो वे कागज या प्लास्टिक के बने हों। जब इन कंपनियों ने भारतीय कंपनियों की इन गुलाबों की पौध बेची थी तब भी उन्हें पता तो होगा कि भारत में बीज और पौध पेटेण्ट नहीं किए जाते। तब तो उन्हें मुनाफा कमाना था। और अब जब भारतीय कंपनियों की मुनाफा कमाने की बारी आयी तो वे बिदक गईं। पहले इन्हीं विदेशी कंपनियों ने भारतीय पुष्प-उत्पादकों को बहकाया था कि 'तुम हमारे दिए फूल उगाओ हम तुम से खरीद लेंगे।' लेकिन इनकी कथनी और करनी में कितना फर्क है, यह इस गुलाब-काण्ड से साफ हो गया।

वैसे भी यूरोपी देशों ने भारत से भेजे जाने वाले फल-फूलों पर 14 प्रतिशत की कस्टम ड्यूटी लगा रखी है। वे नहीं चाहते कि भारत अपना माल इन्हें बेचे। वे चाहते थे कि या तो और देशों में खपाएं या फिर अपने देश में ही बेचें। लेकिन जब भारतीय पुष्प विक्रेताओं ने उनके ही बाजार में उनके सामने खड़े होने की जुर्रत कर डाली तो उनके कान खड़े हो गए। इसीलिए उन्होंने भारतीय गुलाब-व्यापार की उभरती कलियों को खिलने से पहले ही नोच डाला। इसके लिए 'आई. पी. आर.' और 'ट्रिप्स' की धाराएं इस्तेमाल कीं। अब वे कहां हैं जो कहते थे कि बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों का हम भी फायदा उठावेंगे। उल्टे हमने सन् 1988 में राष्ट्रीय बीज नीति में ढील देकर बाहर

से बीज और पौधे मंगाने के रास्ते खोल दिए। गुलाबों की यूरोपी कलमें उन्हीं दिनों भारत में आई थीं।

यूरोप के पुष्प-उत्पादकों ने एक सोची-समझी रणनीति के तहत अपना पुष्प व्यापार बचाने के लिए ही भारत को अपनी किस्मों की पौध और बीज बेचे थे। वहां सघन पुष्प-कृषि ने उनकी जमीनें चौपट कर दी हैं। कीटनाशियों और रासायनिक उर्वरकों ने यूरोपी देशों की फूल उगाने में काम आ रही जमीनों को बेजान बना दिया है। उनका भू-जल भी इस प्रदूषण से ग्रस्त है। तमाम तरह की स्वास्थ्य समस्याएं उठ रही हैं। इसलिए फूल उगाने में अग्रणी हालैण्ड (नीदरलैंड्स), जर्मनी और फ्रांस जैसे यूरोपी देशों ने सोचा कि फूल बेचो, मगर उगाओ कहीं और जैसे कि भारत में। भारत तो विदेशी पूंजी निवेश के लिए लार टपकाता ही रहता है, सो यूरोपी फूल-उत्पादकों को भारत को बहकाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उनके लिए भारत में फूल उगाने के सौदे हुए जो एक तरह से भारत की मिट्टी और पानी को प्रदूषित करने के सौदे थे। इसीलिए यूरोपी पुष्प-व्यापारियों ने अपनी किस्मों भी दीं और फूल उगाने के लिए आवश्यक ढांचा खड़ा करने में भी भारतीय कंपनियों की मदद की।

वे तो यह चाहते थे कि भारतीय व्यापारी बस फूल उगाएं और सस्ते दामों पर उन्हें ही बेच दें, ताकि अंतर्राष्ट्रीय मण्डी में ये फूल उन्हीं के नाम से बिकें और उस बिक्री का मुनाफा वे ही कमाएं। जब भारतीय फूल-व्यापारी अपना माल लेकर खुद बेचने जा पहुंचे तो उन्हें अखरा। फूलों की खेती असल में खाद्य-सुरक्षा को विनाश के कगार पर पहुंचाने का आत्मघाती कदम है। हर हफ्ते दो बार तो कीटनाशी दवा छिड़कनी होती है। 47 टन से अधिक रासायनिक उर्वरक प्रति हैक्टेयर डालने होते हैं। साथ ही 108 टन प्रति हैक्टेयर खाद भी। इसके अलावा प्रति हैक्टेयर 212 एकड़ इंच पानी देना पड़ता है जो कि अनाज वाली फसलों से चौगुना है। इस तरह फूलों से डालर कमाने का लालच देने वाले यह भूल जाते हैं कि फूलों की खेती की बड़ी भारी कीमत पर्यावरण को प्रदूषित करने के रूप में चुकानी पड़ती है। मिट्टी का कचूमर ही निकल जाता है। उसकी बनावट बदल जाती है। पानी नीचे चला जाता है और प्रदूषित हो जाता है। इससे पीने का पानी भी प्रभावित होता है। फूल उगाने की आर्थिकी भी आंखें खोलने वाली हैं। बंगलौर में ही स्थित कृषि विज्ञान विश्वविद्यालय (यू ए एस) के दो वैज्ञानिक - डा. टी. एन. प्रकाश और डा. तेजस्विनी ने पता लगाया कि एक हैक्टेयर गुलाब उगाने पर जो पूंजी निवेश और आदान लगाने पड़ते हैं वही एक हैक्टेयर अनाज उगाने पर लगाये जायें तो 4,274 टन अतिरिक्त अनाज पैदा होगा और 2 लाख श्रम-दिवस के बराबर रोजगार अर्जित होगा। जबकि एक हैक्टेयर में उगाए गए गुलाबों को बेचकर बाहर से अनाज मंगाएं तो केवल 1256 टन अनाज मिल पाएगा। इस तरह आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से गुलाब की जगह गेहूं उगाना अधिक श्रेयस्कर है।

9. पेटेण्ट से अनजान हिन्दुस्तान

भारत सरकार ने अपने पेटेण्ट कानून को बदल तो लिया है, लेकिन आम भारतीय या हमारे आम व्यापारी भी पेटेण्ट कानूनों के बारे में बहुत अनजान हैं। यह अज्ञान विश्व के वर्तमान परिदृश्य में बड़ा मंहगा पड़ सकता है। क्योंकि पूरी दुनिया में बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों की रक्षा का मुहिम चल पड़ा है। हमारे वैज्ञानिकों और आविष्कारकों में भी वैज्ञानिक सम्पदा के अधिकारों की रक्षा कैसे की जाए इसके बारे में विशेष जानकारी का अभाव है। जबकि पश्चिम में सरकारी और निजी वैज्ञानिक संस्थाएं इस बारे में पूरी तरह सचेत हैं। भारत में इस बारे में कुछ छुटपुट तैयारी तो शुरू की गई लेकिन कुल मिलाकर न तो हम इस बारे में जन-चेतना जगा पाए हैं और न पूरी तैयारी कर पाएं हैं। इसलिए भारतीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और अर्थव्यवस्था के सामने यह एक बड़ी चुनौती है कि पेटेण्ट व्यवस्था का लाभ उठाकर बौद्धिक सम्पदा के अधिकार की रक्षा कैसे करें।

चाहे आविष्कार हो या खोज या फिर किसी परंपरागत ज्ञान की वैज्ञानिक पुष्टि, पूरी दुनिया में बौद्धिक सम्पदा के अधिकार में शामिल की जाने योग्य किसी भी वस्तु को पेटेण्ट कराने की एक तरह की छीना-झपटी चल पड़ी है। कुछ देश अच्छी तरह जानते हैं कि पेटेण्टों की गुणवत्ता की बजाय उनकी संख्या का ज्यादा महत्व है। तभी तो चीन ने 90,000 से अधिक पेटेण्ट ले लिए हैं जबकि भारत के कुल पेटेण्टों की संख्या दुनिया भर में मात्र 3500 है। एक तरह की अंधी दौड़ चल पड़ी है जिसमें देसी पेड़-पौधे, जीव-जंतु, यहां तक कि सूक्ष्मजीवों को भी बेरोकटोक पेटेण्ट किया जा रहा है और इस तरह पेटेण्ट की यह जानी मानी शर्त कि कुछ नया हो, अनूठा हो और जाना-पहचाना न हो – भुला दी गई है।

अब तो भारत ने भी सन् 1970 के पेटेण्ट कानून को बदल कर सूक्ष्मजीवों को पेटेण्ट करना स्वीकार कर लिया है। जाहिर है कि यह डब्ल्यू टी ओ के दबाव में किया गया है। नए कानून में 'प्रक्रिया' (प्रोसेस) की जगह 'प्रोडक्ट' को पेटेण्ट करना स्वीकार कर लिया है। इस तरह बहुराष्ट्रीय दवा कंपनियां खुश हो गई हैं, क्योंकि पहले हमारी भारतीय दवा कंपनियां 'प्रक्रिया' में हल्का सा फेर-बदल कर किसी भी दवा को बना लेती थीं और बेहद सस्ते दामों पर बेच लेती थीं। लेकिन अब वे वैसा नहीं कर पाएंगी और बहुत सी छोटी-मोटी दवा कंपनियां तो बंद ही हो जाएंगी।

प्रौद्योगिकी में समृद्ध देश जैव-प्रौद्योगिकी की बारीक तकनीकों अपनाकर पहले ही मानव-कोशिकाओं, नए-नए डी.एन.ए. खण्डों और वंशाणुओं तक को पेटेण्ट करने में तनिक भी नहीं हिचकिचा रहे। मानव क्लोनिंग पर तो अमरीका पाबंदी लगा चुका है, लेकिन उसकी तकनीक को पेटेण्ट कराने वालों पर उसने कोई पाबंदी नहीं लगाई।

ऐसे समय में हमें अपनी पेटेण्ट-व्यवस्था में वैसा ही परिवर्तन लाना होगा, जैसा परमाणु अनुसंधान और अंतरिक्ष अनुसंधान में लाया गया है। अभी हमारी सम्पूर्ण पेटेण्ट-व्यवस्था सड़े हुए सरकारी तंत्र की तरह अत्यंत धीमी गति से रेंग रही है। 30,000 से अधिक पेटेण्ट आवेदन पेटेण्ट के दफतर में न जाने कब से फाइलों में पड़े उस दिन का इंतजार कर रहे हैं, जब उन पर फैसला होगा। उधर चीन ने एक गगनचुंबी इमारत बनाकर उसमें अत्यंत आधुनिकीकृत पेटेण्ट-कार्यालय बना लिया है। इस तरह तो हम पेटेण्ट के लिए धक्कम-धक्का में लगी दुनिया का कभी भी मुकाबला नहीं कर पाएंगे। सबसे पहले यह जरूरी है कि इस काम में आधुनिक व्यवसाय-प्रबंध में कुशल युवाओं को लगाया जाए और भारतीय प्रशासन सेवा के उन यथास्थितिवादियों के चंगुल से पेटेण्ट कार्यालय को मुक्त किया जाए, जिन्हें हर मुद्दे को टालना तो आता है, उससे निपटना न तो आता है और न वे सीखना चाहते हैं। उधर राजनेताओं को भी उधर ध्यान देने की फुर्सत नहीं है और वैज्ञानिक अपने अनुसंधान को प्रकाशित करने के बाद इतिश्री करने की पुरानी परंपरा आज भी निभा रहे हैं। जबकि पश्चिमी देशों में अनुसंधान से जो भी निकला उसे पेटेण्ट कराने और उसके व्यापारीकरण के लिए किसी कंपनी से गठजोड़ करने या खुद अपनी कंपनी खोलने की वैज्ञानिकों को पूरी छूट है और उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

इसलिए अभी इस बात की आवश्यकता है कि समाज के सभी वर्गों में पेटेण्ट क्या होते हैं, दुनिया के बड़े देशों के पेटेण्ट कानून क्या हैं, हमारा नया पेटेण्ट-कानून क्या है, नई सूझ-बूझ करने वाले उसका कैसे फायदा उठा सकते हैं, कोई पेटेण्ट कानून तोड़े तो उसकी सजा क्या है, वगैरह तमाम बातों के बारे में जनता को नीति-निर्माताओं को, राजनेताओं को, प्रशासकों और वैज्ञानिकों को बताया और समझाया जाए।

बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों को लेकर पूरी दुनिया में भारी बदलाव आया है और आ रहा है। पश्चिम में तो वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान भी या तो निजी कंपनियों ने खरीद लिए हैं या फिर वे खुल्लम-खुल्ला उनकी पूंजी से उन्हीं के लिए काम कर रहे हैं। इसीलिए वे नई पेटेण्ट व्यवस्था से पूरी तरह परिचित हैं और उसका पूरा फायदा उठा रहे हैं। अधिकतर संस्थानों ने पेटेण्ट कानून के जानकारों को सलाहकार के तौर पर नियुक्त कर लिया है या फिर कानूनी सलाह देने वाली कंपनियों को ठेका दे दिया है। वे जब अनुसंधान में सहयोग के लिए करारनामों करते हैं तो इस तरह की शर्तें लागू करते हैं कि सहयोगी अनुसंधान से कुछ काम की चीज निकली तो उसका वे पूरा फायदा उठावें। अक्सर इस बारे में विवाद के निपटारे के लिए वे अपने देश की अदालतों में ही मुकदमा चलाने की शर्त रखते हैं, जिसे हमारे नौकरशाह विदेश घूमने के लालच में ज्यों का त्यों मान लेते हैं। जबकि पश्चिम की एक यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूजर्सी का ही उदाहरण लें, तो रूटगर्स में स्थित इस विश्वविद्यालय ने अलग से एक

कार्यालय बनाया है – 'कोर्पोरेट लिएज़न एण्ड टेक्नोलॉजी ट्रांसफर' का। इसमें अतिरिक्त कर्मचारी नियुक्त किए गए हैं। यहां छह लोग काम करते हैं जो वैज्ञानिकों को पेटेन्ट के आवेदन देने में मदद करते हैं। एक और अमरीकी विश्वविद्यालय में तो लाइसेंस-फी और रॉयल्टी से कमाई की इतनी उम्मीद है कि वहां दस वैज्ञानिकों पर एक पेटेन्ट विशेषज्ञ नियुक्त किया गया है।

कौन सा भारतीय विश्वविद्यालय या इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी ऐसा है जिसने पेटेन्ट के लिए कोई वकील, एडवोकेट या अटोर्नी नियुक्त किया हो? शायद एक भी नहीं। नौकरी से जुड़े मुकदमे लड़ने के लिए जो कानून-एकांश कुछ वैज्ञानिक संगठनों में बने हैं, वे कर्मचारियों की पदोन्नति, भ्रष्टाचार और पेंशन वगैरह के मुकदमें लड़ने में ही सक्षम हैं। बौद्धिक सम्पदा के अधिकार और पेटेन्ट से उनका कोई सरोकार नहीं है।

उधर चीन ने पूरे देश में पेटेन्ट-शिक्षण के लिए 1500 केन्द्र खोल दिए हैं। चीन का पेटेन्ट कार्यालय 23 मंजिल की इमारत में स्थित है और पूरी तरह कंप्यूटरीकृत है। भारत का पेटेन्ट कार्यालय दिल्ली के किसी कोने में स्थित है और किसी कस्बाई सेल टैक्स या एक्साइज़ के दफ्तर जैसा ही धूल खाती फाइलों से लदा पड़ा है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने 'पेटेन्ट फेसिलिटेटिंग सैल' खोले तो हैं, लेकिन ये 'पेटेन्ट सुविधा एकांश' कितनी सुविधा प्रदान करते होंगे, इसमें संदेह है। क्या ये निगरानी कर रहे हैं कि दुनिया भर में भारतीय जैवविविधता से या परंपरागत ज्ञान से जुड़े पेटेन्ट कौन-कहां ले रहा है? वाणिज्य मंत्रालय ने 50 करोड़ रूपये की राशि से भारतीय पेटेन्ट कार्यालय को आधुनिकीकृत करने का फैसला किया है। यह फैसला फाइलों से निकलकर जब जमीन तक पहुंचेगा तब तक तो हमारी हजारों चीजें, खोजें और पेड़-पौधे वगैरह दूसरे देशों में पेटेन्ट हो चुकेंगे। यह धन राशि चीन के मुकाबले वहां के पेटेन्ट कार्यालय के अध्यक्ष के पांवों के धूल भी नहीं है। ऊपर से हम दुनिया का मुकाबला करने का बड़बोलापन जताने से नहीं चूकते।

ब्रिटेन ने इसके लिए एक नायाब तरीका अपनाया है, जो बड़ा सफल सिद्ध हुआ है। एक अंतर्राष्ट्रीय पेटेन्ट लेने में सिर्फ आवेदन-पत्र तैयार करने और उसे दाखिल करने में 10,000 से 20,000 डालर का खर्चा होता है। फिर उस पेटेन्ट की रक्षा पर पेटेन्ट की उम्र के हिसाब से लगभग 2,50,000 डालर और रख लीजिए। इसके लिए ब्रिटेन की सरकार ने अलग से एक कंपनी 'ब्रिटिश टेक्नोलॉजी ग्रुप' बना ली थी। इसका उद्देश्य यही है कि ब्रिटेन में कहीं भी कोई नई प्रौद्योगिकी विकसित हो तो उसका तुरंत व्यापारीकरण कर लिया जाए। यह कंपनी नयी नहीं है। पिछले 50 वर्षों से यही काम कर रही है। इसके पास 9000 पेटेन्ट हैं। जब पता किया तो 1300 आविष्कारों के पेटेन्ट आवेदन आए हुए थे। इसने 470 के करीब लाइसेंस समझौते कर रखे थे। यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटेन, अमरीका और जापान में स्थित अपने कार्यालयों से सारा काम चलाती है। हमारे यहां नई दिल्ली के ग्रेटर कैलाश में टूटी-फूटी कारों की मरम्मत और अनिधिकृत डेरियों के जानवरों के गोबर-मूत्र से घिरे जमरूदपुर गांव के एक कोने में कम्प्यूनिटी सेंटर में स्थित 'नेशनल रिसर्च डेवलपमेंट कोर्पोरेशन' वैज्ञानिक

संस्थाओं से निकली प्रौद्योगिकी को पेटेंट करने का काम करता है – किसी भी अन्य सरकारी दफ्तर की तरह। इसका अपना कार्यालय अलग से बन रहा है, न जाने कब से। क्या इसे सरकार नई चुनौतियों का सामना करने लायक ढांचा खड़ा करने के लिए पर्याप्त पूंजी और सुविधाएं तथा स्वतंत्रता देगी?

हमारे सांसदों को भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। उदाहरण के लिए यूरोप में जब जैवप्रौद्योगिकी के नए आविष्कारों से नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठे तो उन तमाम मुद्दों को यूरोप की संसद में उठाया गया। उन्होंने ही 'बोवाइन ग्रोथ हार्मोन (बी जी एच)' और उस पर पाबंदी लगाई। इसमें कुछ अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने उनकी मदद की पेशकश की तो वे उनकी सहायता लेने में भी हिचके नहीं। इन सांसदों की पहल का पूरे विश्व में अभूतपूर्व स्वागत हुआ और पूरी दुनिया से चिट्ठियों, तार और फोनों की झड़ी लग गई। सांसदों के पास यूरोपी संसद में 'बी जी एच' को स्वीकृति प्रदान करने के प्रस्ताव को रद्द कराने का जो आवेदन भेजा गया था, उस पर भारत के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. एम. एस. स्वामिनाथन् ने भी हस्ताक्षर किए थे। भारतीय संसद में कभी विज्ञान में दिलचस्पी रखने वाले सांसदों ने अपनी समिति बनाई थी। उसे फिर से बनाने की जरूरत है, ताकि वैज्ञानिक मुद्दों पर सही बहस हो सके और विज्ञान से जुड़े नैतिक और सामाजिक प्रश्नों को संसद में सही तौर पर उठाया जा सके।

भाग चार

वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन –
यानी गलत व्यापार संगठन

10. अमरीका की दादागिरी

विश्व व्यापार संगठन का तीसरा मंत्रिस्तरीय सम्मेलन सिएटल में हो रहा था। इसके शुरू होने के दो दिन बाद की बात है कि इसका विरोध करने वाले प्रदर्शनकारियों को तितर-बितर करने के लिए पुलिस ने उन पर आंसू गैस के गोले बरसाने शुरू किए। उस समय कोई आधी रात का वक्त रहा होगा। मैं वहां कैपिटल हिल में स्थित अपने होटल की ओर वापस जा रहा था। मैंने शहर की एक चक्करदार गली का रास्ता पकड़ा तो उससे बाहर आते ही मैं भी पुलिस कार्यवाही के बीच जा पहुंचा।

अधिकतर प्रदर्शनकारी किशोरवय के थे। वे आंसू गैस के तीखे धुंए से बचने के लिए इधर-उधर भाग रहे थे। जैसे ही मैं पीछे हटा इस पूरे दृश्य को कैमरे में कैद करते एक टी वी कैमरे की जद में आ गया। उन्होंने एक विदेशी प्रतिनिधि के रूप में मेरी राय जाननी चाही तो मैंने कहा था कि 'यहां सड़क पर इन बेकसूर किशोरों और अन्य शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों की आवाज घोंटने में अमरीका अपनी बांहें मरोड़ने की दादागिरी दिखा रहा है और उधर हॉल के अंदर अमरीकी नौकरशाह विकासशील देशों की आवाज दबाने में अपना दबदबा बनाये हुए हैं।'

चार दिन तक वहां मैं विकासशील देशों के भाग्य को इधर-से-उधर झूलता देखता रहा। किस तरह अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में राजनीतिक दांवपेंच चलते हैं, किस तरह 'आगे गाजर लटकाने और पीछे से डंडा फटकारने' की नीति अपनाई जाती है, और किस तरह अमरीकी व्यापार प्रतिनिधि अपनी धौंस जमाते हैं, यह सब देखकर मैं दंग रह गया। अमरीकियों का अहंकार आसमान पर था। मानों सारी दुनिया उनकी चेली हो, जिसे वे चाहे जैसे हांक सकते हैं। जिसे एक 'आर्थिक पहल' कहा जा रहा था, वह अमरीकी दबाव के चलते एक मजाक बन कर रह गई। 'मुक्त व्यापार' के नाम पर अमरीका बस अपनी मनमानी मनवाना चाहता था। अमरीकी हितों के साथ ही ओ ई सी डी - 'ऑर्गेनाइज़ेशन फॉर इकोनोमिक कोओपरेशन एण्ड डेवलपमेंट' के सदस्य देशों के हितों की रक्षा करना ही इस सम्मेलन का उद्देश्य था। बाहर सड़क पर भारी विरोध प्रदर्शन के बावजूद अगर अंदर विरोध की आवाजें न उठतीं तो वार्ताओं का यह सहस्राब्दी दौर जिस उद्देश्य से शुरू किया गया था, वह पूरा कर लिया जाता। लेकिन बाहर और भीतर दोनों ओर से उठे विरोध ने अमरीका की साजिश पर पानी फेर दिया और विकसित देशों के तमाम दांवपेंच धरे रह गए।

हालांकि कोशिश पूरी की गई। 'एक देश का एक मत' की जनतांत्रिक प्रणाली रद्दी की टोकरी में फेंक दी गई। विशेष कक्ष में अलग ले जाकर विचार-विमर्श के नाम पर विकासशील देशों के गतिविधियों को धमकाया गया और फिर उनकी 'सहमति', जो 'वर्किंग ग्रुप' बनाए गए थे, उन्हें सौंप दी गई। उदाहरण के लिए रात नौ बजे 20 देशों को निमंत्रण मिला कि 'ग्रीन रूम' में व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों पर चर्चा की जाएगी। इसके दो घंटे बाद इनमें से दस देश एक होटल में इकट्ठे हुए। इन देशों में भारत, पाकिस्तान और ईजिप्ट भी शामिल थे। आधी रात दो बजे के करीब यह पता चला कि किसी तरह की सहमति हो गई है। जहां अमरीका यह मान गया कि बासमती चावल और दार्जिलिंग चाय के मामले में भौगोलिक सीमा का तर्क स्वीकार करके इन पर पेटेण्ट के दावे को छोड़ देगा, वहीं बदले में उसने जैवप्रौद्योगिकी पर एक 'वर्किंग ग्रुप' बनाने की भारत और पाकिस्तान से सहमति ले ली।

इस बात से अफ्रीकी देश खफा हो गए। होने ही थे। अफ्रीका के किसी भी देश को इस 'ग्रीन-रूम चर्चा' में शामिल ही नहीं किया गया। इनमें से किसी को निमंत्रित नहीं किया गया। इस असंतोष की आग में तब और भी घी पड़ गया, जब 'डब्ल्यू टी ओ' के अध्यक्ष माइक मूर ने भी कोई दो दर्जन देशों से ग्रीन-रूम चर्चा अलग से कीं। इस में भारत को तो शामिल किया गया था, मगर अफ्रीका का कोई भी देश नहीं बुलाया गया। 'सहस्राब्दी दौर' का ऐजेण्डा तय करना इस चर्चा का उद्देश्य था। बस फिर क्या था अफ्रीकी देशों ने अपने महाद्वीप के देशों सहित कोई एक सौ देशों से इस भेद-भाव का विरोध दर्ज करा डाला। उन्होंने इस सम्मेलन का बहिष्कार करने की धमकी भी दे डाली। इस तरह भले ही गरीब रहे हों, लेकिन अफ्रीकी देशों ने इतनी हिम्मत तो दिखाई कि इस सदी की सबसे बड़ी व्यापार-वार्ता विफल कर दी।

इससे पहले अमरीका और कनाडा ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें जीनियागरी से तैयार पराजीनी फसलों को कृषि संबंधी समझौते में शामिल करने के लिए जैव प्रौद्योगिकी पर एक वर्किंग ग्रुप अलग से बनाने का सुझाव दिया गया था। इसका मतलब यह होता कि सदस्य देशों को पराजीनी फसलें और उनसे बने खाद्य पदार्थ स्वीकार करने पड़ते।

दूसरे दिन यह स्पष्ट हो गया कि अमरीका और कनाडा के इस प्रस्ताव का कम से कम पांच यूरोपी देश विरोध कर रहे हैं। एक दिन बाद इन विरोधी यूरोपी देशों की संख्या एक दर्जन हो गई। लेकिन मजे की बात यह कि यूरोपी संघ जिसका प्रशासनिक नियंत्रण था, वह पहले बायोटेक्नोलोजी पर अलग से वर्किंग ग्रुप बनाने के पक्ष में था। इस तरह वहां की नौकरशाही ने भी जैवप्रौद्योगिकी के प्रश्न पर यूरोप को बांटने की भरपूर कोशिश की।

स्वयं यूरोप अपने यहां किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी में किसी भी प्रकार की कटौती करने के लिए तैयार नहीं था। इस के लिए उसने एक बहुमुखी प्रस्ताव रखा जिसमें पर्यावरण और वन्यजीवन की रक्षा के लिए कृषि पर सब्सिडी जारी रखने का तर्क दिया गया था। इधर अमरीका यह तो चाहता था कि यूरोपी देश किसानों को दी

जा रही सब्सिडी में कटौती करें लेकिन खुद 6 अरब डालर का किसानों को 'एक्सपोर्ट क्रेडिट' देना वाजिब ठहराता रहा और उसे किसानों की सब्सिडी माना जाए, ऐसी दलील देता रहा।

इस तरह यह तो साफ हो गया कि विश्व व्यापार में विषमता पैदा करने वाली कृषि-सब्सिडी में न तो यूरोपी संघ कोई कटौती करना चाहता था और न अमरीका, लेकिन विश्व बैंक के माध्यम से भारत जैसे विकासशील देशों पर उनका दबाव बराबर बना रहा। ये देश किसानों को दी जा रही सब्सिडी में कटौती करें। अमरीका और यूरोप विकासशील देशों के बाजारों में अपनी पहुंच बनाने के लिए आयातित वस्तुओं पर से 'मात्रात्मक प्रतिबंध' हटाने पर भी बल देते रहे।

सिएटल के तमाशे में एक तमाशा यह भी हुआ कि भारत विकासशील देशों के नेता के रूप में उभरना चाहिए था, लेकिन वह मौका भारत चूक गया। अपने भौगोलिक आकार और विशाल बाजार की दृष्टि से भारत की स्थिति बड़ी बेमिसाल है। लेकिन वहां भारत अमरीका का खुलकर विरोध नहीं कर पाया, बल्कि अमरीकी विचारों से अपनी सहमति जताता रहा। तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने शायद यही सोचकर भारतीय वाणिज्य मंत्री मुरासोली मारन को 135 देशों के वाणिज्य मंत्रियों को दिए गए लंच में उसी टेबल पर बिठाया जिस पर वे खुद बैठे थे।

इस तरह विश्व व्यापार संगठन का यह 'मिलेनियम राउण्ड' असफल तो रहा लेकिन इसने भारत के दबूपन को भी उजागर कर दिया। इससे पहले वार्ताओं के 'उरुग्वे दौर' में और इस 'सिएटल दौर' में भारत ने अपने आर्थिक हितों की रक्षा का कोई प्रयास नहीं किया। यही कारण है कि बाहर की सस्ती चीजें और अनाज भारत में पटके जाने से किसी को कोई गुरेज नहीं हैं। जो भी भारत के मंचों पर शेर जैसे दहाड़ते हैं, वही लोग इन अंतर्राष्ट्रीय वार्ताओं में दुम दबाते या फिर जिस-तिस अमीर देश के अधिकारियों के पीछे दुम हिलाते नजर आते हैं। जो भी सरकारी अधिकारी इन वार्ताओं में भाग लेने जाते हैं, उन्हें किसी अंतर्राष्ट्रीय संगठन में कोई भी पद हासिल करने की ज्यादा चिंता रहती है और ऐसे मौकों को वे निजी स्वार्थों के लिए भुनाने के लिए ज्यादा बैचन दिखाई देते हैं। यह बात दूसरे देशों को जरूर अखरी होगी, तभी तो अब वे किसी भी मामले में भारत को अपना नेता नहीं मानते। सिएटल में भारतीय दृष्टिकोण वही था, जो भारतीय उद्योग के हितों की रक्षा के लिए बनाई गई 'सी आइ आई', 'फिक्की' तथा 'एसोचैम' जैसी संस्थाओं का रहा है। कृषि को तो बलि की बकरी बना दिया गया। बस भारतीय उद्योग का जो भी कुछ बच रहा है, उसे बचाने की जरूर कोशिश की गई। उदाहरण के लिए यूरोपी संघ ने यह मान लिया कि अगर भारत यूरोप के कृषि पर सब्सिडी जारी रखने के बहुमुखी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले और यूरोपी किसानों को सब्सिडी देने पर कोई ऐतराज न करे तो यूरोपी संघ के देश भारत से चीनी के आयात पर 'इम्पोर्ट ड्यूटी' में कटौती करने पर बल नहीं देंगे।

लेकिन जहां तक विश्व व्यापार संगठन का सवाल है वह सिएटल दौर की विफलता से जरूर क्षुब्ध था क्योंकि पूरी दुनिया को यह लगा कि यह विफलता डब्ल्यू टी ओ के

ताबूत में ठोंकी गई पहली कील साबित होगी अगले दौर भी इसी तरह विफल होते रहे तो एक दिन पूरी दुनिया डब्ल्यू टी ओ को बचाने के अमीर देशों के हर तरह के प्रयास के बावजूद एक दिन डब्ल्यू टी ओ को दफना देगी। इसे पहचानकर अमीर देश फिर से राजनीतिक आर्थिक मोर्चेबंदी पर उतारू हो सकते हैं। इस बार यह बिल ज्यादा खतरनाक हो सकता है। इसे भांपकर भारत को भी अपने पैतरे बदलने होंगे, ताकि इन खतरनाक खेलों में भारत मात न खा जाये। इसी तरह 'सिविल सोसाइटी' को अपना संघर्ष और भी तीखा बनाते हुए सीधे अंतर्राष्ट्रीय सभाकक्षों में ले जाना होगा। स्वैच्छिक संगठन पूरी दुनिया में जनता की आवाज बुलंद कर रहे हैं और तीसरी दुनिया के हितों की रक्षा में वे इन देशों की सरकारों से अधिक आगे है। अब उन्हें अपने औजार और भी पैनाकर, तेज और धारदार करने होंगे ताकि विश्व व्यापार संगठन के कंधों पर चढ़कर अमीर देश अपने निशाने न साध पायें। विश्व-स्तर पर यह तो स्पष्ट हो गया है कि कोई भी जन-विरोधी प्रस्ताव पारित कराना कठिन होगा। जनता की आवाज बुलंद करने वाले इसके लिए अपनी जान पर खेलने को तैयार हैं। और डब्ल्यू टी ओ भी इसका अपवाद नहीं है। वह जब तक अमीर देशों के इशारों पर नाचता रहेगा, उसका विरोध जारी रहेगा।

इसमें अब जरा भी शक की गुंजाइश नहीं है कि डब्ल्यू टी ओ की हर चाल नौकरशाहों और नियो-क्लासिक अर्थशास्त्रियों द्वारा इस तरह चली जाती है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को फायदा पहुंचे और कोर्पोरेट जगत लाभान्वित हो। दुर्भाग्य से विश्व एक ऐसे दौर में पहुंच गया है, जब बिना किसी अपवाद के सभी सरकारें केवल उद्योगों की हित-रक्षक बन गयी हैं।

इस तरह गरीब और भूखे फिर हाशिए पर फेंके जा रहे हैं। सिएटल में इस सम्मेलन का विरोध करने वाले प्रदर्शनकारी वहां की सड़कों पर एक तख्ती लिए घूमते थे, जिस पर लिखा था 'डब्ल्यू टी ओ इज ए रॉग ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन'। इसमें कोई संदेह नहीं है कि डब्ल्यू टी ओ वास्तव में गलत व्यापार संगठन है।

अमरीका की दूसरी लड़ाई

अफगानिस्तान पर अमरीकी हमला जिस घोषित लक्ष्य से किया गया था, वह भले ही पूरा न हुआ हो, लेकिन खाद्यान्न के मामले में सबसे बड़ा बनने की उसकी लड़ाई बराबर जारी है। जिस तरह अफगानिस्तान में लादेन को पकड़ने का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ, उसी तरह खाद्यान्न के मामले में दुनिया में सबसे अक्ल होने का अमरीकी सपना भी मृग-मरीचिका साबित हो रहा है। लेकिन व्यापार के मोर्चे पर अमरीका की यह दूसरी लड़ाई निरंतर चल रही है। उधर तो अमरीका, यूरोपी संघ और केयर्नस ग्रुप मिलकर विश्व के सबसे बड़े खाद्य-निर्यातक बनने की ओर अग्रसर हैं, और इधर विकासशील देशों में कोई डेढ़ अरब छोटे और सीमांत किसान अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। खाद्यान्न भविष्य में विश्व का सबसे बड़ा अस्त्र बनने जा रहा है और इधर दुनिया के अधिकतर देशों में खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता से आयी आर्थिक स्वतंत्रता पर खतरा मंडरा रहा है। यह 'संघर्ष' मुख्यतः विकसित और विकासशील देशों

के बीच तो चल ही रहा है। साथ ही यह युद्ध औद्योगिक कृषि और खाद्य-सुरक्षा, अभिमूल्यित व्यंजनों और बढ़ती भूख के बीच भी जारी है। इसके लिए अमरीका देशों के बांह मरोड़ने, उन पर आंखें तरेरने तथा उन्हे धमकाने से भी बाज नहीं आ रहा।

पिछले कुछ समय में अमरीका जीनांतरित खाद्यों और पराजीनी फसलों के आयात पर पाबंदी लगाने वाले कई देशों को व्यापारिक प्रतिबंध लगाने की धमकियां दे चुका है। इन देशों में श्री लंका, मैक्सिको और थाइलैंड के बारे में सबको पता है कि उन्हें इस तरह की धमकियां मिली हैं। यही नहीं अमरीका ने चीन को भी धमकी दे डाली कि वह सोयाबीन के आयात पर अनुचित रोक लगा रहा है। इस तरह की रोक लगने से अमरीकी सोयाबीन-उत्पादकों को लगभग 7 अरब डालर का नुकसान होगा। इस नुकसान के लिए चीन पर आरोप लगाते हुए अमरीका ने दलील दी कि संगरोध (क्वैरंटीन) और निरीक्षण संबंधी प्रक्रिया को चीन 'इतना कड़ा बना रहा है कि विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बनने के बाद चीन इस तरह का रुख नहीं अपना सकता।'

कृषि और खाद्यान्न का विश्व में जितना निर्यात किया जाता है, उसके 35 प्रतिशत विश्व-व्यापार पर अमरीका और यूरोपी संघ का कब्जा है। केयर्न्स ग्रुप में खाद्यान्न का निर्यात करने वाले 18 देश शामिल हैं। इस तरह इन तीनों समूहों ने कृषि के विश्वव्यापार का लगभग एक तिहाई हिस्सा और खाद्य-व्यापार का दो-तिहाई हिस्सा हथिया लिया है। अगर इसमें विश्व के सबसे धनी व्यापारिक देशों के समूह 'ओ. ई. सी. डी.' को भी शामिल कर दें तो कृषि और खाद्य-व्यापार में अमीर देशों का वर्चस्व सिद्ध हो जाता है।

लेकिन विश्व के सबसे बड़े कृषि और खाद्य-व्यापारी होने के बावजूद इन देशों के लालच का कोई अंत नहीं है और अपने यहां के फालतू अनाज और अन्य कृषि-उत्पादों को विकासशील देशों के बाजारों में पटकने के लिए वे बराबर हाथ-पांव मारते रहते हैं। यह तभी हो सकता है, जब कुछ देशों की खाद्यान्न में आत्म निर्भरता समाप्त हो जाए। लेकिन अमीर देशों का किसानों को भारी सब्सिडी देकर निर्यात के लिए सस्ते दामों पर तैयार माल विकासशील देशों में तभी बेचा जा सकेगा, जब विश्व-व्यापार के नियमों में इस तरह ढील दी जाए, ताकि खाद्य-निर्यातक देशों के हितों की रक्षा हो। यही कारण है कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) के कृषि समझौते में अपनी मनमर्जी से फेरबदल लाने की कोशिश करके खाद्य निर्यातक देश विकासशील देशों को चारों खाने चित करने के जुगाड़ में जुटे रहते हैं।

पिछले 15 सालों में अमरीकी निर्यात को दुगना बढ़ाने में व्यापार संबंधी इस उदारीकरण का और विश्व व्यापार में ढांचागत परिवर्तनों का बड़ा योग रहा है। सन् 2001 में अमरीका का कृषि एवं खाद्य व्यापार 53.5 अरब डालर तक पहुंचने का अनुमान है। इसी तरह यूरोपी संघ ने इस क्षेत्र में अपनी प्रगति 13.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 17 प्रतिशत पर पहुंचा दी है। फिर भी इन्हें संतोष नहीं है और डब्ल्यू. टी. ओ. के जरिए विकासशील देशों पर भारी दबाव बनाए हुए हैं कि वे खाद्यान्न संबंधी निर्यातों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा दें।

एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया में 60 करोड़ नया उपभोक्ता-वर्ग तैयार हुआ है, जिस पर अमरीका की गिद्ध दृष्टि लगी है। इसी तरह लातिनी अमरीका और मध्य अमरीका में 40 करोड़ के लगभग उपभोक्ताओं की जेब अमरीका काटना चाहता है। विकासशील देशों के इस 1 अरब के करीब मध्यवर्ग की खाद्य-सुरक्षा को अमरीका अपनी मुट्टी में करने के लिए बेचैन है। फिर भले ही इन देशों में खाद्य-उत्पादक और किसान अपनी जीविका के इस एकमात्र साधन से वंचित हो जाएं। एक बार अपने खाद्यान्न के लिए ये विकासशील देश अमीर देशों पर निर्भर हो गए तो समझो खाद्यान्न में वर्चस्व का यह महायुद्ध उन्होंने जीत लिया।

खाद्य और कृषि क्षेत्र में ऐसी शानदार जीत हासिल करने के लिए किसानों को भारी वित्तीय सहायता की जरूरत है। अमरीका इसीलिए अपने किसानों को हर साल 54 अरब डालर की सब्सिडी देता है। इसी तरह यूरोपी संघ के सभी देश मिलकर किसानों को प्रतिवर्ष लगभग 114.5 अरब डालर की सब्सिडी सन् 1999 में दे रहे थे। ओ. ई. सी. डी देशों की सब्सिडी तो 1 अरब डालर प्रतिदिन के बराबर बैठती है। यही नहीं वे टैरिफ-प्रतिबंध और गैर-टैरिफ प्रतिबंध लगाकर तथा साफ-सफाई और पौध-स्वच्छता (फाइटोसैनिटरी) की अन्यायपूर्ण शर्तें लगाकर विकासशील देशों से कृषि और खाद्य के विश्व-व्यापार में तरह-तरह की अन्यायपूर्ण रुकावटें भी डालते हैं। डब्ल्यू. टी. ओ. ने सब्सिडी घटाने की शर्तें लगाई हैं, जब कि अमरीका अपने यहां किसानों की सब्सिडी घटाने की बजाय दुनिया में सबसे अधिक सब्सिडी देने वाला देश बनने वाला है। उधर बौद्धिक सम्पदा के अधिकार लागू करके कृषि-अनुसंधान पर भी नियंत्रण का षडयंत्र चल रहा है।

अगले 10 सालों में अमरीकी कृषि को दी जाने वाली सब्सिडी 170 अरब डालर तक बढ़ाने का एक बिल अमरीकी संसद में विचाराधीन है। यूरोपी संघ व्यापार में उदारीकरण का सबसे बड़ा पक्षधर है, लेकिन इसने स्वयं 'कॉमन एग्रीकल्चुरल पॉलिसी' के जरिए अपने कृषि-क्षेत्र की किलेबंदी के पूरे इंतजाम कर लिए हैं। इस साझी कृषि नीति के जरिए यूरोपी संघ ने अपनी कृषि को विश्व की सबसे अधिक सरकारी रियायतें पाने वाली बना दिया है। इस तरह से यूरोपी संघ दुमुंही नीति अपना कर विकासशील देशों को अपने बाजार खोलने और किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी खत्म करने के लिए मजबूर करना चाहता है।

अमरीका विदेश कृषि सेवा की प्रभारी प्रशासक मैटी शार्पलैस इतनी तेज है कि अमरीकी कृषि विभाग की इस अधिकारी ने सीनेट की कृषि समिति के सामने अपने भाषण में कहा कि "डालर से डालर में नापें तो अमरीका इस्पात से ज्यादा मांस, सौंदर्य प्रसाधनों से अधिक मक्का, कोयले से अधिक गेहूं, मोटरबोटों से अधिक बिस्कुट और केक तथा घरेलू उपकरणों से अधिक फल-सब्जियां निर्यात करता है।" उसने बताया कि अमरीकी अर्थव्यवस्था के उन कुछेक क्षेत्रों में कृषि भी शामिल है जो इसके व्यापारिक संतुलन का पलड़ा भारी करते हैं। सन् 2001 में अमरीका ने यह लक्ष्य रखा था कि वह अपनी गेहूं की फसल का 53 प्रतिशत, कपास का 47 प्रतिशत, चावल का

42 प्रतिशत, सोयाबीन का 35 प्रतिशत और मक्का का 21 प्रतिशत निर्यात करेगा। यह भारी सब्सिडी की बंदौलत और विकासशील देशों में निर्यात की व्यापारिक बाधाएं और मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लेने के कारण ही संभव हो पाया।

दूसरी ओर विकासशील देशों से डब्ल्यू. टी. ओ. कह रहा है कि किसानों को सब्सिडी देने को 'अनुशासित' करो। हालांकि डब्ल्यू. टी. ओ. के कृषि-समझौते के तहत ये देश किसानों को 10 प्रतिशत तक सब्सिडी दे सकते हैं, लेकिन अधिकतर विकासशील देशों ने बहकावे में आकर किसानों को सब्सिडी देना बंद ही कर दिया है। साथ ही कृषि-प्रसार की सुविधाएं भी ठप्प कर दी हैं। भारत में 11 करोड़ जोत हैं और उन्हें वर्ष भर में मुश्किल से 1 अरब डालर की सब्सिडी दी जाती है। लेकिन यह गरीबों को सस्ता अनाज देने और किसानों को सस्ती बिजली और पानी तथा उर्वरक आदि पर दी जाने वाली सब्सिडी घटाने के लिए तैयार बैठा है। डब्ल्यू. टी. ओ. ने दो साल बाद की तारीख तय की थी, लेकिन अमरीका ने दबाव डालकर दो साल पहले ही तमाम कृषि जिंसों के निर्यात पर भारत में लगे मात्रात्मक प्रतिबंध हटवा लिए।

इस तरह अमरीका के दबाव में आने का नतीजा क्या होगा? भारत जैसे खाद्यान्न में आत्मनिर्भर ही नहीं बल्कि खाद्य-निर्यातक देश अंततः खाद्य-आयातक बन जाएंगे और खाद्यान्न में वर्चस्व का ताज अमरीका और यूरोपी संघ के सिर पर सजेगा। इसके लिए विश्व-व्यापार के नियम ताड़े-मरोड़े जा रहे हैं और विकासशील देशों में विकसित देशों का खाद्यान्न जबरदस्ती पटका जा रहा है। ऊपर से ये अमीर देश दिखाते ऐसा है मानो इन्हें दुनिया के भूखे और गरीबों की भारी चिंता हो। कृषि विकास के लिए ये नए-नए नारे गढ़ते हैं, जिनका निशाना यही होता है कि खेती करना छोटे और सीमांत किसानों के बूते का न रह जाए। 'प्रिंसीजन फार्मिंग' यानी 'युक्तियुक्त कृषि' ऐसा ही नारा है जिसमें नपा-तुला बीज, नपा-तुला उर्वरक, नपा-तुला पानी तथा बाकी सब कुछ भी बिलकुल नपा-तुला होना चाहिए। इसका मतलब है 'हाईटैक एग्रीकल्चर' जो बड़ी-बड़ी कंपनियां ही कर सकती हैं, किसानों के वश का तो है नहीं। हमारी नौकरशाही बड़े देशों के झांसे में आकर खाद्यान्न में भारत की आत्म-निर्भरता को गंवाने और भारत के मजबूत कृषि-अनुसंधान तथा विकास तंत्र को तोड़ने पर आमादा है। वे 'प्रिंसीजन फार्मिंग' को एकमात्र पर्यावरण हितैषी कृषि-पद्धति बता रहे हैं जो पूरी दुनिया का टिकाऊ खेती से पेट भर सकेगी। और विकासशील देश भी यही मान बैठे तो खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता इन सभी देशों के लिए दिवा-स्वप्न बन जाएगा।

विश्व-राजनीति का शिकार

जब भारत ने सन् 1998 में पोखरण में परमाणु-परीक्षण किया था तो भारत भर में आर्थिक प्रतिबंध लगाने में अमरीका ने तनिक भी देर नहीं लगाई। इन प्रतिबंधों के साथ ही अमरीका ने भारत की 200 कंपनियों पर अमरीका को कुछ भी निर्यात करने पर रोक लगा। यह तो तब हुआ जब प्रधानमंत्री के विशेष प्रतिनिधि श्री जसवंत सिंह और तत्कालीन अमरीकी उपमंत्री स्ट्रॉब टालबोट के बीच इस बारे में की गई वार्ता को सफल बताया गया था। असल में दूसरी सूची तब जारी की गई, जब भारत एक ऐसे

क्षेत्र में बदले की कार्यवाही करने से चूक गया, जो अमरीका को बड़ा भारी पड़ता और वह क्षेत्र है, कृषि।

जब भारत और पाकिस्तान दोनों देशों पर इनके परमाणु परीक्षणों के बाद तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति श्री बिल क्लिण्टन ने आर्थिक प्रतिबंध लगाये थे, तो इन प्रतिबंधों से उन्होंने कृषि संबंधी निर्यात और ऋण वगैरह को बाहर रखा था। यह न सोचिए कि उन्होंने ऐसा किसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर किया था। अमरीका का शायद ही कोई कदम मानवीय भावना से प्रेरित होता है। उसके हर कदम के पीछे एक ही भावना होती है, लालच – अपना उल्लू सीधा करना। भारतीय कृषि को प्रतिबंधों से बाहर रखने का एक ही मतलब था कि अमरीका अपनी सस्ती कृषि-वस्तुओं को भारतीय बाजारों में बेचने का विकल्प खुला रखे। इसके साथ ही अमरीका ने भारत पर सीटीबीटी- कोम्प्रीहेंसिव टैस्ट बैन ट्रीटी – पर हस्ताक्षर करने का भी दबाव डाला। इस समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद भारत के लिए परमाणु-परीक्षण करना मुश्किल हो जाता। हालांकि खुद अमरीका इस समझौते का संस्थापक होने के बाद भी परमाणु परीक्षण करता रहा है। इस बारे में वार्ताएं चलती रहीं और भारत ने यह घोषित कर रखा था कि वह सीटीबीटी पर हस्ताक्षर नहीं करेगा, लेकिन अमरीका से प्रतिबंध हटाने के लिए कुछ नहीं कहा, बल्कि कुछ ऐसी कोशिशें करता रहा कि किसी तरह अमरीका की नाराज़ी कम हो जाये। एक परिपक्व प्रौढ़ देश के रूप में व्यवहार करना और सिर ऊंचा करके बात करना हमारा देश पता नहीं कब सीखेगा।

उधर चीन को देखिए कि जब परमाणु-परीक्षणों से नाराज़ होकर अमरीका ने चीन पर प्रतिबंध लगाये तो इस आर्थिक नाकेबंदी का मुंहतोड़ जवाब देते हुए चीन ने भी कोई 40 चीनी वस्तुओं और जिंसों पर अमरीकी प्रतिबंध का जवाब देते हुए 40 अमरीकी वस्तुओं और जिंसों का चीन से व्यापार करने पर पाबंदी ठोक दी। पता नहीं भारत क्यों अपने को इतना गया-गुज़रा समझता है कि अमरीका की ज़रा-सी घुड़की के सामने फौरन घुटने टेक देता है। हमने उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर तमाम कृषि वस्तुओं और जिंसों के लिए भारत के बाज़ार खोलकर भारी गलती की है।

यह तब किया गया जब प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी न्यूयार्क की यात्रा पर जाने वाले थे। इस यात्रा से ठीक पहले कृषि-आयात पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिए गए। अब अमरीका और आस्ट्रेलिया जैसे तमाम देश चाहें तो अपने फल-सब्जियां हमारे देश में भेजें और चाहे गेहूं चावल और सोयाबीन- हमें जरूरत हो न हो, सबका स्वागत है। फिर इन चीजों के आने से भले ही हमारे किसानों की कमर टूटे। दूध और दूध के उत्पाद भी इस सूची में शामिल होने वाले हैं, ताकि अमरीका और यूरोप के देश अपने फालतू दुग्ध-उत्पाद भी हमारे बाजारों में पटक सकें।

यह सब अमरीका की एक दूरगामी व्यापारिक नीति के अधीन किया जा रहा है। सन् 1988 में ही अमरीका ने दुनिया में ऐसे 13 देश छांट लिए थे, जहाँ कृषि-वस्तुएं निर्यात करने के लिए बाज़ार खुलवाने पर उसे जोर-शोर से प्रयास करने थे और अगर

अमरीकी प्रतिबंध लगे रहते और हमने अपनी ओर से जवाबी प्रतिबंध लगा दिए होते तो दुनिया का सबसे बड़ा बाज़ार अमरीका के हाथ से निकल जाता।

अमरीकी संसद की कृषि-समिति के सामने तत्कालीन विशेष अमरीकी राजदूत पीटर श्चेर ने अपनी पेशी में कहा था कि “उभरता हुआ मध्यवर्ग अपनी खपत के तरीकों को बदलने की ओर अग्रसर है और ये लोग हमारी चीजों के सबसे बड़े खरीदार हो सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत में सन् 2005 तक इस मध्यवर्ग में साढ़े ग्यारह करोड़ नए उपभोक्ता जुड़ जाएंगे। यह हमारी कृषि-वस्तुओं के लिए सबसे बड़े बाजार साबित होंगे।”

अगर अमरीकी कृषि-निर्यात पर निगाह डालें तो पता चलता है कि सन् 1997 में अमरीका कृषि-निर्यात से 97 अरब डालर का कारोबार कर रहा था और इसमें से कृषि-आयात पर किया गया खर्चा निकाल दें तो उसे 21 अरब डालर का मुनाफा रहा। यानी यहां उसका व्यापार-संतुलन अत्यंत सकारात्मक था। इसलिए यह तो ज़रूरी था कि वह अपने कृषि-निर्यात को हर तरह के प्रतिबंधों से बाहर रखे। वह अपना कृषि-निर्यात बढ़ाए रखने के हर मौके की तलाश में रहता है और सभी व्यापार-समझौतों में कृषि-निर्यात शामिल करना नहीं भूलता। अभी तक उसका ध्यान उत्तरी गोलार्द्ध पर था, अब दक्षिणी गोलार्द्ध पर गया है। भारत का खाता-पीता मध्यवर्ग उसके ठीक निशाने पर है, ताकि अपना माल बेचकर इस वर्ग की जेबें खाली कर सके। इसके साथ ही चीन के बाज़ार में भी धुसपैठ की कोशिश की जा रही है। लेकिन इस अमरीकी लालच को पहचानकर चीन ने भी अपनी चीजें अमरीका में बेचने और विदेशी मुद्रा कमाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। तभी तो पूरी तैयारी करके और सोच-समझकर काफी देर बाद चीन विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बना है।

हमें सन् 2001 तक सभी कृषि वस्तुओं के व्यापार पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने थे, जिनकी याद हमें अमरीका बराबर दिलाता रहा। अमरीकी कृषि मंत्री ज्ञान ग्लिकमैन ने कहा था, “हमारी पहल साफ है हम किसी नई सरकार के आने का इंतजार नहीं करेंगे और न किसी के लिए रूकेंगे और न चुप बैठेंगे।” तभी तो आखिरकार उन्होंने भारत से वह करा ही लिया, जो वह चाहते थे।

अमरीका हमारे देश में केवल गेहूं बेचना नहीं चाहता। वह गेहूं के अलावा और भी तमाम कृषि-जिंसों के लिए हमारा बाज़ार हड़पना चाहता है। अमरीका का सोयाबीन संघ बराबर इस कोशिश में लगा रहा कि किसी तरह भारत अमरीका से पराजीनी सोयाबीन की दस लाख टन मात्रा खरीद ले। खुले जनरल लाइसेंस के तहत भारत में सोयाबीन ही नहीं, सूरजमुखी और तोरिया (रेपसीड) भी बाहर से आ सकती है। तिलहनों के अलावा अमरीका अपने प्रशोधित खाद्य पदार्थ भी भारत के बाज़ारों में पटकना चाहता है और साथ ही दूध से बनी चीजें भी। बीज और कृषि-रसायनों के लिए और दूसरी तमाम कृषि-वस्तुओं के लिए भी उसकी निगाहें भारतीय बाज़ार पर टिकी हुई हैं। इसलिए आप कुछ भी कर लो, अमरीका अपने प्रतिबंधों की सूची से कृषि को हमेशा बाहर रखेगा। इस बारे में उस पर अमरीकी कृषि-बायोटेक कंपनियों का भी

भारी दबाव है। ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारत में अपना बाज़ार भी बनाना चाहती हैं और अपना अनुसंधान का काम भी भारत में चलाना चाहती है। अगर आर्थिक प्रतिबंध लगे रहते तो सबसे बड़ी कठिनाई इन कंपनियों को होती और वह भारत में पूंजी निवेश नहीं कर पातीं।

जब घरेलू कृषि-व्यापारियों का दबाव पड़ा तो तत्कालीन राष्ट्रपति श्री बिल क्लिण्टन कृषि को प्रतिबंधों से बाहर रखते हुए एकदम संत हो गए और उन्होंने प्रवचन दिया कि "हमें खद्यान्न को हथियार की तरह इस्तेमाल नहीं करना चाहिए और ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए, जिससे अनाज भेजने पर पाबंदी लग जाए।" अमरीकी राष्ट्रपति महोदय को अचानक भूखों और कुपोषितों की इतनी चिंता सताने लगी, जब कि इन्हीं राष्ट्रपति जी ने 'वर्ल्ड फूड समिट' में बोलते हुए कहा था कि, "दुनिया के 80 करोड़ भूखे लोगों का पेट भरने की जिम्मेदारी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय पर नहीं डाली जा सकती। खाद्य-सुरक्षा प्रत्येक राष्ट्र का निजी मामला है और उन्हें ही अपने भूखी जनता को खिलाने के लिए रास्ते और साधन खोजने होंगे।" जहां तक अमरीका का सवाल है, वह खाद्य-सुरक्षा के लिए आत्म-निर्भरता की बजाय खाद्य-व्यापार को ही समाधान मानता है।

अगर हमने भूमंडलीकरण और परमाणु-अप्रसार के बहकावे में आकर अपनी खाद्य-सुरक्षा और पोषण-सुरक्षा भुला दी तो यह देश का दुर्भाग्य होगा। भारत ने बौद्धिक सम्पदा के अधिकार को सिद्धांततः स्वीकार करके और तमाम कृषि वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाकर और उनके लिए भारत के बाज़ार खोलकर भारत की खाद्य-सुरक्षा समाप्त करने और भारत के करोड़ों किसानों को बरबाद करने का रास्ता खोल दिया है।

राजनीतिक मजबूरी

हमारे राजनेता अपने बचाव में एक तो तर्क यह देते रहे कि जब डब्ल्यू. टी. ओ. पर हस्ताक्षर किए गए तो वे सत्ता में नहीं थे और उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दूसरा तर्क यह था कि एक बार हस्ताक्षर कर देने के बाद डब्ल्यू. टी. ओ. की हर शर्त को मानना उनकी "राजनीतिक मजबूरी" है। अब सरकार ने तमाम कृषि-वस्तुओं के आयात पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा दिए हैं, इसलिए हमारी कृषि-व्यवस्था के सामने एक बड़ा खतरा खड़ा हो गया है। सरकार के ऊपर किसानों को बीज-खाद-पानी वगैरह में की जाने वाली रियायतों को लेकर भी उन्हें कम करने के लिए भारी दबाव है।

बाहर के देश अपने किसानों को निर्यात के लिए भी भारी रियायतें देते हैं, ताकि वे अपना माल एकदम सस्ती दरों पर भेज सकें। उनका घाटा उनकी सरकारें पूरा कर देती हैं, जब कि हम पर दबाव है कि हम अपनी खाद्य सुरक्षा को खतरे में डालकर भी किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी कम कर दें। हमें खद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए भारी मेहनत करनी पड़ी है और अगर इससे मिली खाद्य-सुरक्षा में किसी

भी तरह की सेंध लगायी गयी तो इसके जिम्मेदार लोगों को देश कभी माफ नहीं करेगा। कृषि को लेकर हम ऐसा कोई भी समझौता स्वीकार नहीं कर सकते जो इस देश की कृषि-व्यवस्था को चौपट कर दे।

डब्ल्यू. टी. ओ. की शर्तें मानने का सबसे बुरा असर हमारी खेती पर ही पड़ेगा। ये शर्तें हमारे किसानों की कमर तोड़ देंगी। पश्चिमी किसानों को डब्ल्यू. टी. ओ. के बावजूद किसी न किसी बहाने से लगातार भारी सब्सिडी हर साल मिल रही है। उन्हें 362 अरब डालर की सब्सिडी हर साल मिलती है। जिसके मुकाबले भारत के किसानों को मिलने वाली सब्सिडी इसका पासंग भी नहीं है। हमारे किसान फिर उनका किस तरह मुकाबला कर सकते हैं।

मुक्त व्यापार और खुला बाज़ार लागू करना तथा किसान को बाज़ार के भरोसे छोड़ देना, बहुत बड़ी भूल है। इस तरह हम अनाज उन तक नहीं पहुंचा सकेंगे, जिन्हें इसकी ज़रूरत है। जो गरीब हैं, इसलिए भूखे हैं, और भूखे हैं, इसलिए कमज़ोर और बीमार हैं, और कमज़ोर और बीमार हैं, इसलिए गरीब हैं, और गरीब हैं इसलिए। यही है वह भयंकर दुश्चक्र जिससे बाहर निकाले बिना भारत को भूख के कलंक से मुक्त नहीं किया जा सकता।

यह मुक्त व्यापार और खुले बाज़ार वाली व्यवस्था ऐसे समय में लागू की जा रही है, जब धान-गेहूं क्षेत्र की उत्पादकता में ठहराव आया हुआ है। हमारा अन्न भंडार यही क्षेत्र भरता रहता है। 30 करोड़ के लगभग गरीब लोगों में अनाज खरीदने की क्षमता नहीं है। इसलिए जब उनके हिस्से का अनाज गोदामों में जमा हो गया तो हम बड़ी बहादुरी मानने लगे कि छह करोड़ टन से ज्यादा अनाज जमा हो गया है यानी अब खेती पर ज्यादा ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है। कृषि अनुसंधान को भी बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। जब वर्तमान तकनीकों से ही इतना अनाज पैदा हो गया है कि रखने का ठौर नहीं, तो फिर क्या ज़रूरत है नयी तकनीकें खोजने की। हमारे नौकरशाह इस तरह की बातें करने लगे हैं। इस बहाने वे देश की खाद्य-सुरक्षा को गिरवी रखना चाहते हैं।

यह खाद्य-सुरक्षा किसान ही सुरक्षित बनाए रख सकते हैं। इसके लिए उद्योगों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। उद्योग के भरोसे छोड़ दिया गया तो, वे तो गेहूं की जगह गुलाब उगाना पसंद करेंगे। उन्हें मुनाफे से मतलब है, फिर भले ही गरीब दाले-रोटी और दाल-भात के लिए तरसते रहें।

कारगिल-युद्ध में हमने जवानों को झोंका और देश की अस्मिता की रक्षा की। डब्ल्यू. टी. ओ. की बलिवेदी पर हमने किसानों की बलि दे दी, तो जिस अस्मिता की रक्षा के लिए हमारे जवान शहीद हुए, वह अस्मिता किसानों के शहीद होते ही ढह जाएगी। हमारे जवान और किसान दोनों ही देश की प्रभुसत्ता और अस्मिता के रक्षक हैं। हमें हर कीमत पर इन रक्षकों के हितों की रक्षा करनी होगी। सुरक्षा और कृषि से जुड़ी हर मुसीबत का खुलासा देश के सामने करना चाहिए ताकि देश इसके लिए तैयार रहे।

रक्षा और खेती, इन दोनों के मोर्चे पर जिन्होंने भी ढील दी, उन्हें जनता ऐसा सबक सिखायेगी, कि उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाएगी। यह कारगिल-युद्ध का सबसे बड़ा सबक था।

जरूरत है 'किसान' की नयी परिभाषा की

अगर आप शिक्षित हैं, शर्ट और पैण्ट पहनते हैं और ट्रैक्टर से जुताई करते हैं, तो फिर आप किसान कहलाने के हकदार नहीं हो सकते। जब तक आप मैला-कुचैला धोती-कुर्ता न पहनें, जब तक आपके जूते या चप्पल फटे-पुराने न हों या फिर आप नंगे पांव न हों और वही हल-बैल से जुताई न करते हों, तब तक भला दुनिया आप को किसान कैसे मान ले। कम से कम अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान और दक्षिण कोरिया जैसे देश तो भारतीय किसान को इसी रूप में देखना चाहते हैं, नहीं तो वे उसे किसान मानने को तैयार नहीं हैं।

विकसित विश्व दुनिया के सामने विकासशील देशों की ऐसी तस्वीर पेश कर रहे हैं जैसे कि यहां का किसान अनपढ़, गंवार और निहायत गरीबी में जैसे-तैसे गुजारा करने वाला एकदम पिछड़ा इंसान हो। तभी तो वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इन किसानों के भी कुछ अधिकार होने चाहिए। और वह भी बौद्धिक अधिकार! वाह! बुद्धि से किसानों का क्या वास्ता! आज जब विकासशील देशों ने 'फार्मर्स राइट्स' की बात जोरशोर से उठाई है, तो विकसित देशों के कान खड़े हो गए हैं। प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर इन सभी देशों के किसानों ने हजारों वर्षों से खेती के तरीके विकसित किए, औजार बनाए, जंगलों से खाने योग्य पौधे छांटे और उनकी खेती की, गैर परंपरागत किस्मों और ज्ञान को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संभालकर रखा - किसानों के इस महान योगदान को पश्चिमी देश नकारना चाहते हैं। इसीलिए वे 'किसान' उसे ही मानते हैं जो वज्रमूर्ख हो! शायद ही कोई भारतीय किसान इस कसौटी पर खरा उतरें। हां कुछ कृषि-अधिकारी अवश्य इस क्षेत्र में उसके प्रतिद्वंदी बन सकते हैं।

कनाडा के बीज-व्यापारियों की एक संस्था 'कनाडियन सीड ट्रेड एसोसिएशन' ने एक पुस्तिका प्रकाशित की है, 'सीड्स फॉर ए हंगरी वर्ल्ड' यानी 'भूखी दुनिया के लिए बीज'। इसमें 'किसानों के अधिकार' की मांग की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा गया है कि 'इसका मतलब तो करीब-करीब उस ढपोरशंखी बात में यकीन करना हुआ कि दुनिया में पहले-पहल खेती करने वाले किसान यह जानते थे कि वे फसलों की प्रजातियों को मानव-कल्याण के लिए सुधार रहे हैं।'

इसमें संदेह क्यों हैं। उन्होंने फसलें चुनीं और खेती की। अगली फसल के लिए ऐसी बालियों से और भुट्टों से बीज चुने जो उनकी नजर में दूसरों से अच्छे थे। शायद अधिक मोटे और अधिक दानों वाली बालियां चुनी गईं, ताकि अगली बार ऐसी ही बालियां लगे। इस तरह वे अवश्य ही दुनिया के पहले किसान ही नहीं, पहले फसल-प्रजनक (ब्रीडर) भी थे। 'इकोनोमिस्ट' पत्रिका ने सन् 1954 में ही इन आदि-कृषकों को मान्यता प्रदान करते हुए लिखा था कि 'पौध-प्रजनन के असली

विशेषज्ञ तो वे लाखों इंसान हैं, जिन्हें अपने पुरखों से ऐसी 'हरी अंगुलियां' मिलीं हैं कि वे सदियों से उनका इस्तेमाल करके खेती में सुधार करते आ रहे हैं।'

लेकिन जब किसानों के अधिकार को लेकर बहस छिड़ी तो किसान कौन है इसकी पहचान को लेकर ही विवाद छिड़ गया। इस बात को इतना तूल दिया गया कि रोम में खाद्य और कृषि के आनुवंशिक संसाधनों के आयोग की पांचवी बैठक ही ठप्प हो गई। इस 'कमीशन ऑफ जेनेटिक रिसोर्सेज फॉर फूड एण्ड एग्रीकल्चर' की स्थापना संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ ए ओ) ने की है।

इस आयोग की बैठक पांच दिनों तक चली और पांचों दिन इस पांचवी बैठक में किसान के बारे में पंचों की एक राय नहीं बन पायी और किसान की परिभाषा गढ़ने का मुद्दा छाया रहा। लेकिन कार्रवाई ठप्प हो जाने के बावजूद दो फायदे हुए। एक तो भारत से गए कुछ कृषि वैज्ञानिक किसानों के अधिकारों को लेकर इतना अड़े और इतना लड़े कि इस मामले में वे सहज ही समस्त विकासशील देशों के अगुआ बन गए। इस पूरी बहस के दौरान अधिकतर अमीर देश मुंह फुलाए बैठे रहे और उनसे किसी भी भारतीय तर्क का कोई जवाब देते नहीं बना। दूसरी उपलब्धि यह हुई कि यूरोपी संघ ने किसान विरोधी गुट से अपना नाता तोड़ लिया, हालांकि शुरू-शुरू में वह भी विकासशील देशों के रूख का विरोध कर रहा था।

इससे यह बात फिर से साफ हुई कि विकसित देश यह तो चाहते हैं कि जीन-समृद्ध विकासशील देश अपनी प्राकृतिक सम्पदा के द्वार उनके लिए खोल दें और वे उसका मुक्त और मुफ्त में पूरा उपयोग करें, लेकिन वे 'कन्वेंशन ऑन बायोलोजीकल डाइवर्सिटी' पर हस्ताक्षर नहीं करना चाहते। जैव विविधता के इस समझौते की सबसे महत्वपूर्ण शर्त यह है कि जो भी विकसित देश इस जैवविविधता का लाभ उठाकर कमाई करें, उसका बराबर का हिस्सा उन देशों को भी दें, जिनकी जैवविविधता का इस्तेमाल किया गया है। असल में यह हिस्सा उन समुदायों-आदिवासी, किसानों और कबीलों को दिया जाना है, जो सदियों से इस जैवविविधता का संरक्षण करते रहे हैं। इसमें जैवविविधता के संरक्षण और संवर्धन तथा उपभोग से जुड़ी तकनीकों को इन देशों और समुदायों को देना और जैवविविधता के संरक्षण के प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए और उनका खर्च उठाने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय निधि बनाने की भी शर्त रखी गई है।

खाद्य का निर्यात करने वाले पांचों बड़े देश इन शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे किसानों के अधिकारों की बात भी इसीलिए नकार रहे हैं। ये देश हैं अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रांस और अर्जेंटीना। इन्हें किसानों की तो कोई चिंता नहीं है लेकिन, अपनी बीज-कंपनियों और बायोटेक कंपनियों की गहरी चिंता है कि उनके हितों की रक्षा के लिए किसानों के अधिकारों की कुर्बानी देनी पड़े तो दे दी जाए। बौद्धिक सम्पदा के अधिकार के चालू ढांचे में किसानों के अधिकार नहीं समाते, इस बात का पूरा फायदा उठाकर इन अमीर देशों ने एक अघोषित युद्ध छेड़ा हुआ था। और कैसी विडम्बना है कि बाकी दुनिया एक तरफ और ये पांचों देश दूसरी तरफ, फिर

भी इनका पलड़ा भारी है। अर्जेंटिना तो खैर भूमंडलीकरण का शिकार होकर खुद ही भुखमरी का शिकार हो गया है और लोग वहां चूहे खाने पर मजबूर हो गए हैं। अमीर देश सोचते हैं कि एक बार किसानों के अधिकार लागू हो गए तो बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों और बायोटेक कंपनियों के मुनाफे में कटौती होने लगेगी। यही इन देशों को मंजूर नहीं है। इनके हाथ और टांगें दोनों ही बड़ी लम्बी हैं। हाथ किसी का भी गला दबा सकते हैं और टांगे कहीं भी अड़ सकती हैं। इसीलिए तमाम कोशिशों के बावजूद किसानों के अधिकारों का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर स्वीकृत नहीं हो रहा है, हालांकि इसे विकासशील देशों और यूरोपीय संघ का समर्थन प्राप्त है। किसान विरोधी अमीर देश यह तर्क देते हैं कि जिन्होंने जैवविविधता की रक्षा की वे आधुनिक किसान नहीं हैं। फिर उन्हें किसलिए मुनाफे में से हिस्सा मिले। जो जैसे-तैसे गुजारा करने वाले छोटे किसान हैं, उन्हें वे इस लायक नहीं समझते कि वे जैवविविधता के संरक्षक माने जाएं।

किसानों के अधिकारों के पक्ष में तर्क देने वाले किसानों में ऐसा भेद नहीं करते। इनके लिए तो सभी किसान बस किसान हैं, उनका विश्व की जैवविविधता पर उससे संबंधित, परंपरागत ज्ञान पर, सामूहिक अधिकार है। इस अधिकार से उन्हें बीजों को बचाकर रखने, उनका अगली फसलों के लिए इस्तेमाल करने, आदान-प्रदान करने और उनमें सुधार करने का अधिकार भी स्वतः मिल जाता है।

अमीर देशों में किसान हैं ही कितने? मुट्ठीभर। वे भी लगातार अपने खेत बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बेच-बेचकर दूसरे धंधों में जा रहे हैं। इसलिए भी इन देशों के ऊपर किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई खास दबाव नहीं है। अमरीका ने तो तय कर लिया है कि जनसंख्या के अगले सर्वेक्षण में वह किसानों की गिनती करेगा ही नहीं।

इस तरह अमरीका में तो खेती पूरी तरह 'निगमीय खेती' (कोर्पोरेट फार्मिंग) में बदल जाएगी और किसान नामक जीव हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगा।

इसीलिए अमरीका हर अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपने गुर्गों को सिखा-पढ़ाकर भेजता है कि जब भी किसानों के अधिकारों की बात उठे, वे उसमें टांग अड़ाएं। वह किसानों के अधिकारों की बात मात्र एक अवधारणा (कंसेप्ट) मानता है। इससे अधिक कुछ नहीं। जून 1996 में जब जर्मनी के लिपजिग शहर में खाद्य और कृषि संबंधी पौध आनुवंशिक संसाधनों के आयोग की चौथी बैठक हुई थी, तो उसमें अमरीका ने किसानों के अधिकारों के बारे में नियम-उपनियम बनाने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उसे सिफारिशों में शामिल नहीं होने दिया। इसके कुछ महीने बाद सितम्बर 1996 में मोण्ट्रियल में 'कन्वेंशन ऑन बायोलोजिकल डाइवर्सिटी' (सी बी डी) की तकनीकी सलाहकार समिति की बैठक सम्पन्न हुई तो कृषि में आनुवंशिक विविधता में कटाव की तो चर्चा हुई, लेकिन अमेरिका ने यहां भी किसानों के अधिकारों की चर्चा दबा दी। नवम्बर 1996 की बैठक में अमरीका को केवल इस बात के लिए धन्यवाद दिया गया

कि उसने इस विषय पर विभिन्न विचारों और सुझावों के बारे में एक शोधपत्र प्रस्तुत होने दिया।

पांचों खाद्य निर्यातक देशों की संस्था ओ ई सी डी ने बार-बार यह बात दुहराई है कि डब्ल्यू टी ओ के अलावा और किसी भी संगठन को विश्व व्यापार से जुड़े किसी भी मुद्दे को उठाने की इजाजत नहीं है। और डब्ल्यू टी ओ किसानों के अधिकारों को स्वीकार नहीं करता। दूसरे शब्दों में अपने यहां किसानों का नामोनिशान मिटाने के लिए कटिबद्ध ये देश विकासशील देशों में टिकाऊ खेती के बुनियादी ढांचे को मटियामेट करना चाहते हैं। हमारे अपने देश में भी खाता-पीता अधिकारी वर्ग उद्योगों और बड़े देशों के इशारों पर नाचता हुआ, किसानों के हितों की उपेक्षा करने में बड़ी शान समझता है। इसलिए जहां अमरीका ने आंखें तरेरीं कि वे फौरन अपना मुंह सी लेते हैं। बस वैज्ञानिक और कुछ स्वैच्छिक संगठन ही किसानों की आवाज बुलंद कर रहे हैं। सभी विकासशील देशों से उठ रही ये आवाजें अमीर देशों के कानों पर जूं रेंगा पायेंगीं, तो किसानों के अधिकारों को जिस तरह भारत सरकार को अपने कानून में जोड़ना पड़ा है, वैसा ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी जरूर करना पड़ेगा।

11. खाद्य-असुरक्षा का व्यापार

डब्ल्यू. टी. ओ. (वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन) अर्थात् विश्व व्यापार संगठन के नियमों के अधीन कृषि आयात पर दी गई छूट का असर देश के कई हिस्सों में नजर आ रहा है। जिसे 'ईश्वर का देश' कहा जाता है, उस केरल पर इसकी मार पड़ने लगी है। जब से सरकार ने बाहर से कृषि-उत्पादों के आयात के द्वार खोले हैं तमाम विदेशी सस्ती चीजों से केरल पट गया है और उसकी कृषि संबंधी अर्थव्यवस्था डगमगा रही है। चाहे पॉम ऑयल आ रहा हो, या नारियल का तेल या फिर रबड़ या कॉफी, केरल की सामाजिक-आर्थिक दशा के हर पहलू पर इसका भारी नकारात्मक दबाव पड़ रहा है।

नारियल के दाम 10 रुपए प्रति नारियल से गिरकर दो रुपए प्रति नारियल हो गए हैं। रबड़ के दाम 60 रुपए से गिरकर 16 रुपए प्रति किलोग्राम पर आ गए। कॉफी 1999 में 58 रुपए प्रति किलोग्राम बिक रही थी, जो कि सन् 2000 में 30 रुपए प्रति किलोग्राम पर आ गई। मसालों को भी नहीं छोड़ा गया। काली मिर्च की कीमत 2600 रुपए प्रति क्विंटल से गिरकर 1300 रुपए प्रति क्विंटल हो गई। डब्ल्यू.टी.ओ की मार अकेले केरल पर ही नहीं पड़ी। उभरते भूमण्डलीय व्यापारिक परिदृश्य का प्रभाव दूसरे राज्यों पर भी पड़ा है, लेकिन केरल पर इसका असर बहुत ज्यादा पड़ रहा है। इससे पहले कि हम इसकी तह में जाएं, हमें यह समझना होगा कि बाजार अपना असर कैसे डालता है और फिर यह देखेंगे कि इस बदलती बाजार दुनिया से भारतीय कृषि किस तरह प्रभावित हो रही है। अब तो भारत सरकार के कृषि मंत्रालय और वाणिज्य मंत्रालय दोनों ने यह मान लिया है कि जिस अंतर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था का दिलासा दिया गया था कि वह सबके लिए खोल दी जाएगी और सबको फायदा होगा, वैसा कुछ भी नहीं हुआ। सभी उम्मीदों पर पानी फिर गया। 2 जनवरी 1995 को डब्ल्यू.टी.ओ. की स्थापना हुई और उसके बाद के छह वर्षों में व्यापार में विश्व स्तर पर उदारीकरण से भारत को एक तरह से कुछ भी नहीं मिला। उसकी उपलब्धियां शून्य हैं।

यहां हम डब्ल्यू.टी.ओ. से किए गए समझौते से कृषि के क्षेत्र में 'क्या खोया-क्या पाया' का पूरा हिसाब लगा कर देख सकते हैं। डब्ल्यू.टी.ओ. ने अपने सदस्य-देशों से तीन बातें मनवाई थीं एक तो यह कि वे अपने बाजार खोल दें, दूसरे घरेलू स्तर पर विश्व व्यापार को बढ़ाया दें और तीसरे निर्यात के लिए रियायतें दें। इरादा यह था कि कृषि संबंधी विश्व व्यापार में वर्तमान पाबंदियों में ढील दी जाए और उन्हें हटाया जाए। छह साल बाद हम देखते हैं कि इन तरीकों से केवल विकसित देशों की कृषि और कृषक ही लाभान्वित हुए हैं, विकासशील देशों को तो बस टेंगा ही मिला है। विकासशील देशों के लिए समय तय कर दिया गया कि इस तारीख तक

अपने घरेलू बाजारों को बाहर से कृषि-वस्तुएं और तमाम दूसरी चीजों को आने देने के लिए खोल दें। इन चीजों पर बाहर की सरकारें अपने निर्यातकों को इतनी रियायत देती हैं कि वे बड़ी सस्ती बिकती हैं। अब अमीर देश अपनी सस्ती चीजें गरीब देशों के बाजारों में पटक रहे हैं।

बाजारों में पहुंच

संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ) ने हाल में यह नतीजा निकाला है कि विकासशील देशों से किए जा रहे कृषि निर्यात में कोई खास बढ़ोतरी नहीं हुई। अमीर देशों ने अपने यहां भेजे गए माल पर भारी चुंगी लगा रखी थी, जो आज भी जारी है और इसमें कोई ढील नहीं दी गई। इस तरह विकासशील देशों का माल विकसित देशों में डब्ल्यू.टी.ओ की बदौलत ज्यादा बिका हो, इसका कोई सबूत नहीं मिला। विकसित देशों ने खासतौर से अनाज, चीनी और डेरी-उत्पादों पर अब भी भारी महसूल ठोक रखे हैं। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए स्वच्छता और पौध-स्वच्छता (फाहटोसेनिटरी) के नाम पर जो कसौटियां तय की गई हैं, वे खासतौर से फल-फूल-सब्जियां वगैरह बागवानी के उत्पादों और मांस और उससे बने व्यंजनों के निर्यात में बाधा डाल रहे हैं, क्योंकि इस कड़ी कसौटियों पर अपना माल खरा उतार पाएं यह विकासशील देशों के वश का नहीं है। अपनी चुंगी और महसूल अगर विकसित देश घटा भी रहे हैं तो चुन-चुनकर। जैसे कि अमुक देशों के लिए अमुक माल पर ढील है और बाकी के लिए नहीं। इससे भी विकासशील देश अपने कृषि निर्यात को बढ़ा नहीं पा रहे। यही नहीं 36 देशों को यह भी सुविधा दी गई है कि अगर बाहर से आने वाली कृषि वस्तुओं के कारण उनके घरेलू बाजार पर कोई बुरा असर पड़ता है, तो वे घरेलू बाजार की सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान कर सकते हैं। ये छत्तीसों देश विकसित देश हैं, जिन्हें डब्ल्यू.टी.ओ. ने यह खास रियायत दे रखी है। विकासशील देशों में सस्ती चीजें पटकने से उनके घरेलू बाजार चौपाट हो रहे हों तो डब्ल्यू.टी.ओ. को उनकी कोई फिक्र नहीं है। हिन्दुस्तान को 1 अप्रैल 2001 को कृषि वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाना या कम करना था। लिहाजा भारत महान ने अपने बाजार खोल दिए। बाहर से दूध का पाउडर आने लगा, खाने का तेल आने लगा, चीनी और चाय आने लगी, सुपारी और सेब आने लगे। यहां तक कि नारियल भी आने लगे। इनमें से किसी भी चीज की हमारे देश को जरूरत नहीं है। हमारे यहां अमीर उपभोक्ता विदेशी माल के लिए इतने लालायित रहते हैं कि बाहर से आए पनीले बेस्वाद सेबों को भारतीय सेबों से दुगने-ढाई गुने दामों पर भी खरीद रहे हैं।

घरेलू रियायतें

इधर विकासशील देशों से कहा जा रहा है कि अपने किसानों को दी जा रही रियायतें घटाओ। इसका फायदा जाहिर है कि आखिर में विकसित देशों के किसानों को ही होगा, और हो रहा है। अमेरिका में कुल 6 लाख के करीब किसान हैं और सन् 1996

से वहां की सरकार ने उनको मिलने वाली सब्सिडी यानी रियायत की दर में 700 गुना बढ़ोतरी की है। सन् 1998 से 2000 के बीच अमेरिका ने अपने किसानों को कोई नुकसान न हो इसके लिए पहले जो रियायतें मिल रही थी, उनके अलावा 26 अरब डालर की रियायतें और ज्यादा दी हैं। मतलब यह कि घटाने के बजाय बढ़ाई हैं। एक डालर 45 रुपए का भी लगाओ तो रुपए में ये रियायतें करीब 1200 अरब की हुईं। इन बड़े देशों में कुल मिलाकर कृषि-रियायतों में आठ प्रतिशत की वृद्धि की गई है, जो सन् 1998 में ही 363 अरब डालर तक पहुंच गई थी।

भारत से दोहरी चाल चली जा रही है। एक ओर तो डब्लू.टी.ओ. कह रहा है कि ए.एम.एस. के तहत भारत अपने किसानों को अभी और रियायत दे सकता है। ए.एम.एस. यानि एग्रीग्रेट मेजर्स ऑफ सपोर्ट का मतलब है— किसानों को दी जानी वाली कुछ रियायतों का पैमाना या पलड़ा जो अभी हमारे देश में ऊपर उठा हुआ है। इसे नीचे लाने के लिए किसानों को अभी और रियायतें दी जानी हैं। दूसरी ओर विश्व बैंक से दबाव डलवाया जा रहा है कि ढांचागत सुधारों को लागू करो और किसानों को खाद, बीज, पानी, बिजली पर दी जाने वाली रियायतें एकदम घटा दो या हटा दो। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विश्व बैंक के सामने हमारी सरकारें पहले ही घुटने टेक चुकी हैं। और हम कितनी रियायत देते हैं—56 करोड़ किसानों को एक अरब डालर यानी 45 करोड़ रुपए। यानी एक किसान को साल भर में एक रुपए से भी कम की रियायत

अनुमान तो यह लगाया गया था कि विकसित देशों में घरेलू तौर पर समर्थन न मिलने पर अनाजों की खेती वहां बंद हो जाएगी और केवल विकासशील देश ही अनाज वाली फसलें उगाएंगे। मगर वैसा हुआ नहीं। उल्टे यह खतरा पैदा हो गया है कि अमीर देश अपने किसानों पर इसी तरह रियायतें बरसाते रहे, और गरीब देशों को कृषि-निर्यात के लिए 'क्यूआर' (क्वान्टिटिव रेस्ट्रिक्शन) यानी मात्रात्मक रुकावटें दूर करनी पड़ी तो भारत जैसे को बाहर से सस्ती दरों पर मिल रहा अनाज मंगाने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

भारत के कृषि मंत्रालय ने भी यह स्वीकार किया है कि नियम बनाए जाने के बावजूद विकासशील देशों को उन नियमों का फायदा नहीं मिल रहा। सोचा गया था कि विश्व व्यापार में लाए जा रहे बदलाव पुरानी चली आ रही धांधलियां हटाएंगे और कृषि-निर्यात में अमीर देशों का भारी पलड़ा गरीब देशों से कृषि निर्यात बढ़ाकर झुका दिया जाएगा। मगर वैसा कुछ भी नहीं हुआ। उल्टे भारत में बाहर से आने वाली कृषि वस्तुओं की मात्रा बढ़ती जा रही है। सन् 1995 में विदेशों से 50 अरब रुपए की कृषि वस्तुएं आई थीं। सन् 1999-2000 में 150 अरब रुपए की कृषि वस्तुएं हमारे देश में बाहर से मंगाई गईं। यानी तिगुनी बढ़ोतरी। अकेले खाने का तेल मंगाने पर ही हमें 9 हजार करोड़ यानि 90 अरब रुपए खर्च करने पड़े। इस तथाकथित न्यायसंगत व्यापार प्रणाली का उच्चकोटि की कृषि-वस्तुएं बनाने वाले भारतीय व्यापारियों को भी यह फायदा नहीं मिला कि उनकी कृषि-उत्पादों के लिए विश्व-बाजार में ऊंची कीमत मिलती। सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंडी में तमाम-वस्तुओं की कीमतें लगातार गिरती जा रही हैं।

इस तरह एक ओर तो कृषि-उत्पादन में गिरावट आ रही है और दूसरी ओर खाद्यान्न उन तक नहीं पहुंच रहा, जो भूखे हैं। इसलिए हमारी कृषि और खाद्य नीति में जरूर कोई खोटा है। आज भी हमारी 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि और उससे जुड़े धंधों पर ही निर्भर है। किसानों में से 70 प्रतिशत मात्र 0.39 हेक्टेयर जमीन प्रति किसान के आसरे ही गुजारा कर रहे हैं। अब समय आ गया है कि हम इस कृषि-असंतुलन को सुधारें। चाहे भले ही यह कड़वी बात किसी के गले नहीं उतरे, लेकिन सच्चाई यही है कि भारत हरित-क्रांति से पहले के उसी जमाने की ओर मुड़ चला है, जब हम खाद्यान्न के मामले में इतने विपन्न थे कि 'जहाज से मुंह' की हालत में जी रहे थे, जब अमेरिका या आस्ट्रेलिया या कनाडा से जहाज में गेहूं भरकर आता और पूरे देश में बंटता तभी चूल्हे जल पाते थे और पेट भर पाते थे। अभी इस गिरावट की रफ्तार बहुत धीमी है और वितरण-व्यवस्था की खामियों से गोदामों में लगे अनाज के ढेर हमें उनके परे की वास्तविकता को देखने नहीं दे रहे। उस समय के राजनीतिक नेतृत्व ने अपनी दूरदर्शिता से हमें खाद्यान्न की पराधीनता से मुक्त करके आत्मनिर्भरता की मंजिल तक पहुंचाया। आज भी हमारे प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की उस घोषणा का सभी स्वागत करना चाहेंगे कि "और सब कुछ रुक जाए, खेती इंतजार नहीं कर सकती।"

सुरक्षित अन्न भंडार

यूरोपी देशों में दूसरे महायुद्ध के बाद ही सस्ती दरों में जनता को राशन मुहैया करना बंद कर दिया गया था। लेकिन भारत जैसे जनसंख्या-बहुल और कंगाली से भरे देश के लिए 'पीडीएस' यानी खाद्यान्न की 'जन-वितरण-प्रणाली' बेहद जरूरी है। इसको शुरू करने का उद्देश्य यही था कि सबको समान कीमत पर बुनियादी राशन मिलता रहे, नहीं तो अनाप-शनाप कीमतें चढ़ जाती और गरीब भूखों मर जाते। यही कारण है कि भारत में 50 साल पहले यह प्रणाली लागू कर दी गई थी।

डब्लू टी ओ ने भी खाद्य-सुरक्षा के लिए विकासशील देशों को यह छूट दी है कि वे अपने यहां 'सुरक्षित अन्न भंडार' बना सकते हैं। इसमें शर्त यही है कि राशन की 'कीमतें तय करते समय खरीद-मूल्य और अन्तर्राष्ट्रीय मंडी में चल रहे भावों का ध्यान रखा जाए।' इसी के साथ यह भी कहा गया कि 'राशन किन लोगों को सस्ता दिया जाएगा, यह पोषण संबंधी जरूरतों के हिसाब से तय किया जाए।'

भारत में सुरक्षित अन्न भंडार की प्रणाली अकाल से बचने की रणनीति के तहत शुरू की गई थी, ताकि राशन की सस्ती दुकानों का पूरे देश में जाल बिछाकर सबको सस्ता अन्न उपलब्ध करा दिया जाए। साथ ही सूखे के समय सुरक्षित अन्न भंडार के कारण अकाल से बचा जा सके। यह प्रणाली बड़ी कारगर साबित हुई है। फिर भी इस तरह की कोशिशों की गई कि राशन की सस्ती दुकानें खत्म कर दी जाएं।

खाद्य सुरक्षा पेटी

डब्लू टी ओ के समझौते में कुछ खास 'बाक्स' या 'पेटी' निर्धारित की गई हैं, जिनमें खाद्य सुरक्षा पेटी (फूड सिक्योरिटी बाक्स) जोड़ने का प्रस्ताव खास तौर से विकासशील देशों ने रखा है। यूरोपीय संघ भी खाद्य सुरक्षा संबन्ध की जरूरतों को पूरा करने के लिए विकासशील देशों के इस प्रस्ताव का समर्थन कर रहा है। इसके रहते विकासशील देश बाहर से सस्ते अन्न निर्यात के आर्थिक दुष्प्रभावों से बचे रहेंगे। लेकिन इधर खाद्य-सुरक्षा की एक नई परिभाषा गढ़ी जा रही है, जिसे अनदेखा करने के बड़े भारी दुष्परिणाम होंगे। अमेरिका ने इसकी शुरुआत की और ब्रिटेन ने आंखें मींचकर उसका समर्थन कर दिया कि " 'खाद्य-सुरक्षा' को 'खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता' से जोड़ने की जरूरत नहीं है।" खाद्य-सुरक्षा की नई परिभाषा यह है कि उसे तो बाहर से सस्ता अनाज खरीदकर भी बरकरार रखा जा सकता है।

भारत जैसे विकासशील देशों को यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि उनके लिए इस तरह की खाद्य-सुरक्षा नहीं चलेगी कि जब कमी पड़ी तो बाहर से खरीद लिया और खाद्य-संकट को दूसरों के सहारे टाल दिया। एक तो इस तरह के बाहरी आसरे पर हमेशा भरोसा नहीं किया जा सकता। दूसरे भारत में तो कृषि, अर्थव्यवस्था की रीढ़ है और बाहर से सस्ता अनाज लाकर हम अपने किसान को नुकसान पहुंचाएंगे और अर्थव्यवस्था को पूरी तरह ढहा देंगे। यह ध्यान देने की बात है।

विकासशील देशों में खाद्य-सुरक्षा तभी टिकाऊ रह सकती है जब वे कृषि-वस्तुओं और खाद्यान्नों पर व्यापारिक रोक और मात्रात्मक प्रतिबंध जारी रखें। ऐसी कोई भी धारा नहीं है जिसे लागू करके विकासशील देशों की खाद्य-सुरक्षा को भी बचाया जा सके और बड़े देश इनके बाजारों में पहुंच बनाकर अपने किसानों को निर्यात के लिए सब्सिडी भी देते रहें और घरेलू रियायतें भी।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि-समझौते के तहत मुक्त विश्व व्यापार जारी रखते हुए भी विकासशील देशों की खाद्य-सुरक्षा बनाए रखने के बस दो ही तरीके हैं—

एक, तो यह कि विकासशील देशों को यह अधिकार दिया जाए कि वे जब चाहें मात्रात्मक प्रतिबंध लगा दें। यह एक बहुपक्षीय प्रणाली में ही संभव है। इसलिए कृषि समझौते की जो समीक्षा इन दिनों हो रही है, उसमें इसको शामिल किया जाना चाहिए।

दूसरे, सब्सिडी, घरेलू रियायतें और कृषि-निर्यात की सब्सिडी को भी मात्रात्मक प्रतिबंधों से जोड़ा जाए। यानि जब तक विकसित देश इन रियायतों को अपने यहां घटाकर शून्य पर न ले आएँ, तब तक विकासशील देश अपने यहां निर्यात पर मात्रात्मक प्रतिबंध जारी रखें। बाहर से सस्ती कृषि-वस्तुएं आने पर रोक लगाए बगैर विकासशील देश अपने किसानों और अपने खाद्य-सुरक्षा को तथा अर्थव्यवस्था को कायम नहीं रख सकते।

11. बरबादी का नुस्खा

भारत ही क्या कोई भी विकासशील देश हो अपनी जनता की खाद्य-सुरक्षा और पोषण-सुरक्षा को दांव पर लगाने का खतरा मोल नहीं ले सकता। फिर भारत में तो दुनिया के एक तिहाई भूखे, गरीब और कुपोषित लोग बसते हैं। सैन्य दृष्टि से भी भारत की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण है। कुछ अर्थशास्त्री जिस तरह के नुस्खे पेश कर रहे हैं और कह रहे हैं कि खाद्य क्षेत्र को बाजार के भरोसे छोड़ दो, शायद अपनी संकुचित दृष्टि से यह नहीं देख पा रहे हैं कि खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता खो देने के कितने खतरनाक नतीजे होंगे। खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता बनाए रखना देश को महंगा पड़ता है और जहां से भी सस्ता मिले वहां से अनाज खरीद लेना खाद्य सुरक्षा बनाए रखने का सस्ता सौदा है, यह दलील निहायत खोखली दलील है और एक तरह से भारत की बरबादी का नुस्खा है।

हम शायद यह भूल गए हैं कि ज्यादा दिन नहीं हुए, आजादी के समय भारत की खाद्य स्थिति यह थी कि जहाज से अनाज आता, तब हम अपनी जनता का पेट भर पाते थे। जब हम भीख का कटोरा लेकर कभी कनाडा, कभी अमरीका तो कभी आस्ट्रेलिया के सामने गिड़गिड़ाते थे, तब वे हमारे कटोरे में अनाज टपकाते थे। कितनी शर्मनाक हालत थी हमारी। सन् 1951 में देश के समी भागों में सूखा पड़ा तो तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को 20 लाख टन की अनाज सहायता मांगनी पड़ी थी। उस समय नेहरू जी ने कहा था, अर्थात् 'जिंदगी की इस बुनियादी जरूरत (अनाज) के लिए विदेशों का मुंह ताकना कितना खतरनाक हो सकता है, यह अहसास मुझे अब जितनी शिद्दत से महसूस हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। जब हम खाद्यान्न के मामले में आत्म-निर्भर हो जाएंगे तभी प्रगति और विकास कर सकेंगे।'

नेहरू जी के बाद जो नेता प्रधानमंत्री बने उन्हें भी खाद्यान्न में परावलम्बी होने के कारण नीचा देखना पड़ा। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने वियतनाम पर अमरीकी आक्रमण को 'एन एक्ट ऑफ एग्रेसन' (हमले की कार्रवाई) कहकर जो सच बोला तो तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति लिण्डन जॉनसन इतने खफा हो गए कि उन्होंने भारत को सबक सिखाने का फैसला किया। सबक यह था कि भारत को 'पी एल-480' के तहत अनाज से भरा जो जहाज आ रहा था, उसे भारत की ओर न भेजकर दूसरे रास्ते पर मोड़ दिया गया। उस समय हमारे पास देश को दो हफ्ते खिलाने लायक अनाज बचा था और उस समय के कृषि व खाद्य मंत्री सी. सुब्रहमण्यम् को सचमुच गिड़गिड़ाना पड़ा, तब वह जहाज लिण्डन साहब ने भारत की ओर आने दिया। क्या

हमारे अर्थशास्त्री और नीति-निर्माता भारत को फिर उसी अपमानजनक स्थिति में धकेलना चाहते हैं?

शांति के लिए खाद्यान्न

खाद्यान्न को बाहर से मंगाना राष्ट्रीय उत्पादन क्षमता को किस तरह नष्ट करता है? इसका जवाब खाद्यान्न उत्पादन में क्रांति लाने के लिए 'शांति के नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित कृषि वैज्ञानिक डा. नॉर्मन बोलोग से बढ़कर और कौन दे सकता है। नॉर्मन बोलोग के कारण ही एशिया, उत्तरी अफ्रीका और मध्य अमरीका के अनेक देश भुखमरी के चंगुल से निकल पाए। उनका कहना है कि 'पी एल-480' के 'फूड फॉर पीस' कार्यक्रम के अधीन मिले अनाज का कई जगह असर पड़ा। दक्षिण अमरीका में मैंने यह कई बार देखा। वहां ऐसे कई छोटे देश हैं जहां गेहूं कोई अच्छी फसल साबित नहीं हुई, क्योंकि वहां की जलवायु और मिट्टी गेहूं की खेती के काबिल नहीं है। लेकिन ऊंचे पहाड़ी इलाकों में आलू के अलावा छोटे किसान अपनी फसल प्रणाली में गेहूं की खेती को उपयुक्त पाकर उसकी खेती करने लगे। लेकिन जब संकट काल के बिना भी उनके देश में बाहर से गेहूं आता रहा, तो फिर उनका गेहूं कौन खरीदता। इस तरह एंडीज की पहाड़ियों में गेहूं की खेती करने वाले किसानों को पी एल-480 के तहत आ रहे गेहूं के कारण नुकसान उठाना पड़ा।

जिम्बावे की मिसाल है कि वहां खाद्यान्न की कमी पूरी करने के लिए किसानों को समर्थन मूल्य देने और खाद्यान्न के आयात पर रोक लगाने से फायदा हुआ। सन् अस्सी के बाद के दशक के पूर्वार्द्ध में जिम्बावे के इस कदम के कारण जब किसानों को समर्थन मूल्य मिला, तो वहां मक्का की पैदावार तिगुनी बढ़ गई और इस बढ़ोतरी में सबसे बड़ा योगदान छोटे किसानों का था। सन् 1989 तक जिम्बावे में 15 लाख के करीब फालतू मक्का इकट्ठी हो गई, जिसका एक अंश मलावी और मोजाम्बिक जैसे देशों की खाद्यान्न की कमी पूरी करने के लिए उन्हें दिया गया। लेकिन खाद्यान्न सहायता के नाम पर सस्ते दामों पर भेजी गई मक्का के कारण उस क्षेत्र के देशों में मक्का की कीमतें औंधी आ पड़ी थीं और जिम्बावे को अपनी फालतू मक्का काफी घाटा उठाकर सस्ते में बेचनी पड़ी। तम्बाकू जैसी नगदी फसल को निर्यात कर सकें, इसके लिए इन देशों को तमाम रियायतें दी गईं, क्योंकि सिगरेट बनाने वाली और बेचने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सस्ता कच्चा माल मिलता रहे, यह ज्यादा जरूरी था। नतीजा यह हुआ कि बहुत से किसान मक्का की खेती छोड़कर तम्बाकू की खेती करने लगे। उधर सूखे ने जिम्बावे को फिर से भूख के चंगुल में धकेल दिया और सन् 1992 में मक्का की पैदावार इतनी घट गई कि वहां 14 लाख टन मक्का की कमी हो गई।

सस्ता खाद्यान्न आयात

उरुग्वे दौर की वार्ताओं में ब्राजील को यह समझा जा रहा था कि उसने कृषि-व्यापार के मुद्दे पर जीत हासिल की है। लेकिन ब्राजील के किसानों पर वहां लागू हुए उदारीकरण का कितना उल्टा असर पड़ा और वे भी हाशिए पर चले गए, यह ध्यान

देने योग्य है। छोटे किसानों के लिए वहां खेती करना दूभर हो गया और बहुत से किसान अपने खेत बेच-बेच कर शहरों में जाकर मजदूरी करने लगे।

इसी तरह फिलीपिन्स, अर्जेंटीना, मैक्सिको और यमन भी उदारीकरण की कठोर मार की जाती जागती मिसाल हैं। वहां बाहर से सस्ता अनाज मंगाया गया तो उसका सीधा असर छोटे किसानों पर पड़ा। साथ ही लाखों खेतिहर मजदूरों की पूरक जीविका और गरीबी से जूझने की प्रक्रिया प्रभावित हुई। उनके लिए रोजगार के अवसर कम हो गए। आमदनी घट गई। रोजी-रोटी मिलना मुश्किल हो गया। सस्ता अनाज और गोमांस उनके बाजारों में पटक कर यूरोपी देशों के अनाज व्यापारियों ने सहारा के निचले इलाके के देशों में खेती की मजबूत बुनियाद खोखली कर दी, यह सबको पता है।

यहां हमारे महा-अर्थशास्त्री बाहर से सस्ता अनाज मंगाने की दलीलें दे रहे हैं और उधर पर्यावरण और आर्थिक दृष्टि दोनों तरह से मंहगा पड़ने पर भी अमरीका अपने यहां अन्न उत्पादन बढ़ाता जा रहा है।

सन् 2010 तक अमरीका दुनिया में सबसे अधिक खाद्यान्न पैदा करने वाले देश की हैसियत तक पहुंचने का सपना देख रहा है। उसे बड़ी तकलीफ है कि भारत गेहूं और दूध दोनों की पैदावार में उसे पीछे छोड़कर प्रथम स्थान पर पहुंच गया है। अमरीका के प्रौद्योगिकी मूल्यांकन के कार्यालय ने यह गणना की है कि जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से अमरीका यह सपना पूरा कर लेगा। हिसाब लगाया गया है कि सन् 2010 तक अमरीका में मक्का, सोयाबीन और गेहूं की पैदावार क्रमशः 21 प्रतिशत और 35 प्रतिशत बढ़ जाएगी। इसका मतलब यह होगा कि अमरीका अपने देश में तो इनकी खपत कर नहीं पाएगा और फालतू अनाज को तीसरी दुनिया के बाजारों में पटकने के लिए उन पर भारी दबाव बनाएगा और हर तरह के हथकंडे अपनाएगा।

खाद्य और कृषि के क्षेत्र में जो लोग मुक्त व्यापार की पेशकश करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि मुक्त व्यापार का मतलब होगा कि जिन्हें उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है, उन तक रोटी-चावल नहीं पहुंच सकेगा। भारत में कृषि-निर्यातकों, निर्यात-योग्य फसल पैदा करने वालों और बड़े व्यापारी किसानों को मदद देने की कोशिशें पूरे जोर पर हैं। देखा जाए तो मुक्त कृषि-व्यापार की वकालत उस समय की जा रही है, जब भारत में गेहूं, धान का दुफसली क्षेत्र पैदावार में आए ठहराव की समस्या से आक्रान्त है। जबकि हमारे देश का खाद्यान्न भंडार इन्हीं दो फसलों की अधिक पैदावार के कारण भरा रहता है। और सन् 2001-2002 में तो छह करोड़ टन के आसपास पहुंच गया और सबके लिए सिरदर्द बन गया। सरकार के पास रखने के लिए जगह नहीं। व्यापारी खरीदने को तैयार नहीं। अगर हमारे धान-गेहूं क्षेत्र में किसान इन फसलों की खेती छोड़कर दूसरी फसलें उगाने लगे तो हमारी कृषि टिकाऊपन और खाद्यान्न में हमारी आत्म-निर्भरता दोनों ही खतरे में पड़ जाएंगे। हमारे कृषि-क्षेत्र पर मंडराते इस संकट पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए अभी दिया नहीं गया।

जब से भूमंडलीकरण और उदारीकरण हमारे सोच पर हावी हुए हैं, तब से सरकार का सारा ध्यान कृषि व्यापार को बढ़ाने में लगा हुआ है। वह विदेशी पूंजी-निवेश और निर्यात भी कृषि व्यापार में बढ़े, इसकी कोशिश कर रही है। ऊपर से देखने में इसमें कोई खराबी नहीं नजर आती। मगर गहराई से आंके तो खराबी ही खराबी है। इसमें इस बात की अनदेखी की गई है कि कृषि-उत्पादन और गरीबों के लिए अपनी जीविका की सुरक्षा के लिए रोजगार के अवसर, इन दोनों में गहरा जुड़ाव है। उनकी आमदनी बढ़ने का और अपनी भूख मिटाने का एक यही जरिया है। जब से खेती में मुनाफा घटा है, गांवों से शहरों की ओर आबादी का पलायन बढ़ा है। ऐसी आशंका प्रकट की गई है कि सन् 2010 तक गांवों से शहरों की ओर पलायन में इतनी बढ़ोतरी होगी कि ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस इन तीनों देशों की जनसंख्या के बराबर ग्रामीण लोग गांव छोड़कर शहरों में जा बसेंगे। ग्रामीण अर्थव्यवस्था अभी तक कृषि पर आधारित रही है। लोग खेत छोड़कर चल देंगे तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था का क्या होगा? यही है बरबादी का खतरा।

खाद्य-व्यापार का भूमंडलीय कूड़ाघर

हमारे देश में जिस तरह घटिया अनाज और दूसरी जिनसे पटकी जा रही हैं, उससे लगता है कि अमीर देश भारत को खाद्य व्यापार का भूमंडलीय कूड़ाघर बनाने में तुले हुए हैं। जो कहीं न खपे उसे भारत के बाजारों में पटक देते हैं।

खाद्य वस्तुओं के गुणवत्ता संबंधी मानकों के बारे में भारत सरकार की ढील अमीर देशों के इस घटिया रूख को और बढ़ावा दे रही है। तभी तो अमरीकी कृषि विभाग ने अमरीका के तिलहन उत्पादकों की रक्षा के लिए भारत को निशाना बनाने की कोशिश की। यूरोप में जब अमरीका का जीमांतरित खाद्यान्न नहीं आने दिया गया तो अब अमरीका की कोशिश है कि किसी न किसी बहाने वह इस 'जी एम फूड' को भारत के बाजारों में खपा दे। उधर यूरोपी संघ ने तो भारत से मूंगफली का यूरोप में निर्यात करने पर इस बहाने से पाबंदी लगा दी थी कि भारत की मूंगफली में अफलाटॉक्सिन नामक यौगिक का अंश अधिक है। लेकिन इधर भारत अमरीका से पराजीनी सोयाबीन की लगभग दस लाख टन मात्रा खरीदने के लिए लगभग तैयार हो गया था। इस तरह भारत के खाद्य व्यापार के बारे में अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में एक तरह का गलत संदेश पहुंचा। हमारे देश की मूंगफली में अफलाटॉक्सिन की मात्रा हमेशा ही ज्यादा होती हो ऐसा नहीं है। जब मूंगफली की खुदाई से पहले ही बरसात हो जाये तो नमी में अफलाटॉक्सिन पैदा करने वाली फफूंदी पैदा हो जाती है। लेकिन सभी मूंगफली-उत्पादक क्षेत्रों में फिर भी ऐसा नहीं होता कि कुसमय वर्षा हो। अफलाटॉक्सिन को कैंसर जनक पाया गया है। लेकिन मूंगफली को गरम करने, भूनने या तलने पर यह यौगिक नष्ट हो जाते हैं। इस तरह एकाध नमूने में अफलाटॉक्सिन की अधिक मात्रा पाए जाने या फिर हमारे ही वैज्ञानिकों के शोधपत्रों के आधार पर यूरोप ने यह कदम उठाया था, जो गलत था और जिसका विरोध किया जाना चाहिए था।

अमरीका से सोयाबीन की किस्में पहले भी आती रही हैं। लेकिन उस समय तक पराजीनी सोयाबीन का विकास नहीं हुआ था। हमारे देश में कम से कम पांच विदेशी खरपतवार अमरीका से आयातित सोयाबीन के साथ आ चुके हैं। इसी तरह 11 विषाणु-रोग भी अमरीकी सोयाबीन के साथ भारत में घुस आए। हमारा पौध-संगरोध का महकमा इतना ढीला है कि इस तरह की दुर्घटनाएं होती ही रहती हैं। संबंधित अधिकारियों की मुट्टी गरम करके आप इस देश में रोगों और कीटव्याधियों से भरी पौध-सामग्री से लेकर नशीली सामग्री तक कुछ भी ला सकते हैं। सोयाबीन के साथ आए दो विषाणु-रोग तो करोड़ों रूपयों की फसलों का हर साल नुकसान करने लगे हैं। लगता है जैसे एक अघोषित जैव-युद्ध कृषि के क्षेत्र में चल पड़ा है कि खाद्यान्न, बीज और पौध सामग्री के साथ बीमारियां और कीटव्याधियां भारत में भेज दो, ताकि दुनिया की सबसे बड़ी हरी ताकत बनने का भारत का सपना कभी पूरा न हो।

इधर हमारे देश का हाल यह है कि जिस सोयाबीन की हमें कतई जरूरत नहीं है, उसे हम खरीदने के लिए तैयार हो गए। यही नहीं बल्कि गुजरात के काण्डला बंदरगाह पर अमरीकी सोयाबीन के भण्डारण की अलग से व्यवस्था करने के लिए भी राजी हो गए। यहां पर सोयाबीन की छंटाई भी की जानी थी कि उसके साथ कोई खरपतवार देश में प्रवेश न कर जाए। लेकिन विषाणुओं को भला कैसे रोका जाता? क्या यह जिम्मेदारी खुद अमरीका की नहीं होनी चाहिए थी कि वह इसकी जांच करे कि भारत को भेजी जा रही सोयाबीन की खेप में सोयाबीन का हर दाना रोगमुक्त हो और उसके साथ किसी भी तरह के खरपतवारों के बीज न मिले हों। लेकिन यहां तो अमरीका की मुफ्त में यात्रा करने के लिए लालायित हमारे प्रशासकों का यह हाल है कि 'जी हुजूर आप क्यों तकलीफ उठाएं। यह काम तो हम अपने यहां करा लेंगे।' पराजीनी सोयाबीन का तो शायद हमारे अधिकारियों को यह भी पता न हो कि यह होती क्या है!

ऐसी दरियादली हम अमरीकी खाद्य-व्यापारियों के लिए ही नहीं दिखा रहे, बल्कि इससे पहले आस्ट्रेलिया के खाद्य-व्यापारियों के प्रति भी दिखा चुके हैं। बाहर से घटिया खाद्यान्न को बेरोकटोक देश में आने देने का हमें खासा अच्छा अनुभव है। आस्ट्रेलिया से ऐसा गेहूं आने दिया गया, जिसके साथ देश में 44 खरपतवारों के बीज भी आ गए, जिसमें से 15 विदेशी थे। ये खरपतवार इतने खतरनाक होते हैं कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इनको 'आइ ए एस' यानि 'इनवेजिव एलियन स्पीशीज' कहा जाता है, फिर भले ही यह नाम हमारे आइ ए एस अधिकारियों के गले न उतरे। ये आक्रामक विदेशी प्रजातियां आर्थिक दृष्टि से कितना नुकसान पहुंचाती हैं, इसका अंदाजा लगाना ही मुश्किल है।

इधर हम घटिया अनाज भी आने दे रहे हैं और उधर दूसरे देश हमारे यहां से निर्यात हो रही खाद्य वस्तुओं पर तरह-तरह के बहानों से पाबंदियां लगा रहे हैं, ताकि बाकी दुनिया भी यह मान ले कि भारत में गुणवत्ता का कोई ख्याल नहीं रखा जाता। यूरोपी संघ ने बांग्लादेश और मैडागास्कर से यूरोपी संघ को निर्यात किए जा रहे 'समुद्री खाद्य' (सी फूड-झींगा, मछली, केकड़े, सीपी वगैरह) पर पाबंदी लगा दी। इसके लिए तोहमत यह लगाई गई कि इन देशों के 'सी फूड' में घातक जीवाणु (बैक्टीरिया) मौजूद

हैं, जो मानव-स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा कर सकते हैं। कहीं किसी नमूने में साल्मोनेला या *विब्रियो* प्रजाति के जीवाणु मिल गए होंगे, तो बस लगा दो पाबंदी। भारत से यह सी-फूड बर्फ में जमा-जमाया भेजा जाता है। एक-एक समुद्री खाद्य की छंटाई की जाती है। निर्यात के लिए सही आकार के रोगमुक्त समुद्री खाद्य को ही चुना जाता है। फिर भी एकाध नमूना गलत जा सकता है। लेकिन उसके आधार पर पूरी खेप वापस कर दी जाए या फिर निर्यात पर पाबंदी लगा दी जाए, यह एकदम गलत है।

यूरोपी संघ समय-समय पर अपने खाद्य मानक बदलता भी रहता है। अब ये सभी देश अपने खाद्य मानकों को बराबर इतना कड़ा बना रहे हैं कि छोटे-मोटे देश तो उनका पालन ही नहीं कर सकते।

असल में अधिकतर देशों के पास पर्यावरण और स्वास्थ्य की दृष्टि से मान्य खाद्य मानकों के अनुपालन का बुनियादी ढांचा भी नहीं है। इस बुनियादी ढांचे में वे मंहगे उपकरण भी शामिल हैं जिनमें से खाद्य वस्तुएं गुजारी जाएं तो मशीन बता देती है कि किसमें रोग या कीड़ा लगा है। उसको निकालकर फेंक दिया जाता है। इस तरह चुनिंदा रोगमुक्त खाद्य वस्तुएं ही निर्यात की जाती हैं। मसलन जापान ने एक ऐसा उपकरण बनाया है जिसमें से एक-एक आम गुंजरता है ताकि उसके साथ 'फ्रूट पलाई' (फल मक्खी) या उसके अंडे न चले जाएं या फिर कोई और रोग या कीड़ा न चला जाए। इसका मतलब यह हुआ कि ये बड़े-बड़े देश हमें यह बता रहे हैं कि अगर हमें अपना माल बेचना है, तो उस माल को जांचने की हमारी मशीनरी खरीदो। यह मशीनरी कितनी मंहगी होगी, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। लाखों डालर का खर्च है। खर्च नहीं सकते तो विश्व बैंक से कर्जा लो। इस तरह एक दुश्चक्र है, जिसमें हम डालर कमाने के लालच में फंसते जा रहे हैं।

आस्ट्रेलिया के गेहूं में जब खरपतवारों के बीज पाए गए और गेहूं घटिया निकला तो मीडिया में छपी रिपोर्टों से घबराकर आस्ट्रेलिया को यह तो कहा गया कि 'प्लीज हमारे साथ ऐसा मत करो' लेकिन आस्ट्रेलिया के गेहूं व्यापारियों के साथ उनसे गेहूं खरीदने का करारनामा रद्द नहीं किया गया। तभी तो अमरीकी गेहूं विक्रेताओं और अन्य अनाज व्यापारियों में इतनी हिम्मत आ गई कि वे भारत के वाणिज्य मंत्रालय से कहने लगे कि विश्व व्यापार संगठन ने खाद्य वस्तुओं के आयात-निर्यात के लिए गुणवत्ता संबंधी जो मानक तय किए हैं, वे अमरीकी खाद्य वस्तुओं पर लागू न किए जाएं। 'पी एल-480' के अंतर्गत साठादिक में भी ऐसा ही घटिया गेहूं आता रहा और उसके साथ 'फ्लेरिस माइनर' यानी 'गेहूं का मामा' या 'गुल्ली डंडा' जैसा खतरनाक खरपतवार आ गया, जिसने गेहूं की खेती को अरबों रूपयों का नुकसान पहुंचाया है, और जिसकी रोकथाम कर पाना आज तक किसानों के लिए सिरदर्द बना हुआ है। अगर मीडिया हल्ला न मचाता तो इस बार भी हम अमरीका की प्रार्थना को उसका हुक्म मानकर घटिया खाद्य वस्तुएं आने देते।

हालत यह है कि हमसे तो अमीर देश बिल्कुल शुद्ध और साफ-सुथरी खाद्य वस्तुएँ चाहते हैं और खुद हर तरह का घटिया माल पटकना चाहते हैं। दुर्भाग्य यह है कि हमारे अधिकारीगण इस तरह की हरकतों को बर्दाश्त करते रहते हैं। आस्ट्रेलिया से जब कहा गया कि वह गेहूँ को साफ करके भेजे तो उसने साफ मना कर दिया कि लेना है तो जैसा है, वैसा ही लो।

दूसरी ओर भारत, बांग्लादेश और मैडागास्कर ने अपने 'सी फूड' के निर्यात पर से पाबंदी हटाने की गुजारिश की तो यूरोपी संघ ने पाबंदी हटाने से मना कर दिया। बहुत गिड़गिड़ाने पर गुणवत्ता की शर्त कायम रखी गई और उसका कड़ाई से अनुपालन करने के अनुबंध के बाद ही यूरोपी संघ ने मुख्यतः अपने विक्रेताओं और उपभोक्ताओं के दबाव से पाबंदी हटाई।

हम तो इन मामलों में दरियादिली दिखाने का भारी खामियाजा भुगत रहे हैं। 'लैण्टाना कमाश' यानी कुरी नामक खरपतवार भी भारत में बाहर से ही आया था और अब पूरे देश में छा गया है। इसने हमारे वनों और कृषि को कितनी हानि पहुंचाई है, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। अकेले 'फेलोरिस माइनर' (गुल्ली डंडा) ने गेहूँ की पैदावार में 25 प्रतिशत की कमी करके भारी नुकसान पहुंचाया है। क्या अमरीका और आस्ट्रेलिया इस नुकसान की भरपायी करेंगे, क्योंकि यह खरपतवार दूसरे खरपतवारों के साथ अमरीकी और आस्ट्रेलियाई गेहूँ के साथ ही भारत में आया था।

असल में सन् 1988 में बीज कानून में बदलाव और नई राष्ट्रीय बीज नीति लागू करने के बाद से, जब से बाहर बीज और पौध सामग्री आने लगी तो लगभग 40 हानिकारक कीटव्याधियां भारत में प्रविष्ट हो चुकी हैं। इनमें से अधिकतर फूलों और सब्जियों के बीजों के साथ आई हैं। इनकी रोकथाम के तरीके खोजने में ही भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आइ सी ए आर) को करोड़ों रुपये और अपने वैज्ञानिकों का अमूल्य समय खर्चना पड़ेगा। हमारे फूल-उत्पादकों और सब्जी-उत्पादकों का जो करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष का नुकसान होगा, वह अलग।

इन बीजों को मंगाने वालों के खिलाफ सरकार कोई कार्रवाई नहीं कर पाती, इसका रहस्य समझ पाना मुश्किल नहीं है। असल में तमाम संबंधित सरकारी विभाग खाद्य-व्यापारियों, बीज-व्यापारियों वगैरह के लिए ही काम करते हैं। किसानों की या कृषि अनुसंधान की उन्हें कतई चिंता नहीं है। कृषि-वैज्ञानिक तो खासतौर से उनकी आंखों की किरकिरी हैं, क्योंकि उनकी वजह से खाद्यान्न का उत्पादन इतना बढ़ गया है कि हमारे नौकरशाहों के लिए सिरदर्द बन गया है। वे भी क्या सुनहरे दिन थे, जब हमारे प्रशासक कहां से गेहूँ खरीदें, यह तय करने के लिए तमाम दुनिया के देशों में जाया करते थे। उनकी पूरी कोशिश है कि भारत का कृषि अनुसंधान और भारतीय कृषि चौपट हो जाए और वे सुनहरे दिन फिर लौट आएं। गेहूँ ही नहीं सब खानपान बाहर से आने लगे। फिर भले ही पराजीनी खाद्य वस्तुएँ हों या उनके साथ तमाम तरह के खरपतवार और कीटव्याधियां आ जाएं। हम यह भूल जाते हैं कि केवल एक बीमारी—लेट ब्लाइट यानी पछेती अंगमारी ने आयरलैण्ड में आलू का अकाल पैदा कर दिया

था और भुखमरी फेला दी थी। जब पंजाब में बाहर से घटिया किस्म का दूध पाउडर बाहर से आया तो वहां उस पर तुरंत रोक लगाई गई। यह एक अच्छी पहल थी। ऐसी ही कड़ाई हम ऐसी सभी खाद्य वस्तुओं और खाद्यान्न के लिए बरतें जो बाहर से आ रही है, तो अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सही संदेश पहुंचेगा कि भारत खाद्य-व्यापार में नौसिखया नहीं है, जिसे कुछ भी बेचकर मूर्ख बनाया जा सके।

कारगिल का सबक

पाकिस्तान ने भारत की सीमा में 8 से 10 किलोमीटर तक अंदर घुस कर कंकरीट के बंकर बना लिए जो तीन-तीन मंजिल तक जमीन से नीचे बनाए गए थे, और हमें ज़रा भी भनक नहीं पड़ी। कारगिल की पहाड़ियों में सबसे ऊंचाई पर पाकिस्तानी सेना की इस करतूत का पता हमें पूरे पांच महीने बाद चला! तब हम चेतें और इस क्षेत्र से पाकिस्तानी सेना को खदेड़ने के लिए लगभग 30,000 सैनिकों को जूझना पड़ा। इनका साथ दिया हमारे तोपखाने और वायुसेना ने। हमने पाकिस्तानियों को सबक तो सिखा दिया, लेकिन हमें भी इससे सबक लेना चाहिए कि यह कैसे हुआ कि दुश्मन इतने अंदर आकर तिमंजिले बंकर बना रहा था और हमारी चौकसी, जासूसी और सूचना-तंत्र सब सुन्न पड़े रहे।

कुछ ऐसा ही विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) की सदस्यता लेने के पांच साल बाद हुआ। मराकेश में इस संगठन की स्थापना के पांच साल बाद भारत इस असमान अंतर्राष्ट्रीय समझौते के सामाजिक-आर्थिक बोझ तले कराह रहा था। उस समय जो भी इसके लिए जिम्मेदार थे, उन्होंने निहायत ही गैर-जिम्मेदाराना ढंग से जहां कहा गया, वहां हस्ताक्षर कर दिए और खुद ही उस वैज्ञानिक तथा आर्थिक अलगाव को दावत दे दी, जिसके बारे में हमें पहले ही विश्लेषण कर लेना चाहिए था और समझ लेना चाहिए था कि इस भूल के क्या नतीजे होंगे। जब सब कुछ हो गया तब हमारे वाणिज्य सचिव यह स्वीकार करते हैं कि हाँ, हमसे सचमुच भूल हुई। लेकिन अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत। भूल स्वीकार कर लेने के बाद भी हम डब्ल्यू. टी. ओ. के जाल में इस तरह फंसते जा रहे हैं कि सामाजिक और आर्थिक विनाश हमें निगलने को मुंहबाए खड़ा है।

पाकिस्तान के अघोषित युद्ध में शहीद हुए जवानों के परिवार जिस त्रासदी से गुज़र रहें होंगे, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है और पूरा देश उन शहीदों के प्रति नतमस्तक है, जिन्होंने देश की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर किए। लेकिन डब्ल्यू. टी. ओ. की सदस्यता ग्रहण करके देश का भविष्य गिरवी रख देने की कीमत तो पूरे 100 करोड़ से अधिक परिवारों को चुकानी होगी, बल्कि अगली पीढ़ियां न जाने कब तक चुकायेंगी और हमें कोसोंगी कि हमने उनके बारे में कुछ भी नहीं सोचा। यह भयंकर भूल भारत के 'आर्थिक-उद्योग-राजनीतिक' क्षेत्र के नेताओं और अधिकारियों ने क्यों की, इसके बारे में साफ़-साफ़ कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन इतना ज़रूर पता है कि कुछ अधिकारी तो इस भूल की एवज में इनाम के तौर पर डब्ल्यू. टी. ओ. के सचिवालय में मोटे वेतन वाली नौकरियां पा गए और कुछ को दूसरे अंतर्राष्ट्रीय

संगठनों में जगह दी गई। इस तरह भारत की प्रभुसत्ता और अस्मिता को बेचकर इन लोगों ने स्वार्थों की पूर्ति की। आज देश के सामने जो आर्थिक संकट आ खड़ा हुआ है, वह इसी भूल का नतीजा है।

इस तरह कारगिल युद्ध और डब्ल्यू. टी. ओ. से प्रेम के बीच और भी समानताएं हैं। जिस तरह पाकिस्तानी घुसपैटिए बिना किसी प्रतिरोध के पांच महीने तक हमारी सीमा का उल्लंघन करते रहे, उसी तरह डब्ल्यू. टी. ओ. के समझौते को भी बिना किसी सार्थक प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया गया। कुछ संगठनों ने आवाज़ उठायी भी तो उन्हें अनसुना कर दिया गया। कहा जाता है कि सीमा पर चल रही दुश्मन की गतिविधियों का हमारी खुफिया एजेंसियों को पता था, लेकिन उन्हें संबंधित अधिकारियों को बताया ही नहीं गया और गुप्त रखा गया। कुछ ऐसा ही डब्ल्यू. टी. ओ. के मामले में भी हुआ कि सब कुछ गुपचुप किया गया और हमने क्या-क्या मान लिया है, यह सब देश की जनता से पूरे पांच साल तक छुपाया गया। कारगिल में जब घुसपैठ बर्दाश्त से बाहर हो गयी, तब हम चेत और सैनिक कार्रवाई शुरू की। डब्ल्यू. टी. ओ. से प्यार के नतीजे जब नज़र आने लगे, तब हमने स्वैच्छिक संगठनों की आवाज़ सुननी शुरू की और उनसे सलाह लेने लगे कि बताओ अब क्या करें। लेकिन इस बीच इतना नुकसान हो चुका था, जिसकी भरपाई करना मुश्किल है।

शायद यह हमारे देश की आदत बन चुकी है। देश माने हमारे अधिकारीगण और राजनेताओं की। वे हर बात को छुपाकर रखते हैं, ताकि इनकी गलतियां जनता को पता न चलें। चाहे देश की रक्षा का सवाल हो, विदेशी मामले हों या फिर आर्थिक गुलामी लादी जा रही हो, सरकार घनघोर चुप्पी साधे रहती है। और जब नुकसान हो जाता है, तब चीर-फाड़ शुरू होती है कि क्यों हुआ, कैसे हुआ, किसने किया, रोका क्यों नहीं। अक्सर इस बहस की शुरुआत वही लोग करते हैं, जो इसके लिए जिम्मेदार हैं और अपने बड़बोलेपन के कारण दंडित किए जाने की बजाय उन्हें पदोन्नतियां और दूसरे इनाम-इकराम मिल जाते हैं। इस तरह यह दुश्चक्र चलता रहता है।

सूचना पर नियंत्रण की इस प्रणाली की जितनी भर्त्सना की जाये, कम है। उदाहरण के लिए डब्ल्यू. टी. ओ. शुरू से ही यह दबाव बनाए था कि भारत अपने पेटेण्ट-कानून बदले। लेकिन सरकार ने देश को इस बारे में अंधेरे में रखा। अक्सर इस तरह की बातें दूसरे देशों में कार्यरत स्वैच्छिक संगठनों से पता चलती हैं। बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों को लेकर भी एक तरह की चुप्पी और गोपनीयता बरती गई। जब कि ये दोनों मुद्दे ऐसे हैं, जिन पर सरकार को खुली बहस करानी चाहिए थी और जनता को पूरी तरह से बताना चाहिए था कि क्या देश के हित में है और क्या देश के हित में नहीं है। कानून को बदलने से बहुत पहले यह काम शुरू कर देना चाहिए। लेकिन सरकार की बजाय यह जिम्मेदारी स्वैच्छिक संगठनों ने निभाई। लेकिन वही हुआ कि तब तक काफी देर हो चुकी थी। अब तो नया पेटेण्ट कानून संसद ने पारित कर दिया है उनके कुछ फायदे भी होंगे और नुकसान भी। लेकिन अब कुछ किया नहीं जा सकता। जो भी होगा भुगतना पड़ेगा :- उद्योगों को भी और कृषि-क्षेत्र को भी।

सच्चाई छुपाकर सरकार हमें यही बताती रही कि व्यापार संबंधी प्रतिबंध हटा देने से देशी उद्योगों पर कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा। यह भी कहा गया कि किसानों के हितों की रक्षा की जायेगी। एक के बाद दूसरे वित्तमंत्री और कृषि मंत्री इस बात को दुहराते रहे। यह भी कहा गया कि भुगतान के संतुलन की खराब स्थिति के बावजूद भारत बाहर से आने वाली सस्ती चीजों से कोई असर नहीं पड़ेगा, क्योंकि इनको मंगाने के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा ही उपलब्ध नहीं होगी। सरकार के इस आश्वासन की हां में हां मिलाने में हमारे वे सभी संगठन भी पीछे नहीं रहे, जो स्वयं को उद्योगों का हितरक्षक बताते हैं, जैसे कि 'कोन्फीडरेशन ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्री' (सी. आइ. आइ), फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की) और 'एसोसिएशन ऑफ चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' (एसोचैम)। इन्होंने डब्ल्यू. टी. ओ. के सामने घुटने टेक देने का क्या असर पड़ेगा, इसके बारे में कोई गंभीर विश्लेषण किया हो, तो ये ही जानें।

सूअरों को बना रहे हैं फैक्टरी

मुर्गी, टर्की, और शुतुरमुर्ग के बाद अब नंबर आया है सूअरों का। अमरीका में सूअर का मास बहुत पसंद किया जाता है। हालांकि मांसाहार मोटापे सहित तमाम रोगों की जड़ है, फिर भी इसकी लत छूटती नहीं। लेकिन मांसाहार के लिए मुर्गी, टर्की और शुतुरमुर्ग को जल्दी मोटा करने के लिए उनमें वृद्धि-हार्मोन बढ़ाने वाले जीन (वंशाणु) डाले गए तो उनका इन निरीह प्राणियों पर बुरा असर पड़ा। मुर्ग की टांगें मांसाहरियों को अधिक स्वादिष्ट लगती हैं, इसलिए चार टांगों वाली नस्ल बना डाली। बेचारा चार टांगों पर चल भी नहीं पाता। संतुलन बिगड़ जाता है। सूअर में पहले तो उसे जल्दी मोटा करने वाला जीन डाला गया और अब उसे पूरी फैक्टरी बनाना चाहते हैं।

अमरीका में सूअर के मास का उद्योग तेजी से बढ़ा है। उसे वित्तीय सहायता देने की बैंकों में होड़ लगी है। वित्तीय संगठनों ने भी अपनी तिजोरियां खोल दी हैं कि चाहे जितना ऋण ले जाओ। अमरीका का यह सूअर-उद्योग अपने पांव पूरी दुनिया में पसार रहा है। मांसाहरी व्यंजन बनाने वाली अनेक कंपनियां अपनी श्रंखला भारत सहित अनेक देशों में खोल चुकी हैं। ये लुभावने विज्ञापन देकर लोगों को मांसाहार की ओर खींच रही हैं, फिर भले ही उनका स्वास्थ्य चौपट हो जाये। उधर अमरीका में स्वास्थ्य और पर्यावरण संबंधी कानून बड़े कड़े हैं और उनका पालन न करने पर भारी जुर्माना और सजा दोनों का डर रहता है। इसलिए बहुराष्ट्रीय मांसाहार कंपनियां अमरीका में भी उत्तर की जगह दक्षिण-पश्चिम अमरीका में अपनी फैक्ट्रियां लगा रही हैं। साथ ही भारत जैसे विकासशील देशों में अपना कारोबार चलाने के लिए बेचैन हैं। इस तरह पर्यावरण को प्रदूषित करने वाला और स्वास्थ्य को चौपट करने वाला उनका मांस-व्यापार धीरे-धीरे भारत में बदबू फैला रहा है। मैकडोनल्ड नामक बहुराष्ट्रीय खाद्य कंपनी पर गोमांस का इस्तेमाल करने के कारण विदेश में बसे एक भारतीय ने ही दावा ठोक दिया था। मैकडोनल्ड को माफी मांगनी पड़ी कि ऐसी गलती आगे नहीं करेगा।

उत्तरी अमरीका में सूअर का मांस अधिकाधिक पैदा करने का एक कार्यक्रम बनाया गया। ब्रिटेन में 'मैड काउ' रोग फैला, क्योंकि गायों को कसाईखाने की छीजन उनके दाने में मिलाकर खिलाई गई थी। इस तरह लाखों गाय वहां मार दी गईं। इसके बाद ब्रिटेन से गोमांस का निर्यात बंद हो गया। इसका फायदा उठाने के लिए अमरीका ने सूअर का मांस निर्यात करने की तैयारी जोर-शोर से शुरू कर दी। यह सिलसिला सन् 1996 से शुरू हुआ। उस समय अमरीका 426 हजार टन सूअर-मांस निर्यात कर रहा था। सन् 2001 तक इसे बढ़ाकर 940 हजार टन तक पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया। इसमें चीन और भारत में बिक्री बढ़ाना शामिल था। यों भी एशिया में मांसाहार का प्रचलन बढ़ रहा है। पश्चिम में मांसाहार के दोष उजागर होने पर बच्चे भी शाकाहार पसंद करने लगे हैं और इधर आमदनी बढ़ते ही लोग मांसाहार की ओर मुड़ने लगते हैं। सो, इस बढ़ते मांस-बाजार पर अमरीका के सूअर-व्यापार की निगाह लगी है। हमारा मांस-उद्योग अमरीका की देखा-देखी अपनी कमाई बढ़ाने के चक्कर में निरीह प्राणियों की हिंसा बढ़ाने से बाज नहीं आ रहा।

अमरीका ने तो इस लालच में तमाम सामाजिक और नैतिक मूल्यों को उठाकर फेंक दिया है। वह इंसानों का पेट काटकर जानवरों को मोटा करने के सस्ते तरीके ढूंढ रहा है। इसके लिए कसावा यानी टेपिओका नामक कंद में थोड़ा हेर-फेर करके उसे सूअरों को खिलाया जा रहा है। जबकि कसावा 35 करोड़ अफ्रीकियों का मुख्य आहार है। भारत में यह केरल तथा अन्य दक्षिणी इलाकों में उगाया और खाया जाता है। क्योंकि अब तक आदमी खाते थे, सो कसावा पर अनुसंधान में अमरीका ने, न तो कभी ध्यान दिया और न पूंजी लगाई। लेकिन जब से कसावा को सूअर खाने लगे हैं, कसावा की पैदावार बढ़ाने में अमरीका की दिलचस्पी बढ़ गई है।

इसके साथ ही अमरीका की 'नेशनल पोर्क कौंसिल' सूअर के मांस का प्रचार करने पर करोड़ों डालर खर्च कर रही है। हर साल एक बड़ा मेला लगाकर यह 'पोर्क कौंसिल', 'पोर्क-सुंदरी' का चयन करती है। 'अमरीकी पोर्क सुंदरी' स्कूलों में, जन-सभाओं में, क्लबों में, होटलों में जगह-जगह सूअर के मांस का प्रचार करती है। सूअर पालन करने वाले किसान नहीं हैं, बल्कि मांस-व्यापारी हैं। वे स्वयं को 'पोर्क प्रोडक्शन इंजीनियर' कहते हैं। जब फैक्टरी चलाते हैं, तो इंजीनियर ही तो हुए। अमरीका और अन्य देशों के सूअर-प्रजनक ऐसी नस्लें विकसित करने में लगे हैं, जो ज्यादा वजनी हों और कम उम्र में ही ज्यादा मोटी हो जाएं। जब से जीनियोगरी की तकनीक हाथ लगी है, इन प्रयासों में तेजी भी आ गई है और विविधता भी। इस तरह सूअर को बेहतर फैक्टरी बनाया जा सकेगा।

अंग्रेजी के उपन्यासकार हुए हैं जॉर्ज ओर्वेल। इनका मशहूर उपन्यास है, 'एनीमल फार्म'। लेकिन आज की असलियत ने 'एनीमल फार्म' की कल्पना को बहुत पीछे छोड़ दिया है। अब तो एक-एक बाड़े में एक-एक लाख सूअर भर दिए जाते हैं। बेचारे हिल-डुल भी नहीं सकते। सात मीटर लंबे और सात मीटर चौड़े बाड़े में 500 सूअर रखना बड़ी आदर्श सूअर-पालन-व्यवस्था मानी जाती है। छोटे पलंग यानी (खटोले) से भी एक तिहाई जगह में हर सूअर को पूरी जिंदगी गुज़ारनी पड़ती है। इस आदर्श

‘बेकन बिन’ प्रणाली के प्रचारकों का कहना है कि सूअर घूमेगा—फिरेगा तो मोटापा कम हो जाएगा। हिलेगा—डुलेगा नहीं तो जल्दी मोटा होगा और वजन बढ़ेगा। इन्हें पूरी तरह अंधेरे में भी रखा जाता है।

इन्हें हार्मोन और एण्टीबायोटिक की भारी खुराकें दी जाती हैं। इनके बाड़े में कीटनाशी दवाएं छिड़की जाती हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि सूअरों पर दया करके उन्हें बीमारियों और कीटव्याधियों से बचाया जाता है। मतलब तो यह है कि हर सूअर स्वस्थ रहे, ताकि जल्दी मोटा हो और ज्यादा मांस पैदा करे। इन सूअरों की मींगनी में कीटनाशियों के अवशेष भारी मात्रा में मिले हैं।

नीदरलैण्ड में तो जनता ने इसका इतना विरोध किया कि सरकार को सूअर—पालने के बेहतर विकल्प खोजने पड़े। इनकी मींगनी को बढ़िया खद बताकर भारत को बेचने की भी कोशिश की गई। वह गायों का गोबर भी बेचने की फिराक में है। इस गोबर में भी कीटनाशियों के अवशेष और अन्य विषैले रसायन बहुतायत में हैं। इसका पता चलने पर इस साजिश का भेद प्रेस ने खोल दिया, नहीं तो भारत सरकार तो मींगनी और गोबर खरीदने से भी नहीं चूकती। अब सुना है कि नीदरलैण्ड डब्ल्यू. टी. ओ. की मदद ले रहा है कि यह कूड़ा किसी गरीब देश में फेंक सके।

इधर हमारा खाद्य—उद्योग भी भारत को खाद्य—फैक्टरी बनाने पर तुला है। भारतीय कृषि को ‘फूड—फैक्टरी’ में बदलने की कोशिश हो रही है। किसानों की बजाय कंपनियां खेती करेंगीं। पट्टे पर खेत लेंगीं। मनचाही फसलें उगाने के लिए कहेंगीं। वायदा करेंगीं कि पूरी फसल खरीदेंगे। जब फसल ज्यादा होने लगेगी तो कीमत कम लगायेंगीं। यह ‘कोर्पोरेट फार्मिंग’ यानी निगमीय कृषि चलने दी गई तो भारतीय कृषि और भारत के किसान दोनों चौपट हो जाएंगे और हमारी खाद्यान्न में आत्म—निर्भरता रसातल में चली जाएगी। पशुपालन के क्षेत्र में भी ऐसी तकनीकें लाई जा रही हैं, जो पशुओं के प्रति निर्भरता को प्रोत्साहन दें। बोवाइन सोमेटोट्रोपिन (बी. एस. टी) को बड़ी मुश्किल से रोका गया, नहीं तो भारत के दुधारू पशु कुछ समय तक अधिक दूध देकर बाद में बिलकुल बेकार हो जाते। सुना है कि अमरीका की देखा—देखी हमारे यहां भी सूअर—फैक्टरियां खुलने वाली हैं। केन्द्रीय कृषि मंत्रालय का पशुपालन विभाग जोर—शोर से योजना बना रहा है कि भारत सूअर के मांस के निर्यात में अग्रणी देश बने। अहिंसा के पुजारी कहे जाने वाले देश की आंखों पर लालच की पट्टी बांध कर बहुराष्ट्रीय कंपनियां इसे जिधर चाहें उधर हांक रही हैं।

ताकि श्वेत क्रांति फट जाए

नीदरलैण्ड्स से दूध, न्यूजीलैण्ड से चीज़ और अमरीका से मक्खन और घी— ये सब भारत के बाजारों में सरेआम बिकने लगेंगे। डब्ल्यू. टी. ओ. भारत पर काफी दिनों से कृषि और डेरी—उत्पादों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने के लिए कह रहा था और अब हम उसके सामने घुटने टेक कर वही करने को तैयार हो गए हैं, जो वह कराना चाहता है। इसलिए तमाम कृषि वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने के साथ—साथ

धीरे-धीरे सभी डेर-उत्पादों पर से भी मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने के लिए भारत सरकार तैयार है। अमरीका और यूरोप में तो दूध के पाउडर और मक्खन के पहाड़ खड़े हो गए हैं। खरीदार न मिलने और बाज़ार में दाम घटने से बचाने के लिए उन्हें यह सारा माल समुद्र में डुबोना पड़ता है। अब यह भारत के बाज़ारों में सस्ते में बिकता दिखेगा।

भारत की अर्थव्यवस्था में डेरी-उद्योग का भारी योगदान है। बाहर से डेरी-उत्पाद आने लगे तो घरेलू डेरी-उद्योग डूबेगा और उसके साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था को अपूरणीय क्षति पहुंचेगी। इस बारे में हमें कुछ उदाहरण मिले हैं, जिनसे सबक लेना चाहिए। कुछ समय पहले भारत ने बिना किसी चुंगी के बाहर से 17000 टन दूध-पाउडर आने दिया। इस सस्ते दूध-पाउडर के आने से पंजाब में तो हाय-तौबा मच गई। पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री प्रकाश सिंह बादल तुरंत दौड़े-दौड़े प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के पास पहुंचे और विनती की कि बाहर से आ रहे स्किमड मिल्क पाउडर पर कम से कम 60 प्रतिशत कस्टम ड्यूटी लगाएं। आखिरकार सरकार को द्विस्तरी सीमा-शुल्क घोषित करना पड़ा। लेकिन इस द्विस्तरी सीमा शुल्क को लागू करना कठिन हो गया। यह तय किया गया कि दूध पाउडर की पहली खेप, 10,000 टन तक तो 15 प्रतिशत सीमा शुल्क चुकाकर लाई जा सकती है और दूसरी खेप पर 60 प्रतिशत सीमा शुल्क देना होगा। इस दुहरी प्रणाली को भारत की सरकारी परिस्थितियों में किस तरह लागू किया जा सकेगा, यह तो सरकार जाने या भगवान जाने। कागज़ों में हर खेप पहली खेप ही बनी रहेगी और सीमा शुल्क में होने वाली बचत व्यापारियों और अधिकारियों के बीच बंट जाएगी। सबसे बड़ा खतरा यह है कि जो - 'आपरेशन फ्लड' भारत में दूध की नदियां बहाने लगा था, उन दूध की नदियों में दूध की बाढ़ अब बाहर से आयेगी। देशी दूध की बाढ़ के स्रोत धीरे-धीरे सूख जाएंगे।

राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड के संस्थापक और भारत में श्वेतक्रांति के जनक डा. वी. कुरियन ने इसके खिलाफ आवाज बुलंद की, भागदौड़ भी की लेकिन डब्ल्यू. टी. ओ. का हुक्म सिर-माथे पर लेने वाली सरकार कुरियन की गुहार कहां सुनती। हारकर राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड ने पूरी तरह से व्यापारिक कंपनी बनने की ठान ली और अमुल जैसी अनेक कंपनी बना डालीं और अपने दुग्ध-उत्पादों की बिक्री के लिए जोर-शोर से विज्ञापन बाज़ी शुरू कर दी। लेकिन देखना होगा कि बहुराष्ट्रीय डेरी उत्पादकों के सामने एन. डी. डी. बी. की नई पहल कहां तक टिक पाती है। सबसे बड़ी चिंता है उन पशुपालकों की, जिन्होंने डेरी-सहकारिता की और श्वेतक्रांति की बुनियाद डाली है।

हमारे यहां दूध की कोई कमी नहीं है। इस समय हम अमरीका को पीछे छोड़कर दूध पैदा करने के मामले में विश्व में प्रथम स्थान पर आ गए हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि घरेलू मांग पूरी करने के लिए हमें बाहर से दूध और अन्य डेरी-उत्पाद मंगाने पड़ें। सन् 1998-99 में ही 7 करोड़ 80 लाख टन दूध पैदा करके हमने अमरीका को पीछे छोड़ दिया था। अमरीका प्रतिवर्ष 7 करोड़ 20 लाख टन दूध पैदा करता है। लेकिन जहां अमरीका और यूरोप में डेरी-उद्योग पर भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्ज़ा है,

भारत में यह प्रगति सहकारी क्षेत्र में हो रही है। लाखों पशुपालक इन्हीं सहकारी समितियों के सदस्य हैं और अधिकतर बहुत छोटे पशुपालक हैं। इनका दूध हर रोज़ इकट्ठा करके प्रशोधित किया जाता है। दूध और दूध-उत्पादों की बिक्री से होने वाले मुनाफ़े में इन सबका हिस्सा होता है। इनके लिए डेरी व्यापार नहीं, रोजी-रोटी का साधन है। इनमें से अधिकतर भूमिहीन हैं। इनकी आजीविका-सुरक्षा डेरी पर ही टिकी है। उधर पश्चिमी देशों में कृषि से होने वाली नगद आमदनी का 20 प्रतिशत डेरी-व्यवसाय से ही मिलता है।

हमें दूध-उत्पादन में आत्मनिर्भरता एक दिन में नहीं मिल गई। पूरे तीस साल लगे, तब भारत विश्व का सर्वाधिक दूध पैदा करने वाला देश बन पाया। सन् 1969-70 में 'ऑपरेशन फ्लड' के नाम से सहकारी-क्षेत्र में दूध की पैदावार बढ़ाने की प्रायोजना शुरू की गई थी। उस समय भारत का डेरी-उद्योग बुरी हालत में था। इस दारुण स्थिति से उबरने के लिए डेरी-सहकारिता का विशाल जाल बिछाया गया। इन सरकारी-समितियों के सदस्य भी पशुपालक होते हैं और संचालक भी पशुपालक। खास तौर से गुजरात और महाराष्ट्र में सहकारिता अभियान बड़े सफल रहे हैं। इसलिए आणंद (गुजरात) से डेरी-सहकारिता का उभरा अभियान भी इन दो राज्यों में विशेष रूपसे सफल रहा, लेकिन फैला पूरे देश में। पहले जहाँ आधी-आधी रात उठकर दूधियों और हलवाइयों की दुकानों के सामने अपने लोटे-भगौने लेकर कतारें लगानी पड़ती थीं और जैसा भी दूध, जिस भाव मिला खरीदना पड़ता था, वहीं सहकारी डेरी के कारण लोगों को महानगरों और बड़े शहरों में दूध आसानी से मिलने लगा। लगभग 60,000 सहकारी समितियों में 80 लाख सदस्य बन गए और इनमें भी महिलाओं की संख्या सबसे अधिक हैं। इस श्वेतक्रांति ने लाखों परिवारों को गरीबी की रेखा से ऊपर उबार कर नया जीवन दिया।

लेकिन अंतर्राष्ट्रीय दुग्ध व्यापार में हमारी हिस्सेदारी ना के बराबर है। विश्व के सबसे अच्छे दुग्ध-उत्पादक होने और 7 करोड़ 80 लाख टन दूध प्रतिवर्ष पैदा करने के बावजूद विश्व के डेरी-व्यापार में हर साल हमारा मिल्क पाउडर और मक्खन टनों में कुछ सैकड़ा ही जा पाता है। उधर न्यूजीलैण्ड केवल 120 लाख टन दूध हर साल पैदा करता है, लेकिन 45 लाख टन दूध-पाउडर का हर साल निर्यात करता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि भारत के दूध और उससे बनी चीजों की सबसे अधिक खपत देश में ही हो जाती है। जबकि अमीर देशों में एक तो आबादी कम है, दूसरे मांसाहार से मिली चिकनाई ने ही वहाँ हृदय रोगों की समस्या इतनी बढ़ा दी है कि दूध-मक्खन तथा अन्य डेरी-उत्पाद लोग कम ही लेते हैं।

लेकिन भारत सरकार डब्ल्यू. टी. ओ. से भी पहले बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बहकावे में आकर विदेशी डेरी-उद्योगों के लिए भारत के द्वार खोलने के लिए उतावली हो रहीं थी। उदारीकरण के बहाने सह सन् 1995-96 में ही मिल्क पाउडर को आयात की जाने वाली वस्तुओं पर लगे मात्रात्मक प्रतिबंधों की सूची से बाहर निकाल लिया गया। जैसे ही प्रतिबंध हटे यूरोप से भारत में मिल्क पाउडर की आवक बढ़ने लगी। बढ़ते-बढ़ते यह 17000 टन तक पहुंची, तब खासतौर से पंजाब के डेरी-उद्योग का

माथा ठनका, क्योंकि वहां से जो मिल्क पाउडर निर्यात किया जा रहा था, वह औंधे मुंह लुढ़क गया। दूध की राष्ट्रीय ग्रिड पर भी खतरा मंडराने लगा। बिना किसी चुंगी के आ रहे सस्ते विदेशी दूध-पाउडर के सामने हमारे देशी उत्पादक भला, टिकते भी तो कैसे?

डब्ल्यू. टी. ओ. के अंतर्गत भारत को 'नॉन-टैरिफ बैरियर्स' का 'टैरीफिकेशन' करने के लिए मजबूर होना पड़ा है। इसीलिए बाहर से आ रहे मिल्क पाउडर को 'जीरो ड्यूटी' पर आने दिया गया। इसका कारण यह भी था कि मिल्क पाउडर प्रतिबंधित वस्तुओं की सूची में तो था, लेकिन उस पर मात्रात्मक प्रतिबंध नहीं लगा था। दूसरी ओर न्यूजीलैण्ड में अगर आप अपना मिल्क पाउडर भेजना चाहें, तो वह 12 प्रतिशत सीमा शुल्क या आयात शुल्क (इम्पोर्ट ड्यूटी) लगाता है। अमरीका में प्रति टन पर 865 डालर तथा यूरोप में भेजने पर प्रति टन 1188 डालर का आयात-शुल्क चुकाना होता है। भारत में सन् - - - - में मिल्क पाउडर का निर्यात 1400 डालर प्रति टन की दर पर किया गया। जबकि वहां के डेरी-उत्पादकों को अमरीका मिल्क पाउडर निर्यात करने पर प्रति टन 1028 डालर का ओर यूरोपी संघ 959 डालर की सब्सिडी देता है। इस तरह भारत में निर्यात किए जा रहे मिल्क पाउडर की कीमत इस सब्सिडी को मिलाकर देखें तो भारत में मिल्क पाउडर पैदा करने की कीमत से भी काफी कम बैठती है।

जब उनकी अपनी सरकारें भारी सब्सिडी दे रही हैं और जब हम अपना मिल्क पाउडर खुद बना रहे हैं, फिर कौन सी मजबूरी थी कि हमें मिल्क पाउडर बाहर से मंगाना पड़ा? यह समझ पान बड़ा मुश्किल है। सब्सिडी नापने की एक यूनिट तय की गई है, जिसे 'द प्रोड्यूसर सब्सिडी इक्वीवैलेण्ट' अर्थात् 'उत्पादक रियायत तुल्यांक' कहा जाता है। सन् 1997 में यह तुल्यांक जापान में 82 प्रतिशत, कनाडा में 59 प्रतिशत, यूरोपी संघ में 54 प्रतिशत, अमरीका में 47 प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में 23 प्रतिशत आंका गया था। इससे पता चलता है कि ये सभी देश अपने कृषि और डेरी उत्पादकों को कितनी भारी सब्सिडी देते रहे हैं और दे रहे हैं। दूध के पाउडर पर प्रति टन अमरीकी डालर 811 की सब्सिडी यूरोपी संघ ने सन् 1998 में दी थी। इसी तरह अमरीका ने डेरी-निर्यात को बढ़ावा देने के कार्यक्रम के तहत 875 डालर प्रति टन की सब्सिडी दी थी। इस तरह यह सब्सिडी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में मिल्क पाउडर के भाव 1,500 डालर प्रति टन का लगभग 55 प्रतिशत बैठती है।

इसी तरह अपने दुग्ध-उत्पादको को अमरीका और यूरोपी संघ ने इतनी भारी सब्सिडी दे रखी है कि अगर वे नियमानुसार कटौती भी करें तो भी इस सब्सिडी की कुल राशि और प्रति टन रकम बहुत ज्यादा बैठेगी। इस तरह बेहद रियायत देकर घटाये गए सस्ते दामों पर अमरीका और यूरोपी संघ दूध और दूध-पाउडर विकासशील देशों के बाज़ारों में पटक रहे हैं। उदाहरण के लिए जमैका के दुग्ध उत्पादकों ने अपना दूध सड़कों पर बिखेर कर ब्रिटेन द्वारा उनके देश में सस्ता दूध पटकने का विरोध किया था। भारत में भी एक बार सरकारी नीतियों का विरोध प्रदर्शन करते हुए मुम्बई के दूध-उत्पादक अपना दूध समुद्र में बहा चुके हैं।

डब्ल्यू. टी. ओ. के अर्थशास्त्रियों ने कहा था कि सब्सिडी में कटौती के बाद अंतर्राष्ट्रीय बाजार में दूध पाउडर के भाव बढ़ेंगे। लेकिन उनकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। सन् 1995 में जो दूध-पाउडर 2,200 अरब डालर प्रतिटन बिक रहा था, वही सन् 1998 में 1300 डालर प्रति टन रह गया। इस तरह डब्ल्यू. टी. ओ. को लेकर जो सब्जबाग दिखए जा रहे हैं, वे सब दुनिया को झांसे में डालने के लिए हैं। नहीं तो जैसा विश्व व्यापार संगठन के अधिकारी कह रहे थे कि दूध-पाउडर के दाम 16 से 20 प्रतिशत तक बढ़ेंगे, तो क्यों नहीं बढ़े? क्यों घट गए? साफ है कि डब्ल्यू. टी. ओ.को तो पश्चिमी दुग्ध-उत्पादकों के हितों की रक्षा करनी है।

यूरोपी संघ, अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड अपनी दूध की नदियां और दूध-पाउडर और मक्खन के पहाड़ जिस दिन भारत में लाकर पटकेंगे हमारा ऑपरेशन फलड सूख जायेगा और उसी के साथ सूख जाएंगे लाखों पशुपालकों की आजीविका के टिकाऊ स्रोत। कृषि क्षेत्र से करोड़ों रोजगार पैदा करने के योजना आयोग के सपनों पर भी पानी फिर जाएगा। गरीबी की रेखा से ऊपर आए परिवार फिर दरिद्रता के गर्त में लुढ़क जाएंगे। श्वेत क्रांति धूमिल हो जाएगी और विश्व में दूध पैदा करने में प्रथम स्थान पर पहुंचने की खुशी गम में बदल जाएगी।

बसंती क्रांति का अंत

आर्थिक-अपहरण का अजीब मामला था वह। तिलहनी फसलों और खाने के तेल के बारे में एकीकृत नीति लागू करने के दस साल बाद ही बसंती क्रांति के अंत के बीज बो दिए गए और इस तरह विश्व-बाजार में भारत को प्रमुख तेल-उत्पादक और निर्यातक बनने की बुनियाद को सरकार ने जानबूझकर मिटा डाला।

यह सब किया गया, इसलिए ताकि खाने के तेल के उद्योग और व्यापार को फायदा पहुंचे। फायदा पहुंचाने वाला था वहीं तंत्र जो इस देश की विचित्र राजनीतिक आर्थिक प्रणाली से उपजा है और जिसका एक ही लक्ष्य है- भारत की आत्म-निर्भरता की आत्मा को ही छलनी कर डालना। इस मामले में भी यही हुआ उन्होंने लाखों तिलहन उत्पादकों और करोड़ों उपभोक्ताओं की कोई परवाह नहीं की। सबको छोड़ दिया बाजार के भरोसे और मजबूत किया तो बस बाजारू ताकतों को। आइए देखें कि यह सिलसिला कैसे शुरू हुआ।

भारत के तिलहन-क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल होती रहीं हैं। सन् 1980 के बाद के दशक में हमें बाहर से खाने का तेल मंगवाने पर औसतन हर साल 10-12 हजार करोड़ रूपये खर्च करने पड़ते थे। पेट्रोलियम और रासायनिक उर्वरकों के बाद यह तीसरा क्षेत्र था जिस पर भारत इतनी अधिक विदेशी मुद्रा बाहर से आयात पर खर्च कर रहा था। किसान तिलहनों में खास दिलचस्पी नहीं ले रहे थे, क्योंकि इन फसलों की खेती अधिकतर बरानी इलाकों में होती है, जहां वर्षा बराबर दगा देती रहीं और किसानों ने ज्यादा जोखिम उठाने से मुंह फेर लिया। वे तिलहनों के उत्पादन की सुधरी तकनीकें

भी नहीं अपना सके। उधर सुधरी किस्मों के बीजों की भी कमी रही और बीज बड़ा मंहगा था। संभवतः अनुसंधान में भी तिलहनों को वैसी प्राथमिकता नहीं मिली, जैसी मिलनी चाहिए थी।

तिलहनों की खेती का मात्र 20 प्रतिशत क्षेत्र ही सिंचाई की सुविधाओं वाला था, इसलिए इनकी उत्पादकता और उत्पादन दोनों ही कम थे। हर साल तिलहन के उत्पादन में केवल दो प्रतिशत की दर से ही वृद्धि हो पाई। उत्पादन के पूर्वानुमानों पर आधारित वैज्ञानिक निष्कर्षों ने भारत में तिलहनों का भविष्य अंधकारमय ही बताया। सन् 1980 के बाद के दशक के आरंभिक वर्षों में भारत में तिलहन का उत्पादन 110 से 130 लाख टन प्रतिवर्ष पर अटका रहा, जबकि सन् 2000 तक देश की बढ़ती आबादी की माँग पूरी करने के लिए 80 लाख टन खाने का तेल चाहिए था, जो तभी मिल सकता था जब किसान अपने खेतों से कुल मिलाकर 260 लाख टन तिलहनी फसलें पैदा करें।

इस सब को ध्यान में रखकर सन् 1986 में टो. एम. ओ. यानी 'टेक्नोलोजी मिशन फॉर ऑइलसीड्स' की स्थापना की गई। इस तिलहन प्रौद्योगिकी मिशन का लक्ष्य यही था कि खाने के तेल में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए तिलहनों के उत्पादकों, प्रशोधनों और प्रबंधन की सर्वोत्तम प्रौद्योगिकी को अपनाया जाए। इस तकनीकी मिशन में एक ओर तो वैज्ञानिकों से अधिक पैदावार देने वाली किस्मों का प्रजनन करवाया गया और उत्पादन के सुधरे तरीके खोजने की सुविधाएं उपलब्ध करायी गयीं, वहीं कटाई के बाद की प्रौद्योगिकी को भी मजबूत किया गया और इन सब तकनीकों को किसानों तक पहुंचाने की मशीनरी पर चढ़ी धूल और जाले भी साफ करके उसे चुस्त-दुरुस्त किया गया। साथ ही तिलहनों की खेती करने वाले किसानों को बीज, पानी, यंत्र, दवाओं वगैरह पर रियायतें देने के साथ ही तिलहनों के आकर्षक समर्थन-मूल्य घोषित किए गए। पूरी योजना को लागू करने के लिए बीच-बीच में अड़ंगे लगाने वाली लालफीताशाही भी काट दी गई। इस तरह 170 करोड़, रूपये का तिलहन तकनीकी मिशन एक साथ 17 राज्यों के 180 जिलों में लागू किया गया। बाद में इसी के साथ 246 तिलहन-उत्पादक जिलों में 245 करोड़ रूपये के प्रावधान से तिलहन-उत्पादन पर बल देने की एक और प्रायोजना लागू की गई। सन् 1990-91 में इन दोनों प्रायोजनाओं को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया। इस तरह 18 राज्यों के 282 तिलहन-उत्पादक जिलों में तिलहन-उत्पादन का सुस्पष्ट, सुनियोजित और सुसंचालित कार्यक्रम तीव्र गति से कार्यान्वित किया गया।

इस प्रकार एक बिलकुल बदले माहौल, तरह-तरह की रियायतें और सुविधाएं तथा संस्थागत सहारे ने तिलहन-उत्पादन में ऐंड लगाई और वह तेजी से दौड़ने लगा। सन् 1992-93 तक तिलहनों का उत्पादन 210 लाख टन प्रतिवर्ष की उच्चतम सीमा पर पहुंच गया। इस उपलब्धि के लिए तिलहनों में उत्पादन की वार्षिक वृद्धि-दर 6 प्रतिशत तक पहुंचा दी गई। बाहर से खाने का तेल मंगाने की मात्रा लगभग नगण्य रह गई। बल्कि तिलहनों के निर्यातक की बजाय भारत तिलहनों का आयातक देश बन गया। इस तरह 10-12 हजार करोड़ रूपये की विदेशी मुद्रा भी बची और खली वगैरह

का निर्यात करके 500-600 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा कमाई जाने लगी। यही थी तिलहन-उत्पादन में आई वह क्रांति जिसे 'बसंती क्रांति' (यलो रिवोल्यूशन) का नाम दिया गया। किसान तिलहनों की खेती में दिलचस्पी लेने लगे और बारानी इलाकों में मोटे अनाजों की जगह मूंगफली और सरसों वगैरह की खेती होने लगी। यहां तक कि अनेक क्षेत्रों में दलहनी ही नहीं, गेहूं और धान की जगह भी किसान तिलहनों की खेती करने लगे। इससे यह भी साबित होगा कि हम भारतीय ठान लें तो फिर तमाम बाधाओं को काटकर सफलता के चरम शिखर पर पहुंच सकते हैं।

लेकिन हमारी इस अनूठी क्षमता में दुनिया को यकीन नहीं है, क्योंकि हम इन क्षमताओं का प्रदर्शन केवल संकटकाल में ही कर पाते हैं। तभी तो विश्व बैंक के विशेषज्ञों ने भविष्यवाणी की थी कि भारत में सन् 1993 तक इतनी कमी हो जाएगी कि बाहर से 30 लाख टन खाने का तेल मंगाना पड़ेगा। उन्हें क्या पता था कि तिलहन तकनीकी मिशन दूसरी योजनाओं की तरह 'टांग-टांग फिस' नहीं होने वाला, क्योंकि इसमें से वे सब गति-अवरोधक हटा दिए गए हैं, जो सिर्फ फाइलें घुमाते रहते हैं, कोई फैसला नहीं लेते और जिन्हें अपनी अगली पदोन्नति के लिए हर तरह के कुलाबे भिड़ाने के सिवा और कोई काम नहीं रहता। वे सोखते भी हटा दिए गए जो किसानों तक पहुंचें इससे पहले ही तमाम रियायतें और सुविधाएं सोख लेते थे। इस तरह साफ-सुथरे पारदर्शी तिलहन तकनीकी मिशन की बदौलत सन् 1986-87 का 110 लाख टन का तिलहन-उत्पादन, सन् 1994-95 में दुगना करके 220 लाख टन पर पहुंचा दिया गया। लेकिन इस बसंती क्रांति को देखकर उन अर्थशास्त्रियों के चेहरे पीले पड़ गए जो भारत को खाने के तेल में डूब जाने की भविष्यवाणियां कर चुके थे। बाजारू ताकतें भी भनभना उठीं। बाहर से खाने का तेल मंगाने पर जिनकी चांदी कट रही थी, उनके हाथों के तोते भी उड़ गए। जिस तरह डेरी-सहकारिता ने श्वेतक्रांति पैदा की, वैसे ही बसंती क्रांति पैदा करने में तिलहन-सहकारिता की नींव डालने का काम राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड को सौंपा गया था। इससे गुजरात का तिलहन-उद्योग तिलमिला उठा। एन. डी. डी. बी. के तिलहन सहकारिता कार्यक्रम के एक मैनेजर को ट्रेन में से उठाकर बाहर फेंक दिया गया। बहुतों को जान से मारने की धमकी दी गई। भारत में बसंती क्रांति लाने वाली राष्ट्रीय तिलहन-नीति को किसी भी दबाव में न बदला जाए, इस बारे में सरकार को बार-बार चेताया गया।

लेकिन विश्वबैंक ने अपना दबाव डालना जारी रखा। उसने यह तो माना कि अन्य क्षेत्रों में देश की प्रगति का रूख जैसा रहा है, उसके विपरीत तिलहनों में चमत्कारी उपलब्धि हुई है, लेकिन इस सकारात्मक परिवर्तन को लाने वाली नीतियों में विश्वबैंक को खामियां नज़र आती रहीं। उसका कहना था कि अमरीका और यूरोपी संघ में तिलहनों की पैदावार और उत्पादकता जितनी होती है, वैसी अब भी भारत में नहीं हो रही और इसलिए उनके मुकाबले में भारत कहीं नहीं ठहरता। उसने यह नहीं बताया कि अमरीका और यूरोपी संघ के तिलहन-उत्पादकों को जितना समर्थ-मूल्य दिया जाता है, उसके मुकाबले भारत सरकार अपने किसानों को जो समर्थन मूल्य देती है, वह बहुत कम है।

विश्व बैंक ने यह भी नहीं बताया कि अमरीका में तिलहन पैदा करने पर जो लागत आती है, उतनी कीमत पर भारत के तिलहन बाजार में बिकते हैं। अगर अमरीकी किसानों को मिलने वाली भारी सब्सिडी बंद कर दी जाए तो अमरीकी तिलहनों की लागत आसमान पर पहुंच जाए। असल में तो अमरीका, भारत के मुकाबले तिलहन-उत्पादन कहीं नहीं ठहरता, बशर्ते कि उसकी सब्सिडी को हटा दिया जाए और दोनों की तुलना करते समय अमरीकी किसानों को मिलने वाली सब्सिडी का ध्यान रखा जाए। इस तरह सस्ते होने के कारण अमरीका और यूरोपी संघ को भारत से तिलहनों का आयात करना चाहिए।

लेकिन हमारे प्रशासक और नीति-निर्माता तो विश्व बैंक के इशारों पर नाचने के लिए बेताब रहते हैं। वाशिंगटन की मुफ्त यात्राएं और पंचतारा होटलों में मुफ्त की मौज मस्ती उन्हें विश्व बैंक की जी हुजूरी के लिए मजबूर कर देती है। बेचारे क्या करें। यह लालच छूटता ही नहीं। लिहाजा तमाम ज़मीनी सच्चाइयों को ताख में रखकर 'ढांचागत परिवर्तनों' को लागू करने के बहाने सन् 1994-95 से खाने के तेल के आयात में छूट और ढील देने का सिलसिला शुरू कर दिया गया। उस समय खाने का तेल निर्यात करने वाले मलेशिया, इंडोनेशिया और ब्राज़ील जैसे देश भी 'पाम ऑइल' और 'सोया ऑइल' से भारत को नहला देने के लिए बेताब बैठे थे। उन्हें अपना पामोलीन और सोयाबीन का तेल बेचने के लिए बाजार नहीं मिल रहे थे। बस जैसे ही तिलहन-नीति में ढील दी गई कि दो साल में ही उसके नतीजे दिखाई देने लगे। खाने के तेल में हमारी आत्म-निर्भरता दो साल में ही गायब हो गई और सन् 1996-97 में खाने का तेल बाहर से मंगाने पर भारत को एक अरब डालर की विदेशी मुद्रा खर्चनी पड़ी। तब केन्द्रीय कृषि मंत्रालय ने हाय-तौबा मचाना शुरू किया।

खाने के तेल की थोक कीमतों में ही 14 प्रतिशत का उछाल आया, लेकिन उत्पादन गिर गया। सरकार की ढुलमुल नीति का फायदा तेल व्यापारियों को हुआ जो बाहर से 22,000 रूपये प्रति टन पर सूरजमुखी का तेल और पामोलीन मंगाने लगे और इसमें मूंगफली और सरसों का तेल मिलाकर 38,000 रूपये टन के भाव पर बेचकर अपनी तिजोरियां भरने लगे। इस तरह तेल का आयात खोल देने से न तो किसानों को फायदा हुआ और न उपभोक्ताओं को और हमारी खाने के तेल की आत्मनिर्भरता भी हाथ से निकल गई।

लेकिन इसमें बेचारी सरकार का क्या दोष। उसे तो तेल-उद्योग और तेल-व्यापारियों के हितों की रक्षा करनी है। जब अमरीका में सोयाबीन इतनी तादाद में जमा हो गयी कि उसे फिक्क होनी लगी कि इतनी सोयाबीन का क्या करे, तो हमारे भारतीय अधिकारी फौरन उसकी मदद के लिए तैयार हो गए। तभी तो सन् 1998 में अमरीका से 10 लाख टन सोयाबीन मंगवायी गयी, जब कि हमें कोई ज़रूरत नहीं थी। यही नहीं इस सोयाबीन के साथ पांच विदेशी खरपतवार भी आ गए और 11 विषाणु-रोग भी हमारे देश में घुस आए। इस सोयाबीन में से कितनी पराजीनी सोयाबीन थी, इसका किसी को नहीं पता और न यह मालूम है कि इस पराये जीन वाले सोयाबीन का तेल

खाने वालों के अपने स्वास्थ्य पर और उनकी संतानों के स्वास्थ्य पर इसका क्या असर पड़ेगा।

इस तरह तिलहन मिशन की उपलब्धियों पर पानी फेरते हुए फिर से खाने का तेल बाहर से मंगवाया जाने लगा। नवम्बर 1998 से जुलाई 1999 के बीच तिलहनों के आयात पर खर्ची जाने वाली विदेशी मुद्रा तिगुनी हो गई। सन् 1997-98 में 10 लाख 2 हजार टन खाने का तेल बाहर से मंगाया गया था। सन् 1999 में वह 29 लाख 80 हजार टन हो गया। उस समय यह आंका गया था कि सन् 1999-2000 में भारत को 50 लाख टन खाने का तेल बाहर से मंगाना पड़ेगा।

सन् 1995 से 1999 के बीच के चार सालों में बाहर से खाने का तेल मंगाने पर सीमा शुल्क लगातार घटाया गया है। पहले 65 प्रतिशत इम्पोर्ट ड्यूटी चुकानी पड़ती थी। यह घटाते-घटाते 15 प्रतिशत कर दी गई है। हो हल्ला मचा तो बाद में थोड़ी बढ़ाकर 27.5 की गई। इस तरह फिर से बाहर से खाने का तेल आने लगा। अब तो तेल उद्योग भी यह मानने लगा है कि बाहर से पामोलीन और अन्य तेल मंगाने के कारण देश में तिलहन की खेती और देशी तेल-उद्योग पर बुरा असर पड़ा है। अब तो तेल उद्योग भी कह रहा है कि बाहर से खाने का तेल मंगाना फौरन बंद किया जाए। भारी सब्सिडी देकर सस्ता किया गया विदेशी तेल भारत को बड़ा मंहगा पड़ा है। इसकी तेल निकालने वाली मिलें और किसान दोनों ही विदेशी तेल में डूबते जा रहे हैं। सन् 2002 में राजस्थान में जब किसानों की सरसों नहीं खरीदी गई तो इन्होंने सरकार की घेराबंदी शुरू की। स्वयं प्रधानमंत्री को आश्वासन देना पड़ा कि सरसों की खरीद की जाएगी। लेकिन जिन गलत नीतियों के कारण यह नौबत आई, उन्हें कब बदला जाएगा?

क्या भारत भूख का इतिहास बनाना चाहता है?

वे कहते हैं कि वे भारत में दरिद्रों और गरीबों को भोजन देकर अच्छी भावनाओं से नरक का रास्ता तैयार कर रहे हैं और मैं विश्व में भूख तथा कुपोषण से ग्रस्त सबसे बड़े देश 'भारत' की बात कर रहा हूँ— ऐसा प्रतीत होता है कि वे अच्छी भावनाओं से काम कर रहे हैं। मुझे इस बात की चिंता है कि प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा अधिनियम भूखों को काल्पनिक नरक की ओर न धकेल दे।

आज से 60 साल पहले गरीब और भूखे लोग अंधेरे रसातल में रहते थे, और उन्हें अपनी रोजमर्रा की भोजन की छोटी सी जरूरतों को पूरा करने के लिए भी कभी न खत्म होने वाला इंतजार करना पड़ता था। नए खाद्य सुरक्षा कानून ने सभी को भोजन दिलाने का वादा किया जिससे करोड़ों भूखों के मन में उम्मीद की किरण जगी। यदि इसे उचित तरह से लागू किया जाए तो ये एक नई शुरुआत हो सकती है और उसकी मदद से हमारे देश की 'भयंकर गरीबी' भी इतिहास बन सकती है।

पिछले कुछ समय से योजना आयोग और खाद्य मंत्रालय के बीच आपस में जो विचार-विमर्श हो रहा है उससे लगता है कि आज जो रास्ता बन रहा है वो नरक की ओर जाता दिखाई दे रहा है। यदि प्रति किलोग्राम 3 रुपये की दर से 25 किलो अनाज (चावल और गेहूँ) प्राप्त करने वाले गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों (बी.पी.एल.) का दोबारा वर्गीकरण किया जाए तो मुझे लगता है कि हम भोजन के अधिकार को वैधानिक ढांचे से लागू करने के अपने वास्तविक मकसद से दूर हो जाएंगे।

मुझे प्रस्तावित कानून के प्रारूप के महत्व में कुछ आशंका लगती है यूपीए-2 सरकार इस कानून को अपने पहले 100 दिनों में अंतिम रूप देना चाहती है लेकिन वे पर्याप्त विचार-विमर्श किए बिना ही इस दीर्घकालिक खाद्य सुरक्षा योजना में पूरे मन से काम करने का प्रयास कर रहे हैं, जिसमें धोखा होने का खतरा साफ दिखाई दे रहा है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को केवल मात्र एक नए 'अवतार' में परिवर्तित करने से ही गरीबी दूर नहीं की जा सकती है।

गरीबी को मिटाने की ओर

इससे पहले भी गरीबी से लड़ने की कोशिशें होती रही हैं। जैसे कि 2003 में ब्राजील में हुआ, वहां के राष्ट्रपति लूला ने विभिन्न पणधारियों (स्टेक-होल्डरों) के विभिन्न प्रकार के निवेशों से शुरू भूख मुक्त (शून्य भूख) कार्यक्रम चलाया। लेकिन आज तक भी वो भूख मिटाने के लक्ष्य से कोसों दूर है। भूख और गरीबी से जूझ रहे 460 लाख लोगों को प्रतिदिन 3 वक्त का भोजन प्रदान करवाने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर इसकी शुरुआत की गई।

ब्राजील ने 2005 तक अपने इस भूख मुक्त (शून्य भूख) कार्यक्रम पर 12 अरब अमेरिकी डॉलर का निवेश किया। और अभी राष्ट्रपति लूला इस कार्यक्रम से संतुष्ट नहीं हैं उन्हें लगता है कि इस कार्यक्रम को गलतियों के साथ लागू किया गया। ब्राजील के इस कार्यक्रम से प्रोत्साहित होकर मिश्र ने भी अपनी खाद्य असुरक्षित आबादी के लिए 2 अरब अमेरिकी डॉलर के एक कार्यक्रम की शुरुआत की।

मैक्सिको के *प्रोगरीसाओपोरटूनिडेडस* मानव विकास कार्यक्रम से भी खीख ली जा सकती है जिन्होंने 1997 में इस पर एक साल तक अध्ययन किया और लगभग दो साल तक योजना बनाने में लगाया। यह कार्यक्रम 42 लाख परिवारों तथा प्रति वर्ष 1 अरब अमेरिकी डॉलर की लागत का था।

यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र ने भी भोजन के कार्यक्रम में कई रुपयों का निवेश किया लेकिन फिर भी गरीबी बढ़ रही है। 316 लाख या प्रत्येक 10 अमेरिकी में से एक खाद्य स्टैम्प कार्यक्रम या इसकी ही तरह अन्य पोषण सहायक कार्यक्रमों से लाभ उठाता है।

वर्तमान समय में सरकार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले (बी.पी.एल.) 652 लाख वर्गीकृत परिवारों को चावल और गेहूं समेत 35 किलो खाद्य अनाज प्रदान कर रही है। यह रियायती अनाज जिसमें गेहूं प्रति किलो 4.15 रुपए तथा चावल प्रति किलो 5.56 रुपए की दर से मिलता है। 243 लाख परिवारों को अन्तोदया योजना में वर्गीकृत किया गया है। (बी.पी.एल. वर्ग के साथ) अनाजों की कीमतों में गेहूं में 2 रुपए तथा चावलों में प्रति किलोग्राम 3 रुपए की कमी आई है।

अन्य शब्दों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली कागजों (पी.डी.एस.) में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले 3160 लाख लोगों को भोजन उपलब्ध कराती है। ये गरीबों में गरीब हैं। और इसलिए गरीबी रेखा से नीचे की रेखा खींची गई है (मेरे विचार से जिसे भूखमरी की रेखा कहा जाना चाहिए)। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से लोगों को उनकी रोजाना की खाद्य जरूरतें प्रदान करवानी चाहिए। यदि पी.डी.एस. आंशिक रूप से भी प्रभावित हो तो मुझे लगता है कि विश्व में जो भारत को भूखों के रूप में जाना जाता है उस छवि में भी परिवर्तन होगा। फिर वैश्विक भूखमरी की सूची में पंजाब को, गेबन होन्डूरस तथा वियतनाम से कम का दर्जा देने का कोई भी कारण नहीं होगा।

दीर्घकालिक समय के लिए सबके लिए भोजन प्रदान करने वाले कार्यक्रम के लक्ष्य को ध्यान में रखकर भोजन स्टैम्प तथा पी.डी.एस. जैसे कार्यक्रम से अलग देखना होगा।

भारत को यहां मौजूद गरीबी तथा भूखमरी के ढांचागत कारणों पर आक्रमण करके भूख मुक्त (शून्य भूखमरी) के कार्यक्रम को बनाना चाहिए। किसी भी खाद्य सुरक्षा योजना को दीर्घकाल तक जारी रखने के लिए पर्याप्त रोजगार अवसर तथा चिरस्थायी रोजी-रोटी प्रदान करने के कार्यक्रम को प्रस्तावित करना चाहिए। इसके अलावा बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं, पीने के लिए साफ पानी तथा पर्याप्त सूक्ष्म पोषक अन्तर्ग्रहण से भोजन उचित रूप से समविष्ट हो जाएगा।

भूखा पेट सब्र नहीं कर सकता, एक समय के बाद भूखे पेट के प्रभाव समाज में उभरने लगते हैं जिसकी प्रतिक्रिया समाज के लिए बहुत घातक साबित हो सकती है। यह देखकर बहुत ही दुख होता है कि एक ओर तो सरकार बढ़ते हुए नक्सलवाद से लड़ रही है और दूसरी ओर वह इस तरह के अतिवाद को बढ़ाने की परिस्थितियां पैदा कर रही है। उद्योग, खनन, निर्यात के कारण कृषि का त्याग करना पड़ रहा है तथा भूमि अधिग्रहण की बढ़ती घटनाओं से लोगों को उनके एकमात्र आर्थिक सुरक्षा तथा किसानों को उनकी कृषि छोड़ने के लिए मजबूर किया जा रहा है।

प्रस्तावित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम ही इस तरह की एकमात्र गतिविधि नहीं है। इसे कई अन्य कार्यक्रमों तथा नीतियों के साथ जोड़ा जाना चाहिए ताकि भूखमरी इतिहास बन जाए। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा योजना में निम्न पांच प्रस्तावों को आवश्यक रूप से शामिल करना चाहिए :

भूखमरी मुक्त (शून्य भूखमरी) समाज के लिए सार्वजनिक नीतियां : गरीबी तथा भूखमरी के वास्तविक कारणों को जानकर उन्हें दूर करने के लिए मिश्रित ढांचागत नीतियां बनाई जानी चाहिए, दीर्घकालिक समय के लिए भोजन तथा पोषण की पारिवारिक जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेष नीतियां और पोषण से भरे जीवन को ध्यान में रखकर स्थानीय जरूरतों के लिए स्थानीय नीतियां बनाई जाएं। जैसे कि, सभी नीतियों को ग्रामीण-शहरी स्थानान्तरण को ध्यान में रखकर परिवर्तित नीतियों का लक्ष्य होना चाहिए। जितना ज्यादा स्थानान्तरण होगा उतना ही ज्यादा शहरी केन्द्रों पर भार बढ़ेगा तथा सरकार को गरीबी से लड़ने में और अधिक सहायता करनी होगी। नक्सलवाद की बढ़ती धमकियों के खिलाफ कृषि तथा शहरी विकास एक सबसे अच्छा बचाव है।

जीविका को बनाए रखना :- जिस देश में कृषि, अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार हो, वहां बाहरी निवेश को मजबूत करने के लिए सभी तरह के प्रयास किए जाने चाहिए ताकि कृषि-कार्यों को बनाए रखा जाए। आज प्राकृतिक संसाधनों को ताजा करने, जमीन के नीचे के पानी के स्तर को पुनर्जीवित करने की जरूरत है इसके अलावा किसानों को उच्च स्तर की आय प्रदान करवानी चाहिए। किसानों को उनके पास उपलब्ध जमीन के आधार पर मासिक आय प्रदान की जानी चाहिए। एनआरईजीए को कृषि के साथ शामिल करना होगा, और गरीबों के लिए लघु-ऋणों की ब्याज दरों को वर्तमान 20-48 प्रतिशत से घटाकर 4 प्रतिशत किया जाना चाहिए।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली :- पी.डी.एस. योजना में शीघ्र ही सुधार की जरूरत है। बी. पी.एल. तथा ए.पी.ए. के वर्तमान वर्गीकरण को अलग-अलग करना होगा। असंगठित क्षेत्रों में स्थापित उद्योगों के संबन्ध में राष्ट्रीय आयोग की सिफारिशों के अनुसार 8360 लाख लोग प्रतिदिन 20 से भी कम रूपए खर्च करने की क्षमता रखते हैं। तो एक अर्थपूर्ण 'सबके लिए भोजन' कार्यक्रम अपनाकर इन परिस्थितियों को दूर करना होगा। प्रति परिवार 25 किलोग्राम राशन की मात्रा को भी बढ़ाए जाने की जरूरत है, इसके अलावा उनकी खाने की थाली में मोटे अनाज और दालों को भी शामिल किया जाना चाहिए।

खाद्यान्न भंडार :- पी.डी.एस. की योजना के तहत गांवों तथा तालुका स्तर पर भी खाद्यान्न भंडार स्थापित करने चाहिए कोई भी दीर्घकालिक खाद्य सुरक्षा योजना तब तक अच्छी तरह काम नहीं कर सकती जब तक भूख के खिलाफ लड़ाई में गरीबों और भूखों को शामिल नहीं कर लिया जाता। यहां सफल परम्परागत खाद्यान्न बैंकों के कई उदाहरण मौजूद हैं (जैसे कि बिहार में प्रसिद्ध 'गोला' पद्धति) जिसे राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले स्वयंसेवी संस्थाओं तथा गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा दोहराया जाना चाहिए। हमें दीर्घकाल तक चलने वाले कार्यक्रम और परियोजनाएं चलानी चाहिए जो कुछ सालों तक सरकारी सहयोग के बिना व्यावहारिक रूप से अच्छा काम करें, इसमें धर्मार्थ संस्थान, धार्मिक संगठन, एसएचजी, तथा गैर लाभकारी संस्थाएं भी जुड़ी हों ताकि इन योजनाओं को अमल में लाया जा सके और इनकी मदद से देश में भूख की स्थिति में जल्दी ही सुधार हो।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते :- वैश्विक समझौते तथा नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों को खाद्य सुरक्षा योजना में हस्तक्षेप करने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए। विश्व व्यापार संगठन के तहत होने वाले समझौते (डब्लूटीओ), मुक्त व्यापार समझौता (एफटीए) तथा अन्य द्विपक्षीय व्यापार करने वाले संगठनों को किसानों के समुदायों में स्थानान्तरित नहीं किया जाना चाहिए तथा उन्हें राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा को नष्ट करने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए। जैसे कि भारत को डब्लू टी ओ में दोहा के दौरान होने वाले समझौतों में भारत, कृषि पर कोई समझौता नहीं कर सकता तथा सस्ते और रियायती आयात की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। भारत जैसे देश के लिए खाद्य पदार्थों का आयात करने का अर्थ है कि जैसे वो भोजन का नहीं बल्कि बेरोजगारी का आयात कर रहे हैं जो आगे चलकर भूख को ही बढ़ावा देगा।

Bibliography

- Belsie, L. (October 2000) 'An Unstoppable Technology? Behind the biotech push: world hunger'. *The Christian Science Monitor*
- Biotech - The Next Generation, Good for Whose Health?: The Food Commission and GeneWatch UK (April 2000)
- British Medical Association (1999): *The Impact of Genetic Modification on Agriculture, Food and Health*, An Interim Statement, May
- Cox, C. (1995); Glyphosate, Part 2: Human exposure and ecological effects. *Journal of Pesticide reform* 15 (4).
- Cunningham, E.P. (1990) Animal Production. In: Persley, G.J. (ed.), *Agricultural Biotechnology: Opportunities for International Development*. CAB International, Wallingford, UK.
- Dixit, Kunda (1997): *Dateline Earth: journalism as if the planet mattered*. Inter Press Service, Pasig city, the Philippines.
- Food? Health? Hope? Genetic Engineering and World Hunger: The Cornerhouse (October 1998)
- Fox, J. (1997) 'Farmers say Monsanto's engineered cotton drops bolls.' *Nature Biotechnology* 15:1233. Fox, J. (1998) 'A few farmers wrangle over engineered cotton.' *Nature Biotechnology* 16:414.
- Genetically Modified Crops, World Trade and Food Security: Oxfam GM Policy Paper (November 1999)
- Ghosh, P.K. (2000), *Genetically modified crops in India with special reference to cotton*. Silver Jubilee Lecture Series. Mumbai, India: Indian Society for Cotton Improvement, Central Institute for Research on Cotton Technology.
- GM Crops: Food Production and World Hunger: Unison (June 2000)
- Gordon Conway (1997): *The Doubly Green Revolution: Food for all in the 21st century*: Harmondsworth, Penguin
- Government of India (2000), *Large-scale field trials for transgenic cotton allowed*. Press Information Bureau, Government of India, New Delhi (20.7.2000).
- Ho, M.W., Meyer, H. and Cummins, J (1998). The biotechnology bubble. *The Ecologist* 28(3), 146-153.
- Hobbelink, H. (1991): *Biotechnology and the future of world agriculture*. Zed Books, London, UK.

- John Madeley (August 1999); Trade and the Hungry: how international trade is causing hunger: APRODEV
- Lambrecht, B.(1998): *World Recoils at Monsanto's Brave New Crops,*” St Louis Post-Dispatch, Dec 27.
- Lappé, Collins and Rosset, Earthscan (1998); World Hunger: Twelve Myths:London
- Luke Anderson (1999) Genetic Engineering, food and our Environment: Green Books, Devon
- MacDonald, J.F. (ed)1995: Genes for the Future; discovery, ownership, Access. National Agricultural Biotechnology Council, New York.
- Mackenzie, D. (1998). Gut reaction. New Scientist 30 Jan, p4.
- Overfed and Underfed: Gary Gardner and Brian Halweil, Worldwatch Institute (March 2000)
- Persley, G.B. (1990): *Beyond Mendel's Garden: Biotechnology in the Service of World Agriculture.* CAB International, Wallingford, UK.
- Persley, G.B. (1990): *Beyond Mendel's Garden: Biotechnology in the Service of World Agriculture.* CAB International, Wallingford, UK.
- Puri, S.N. *et al.* (2000), *Integrated Pest Management in Cotton* . New Delhi, India: National Centre for Integrated Pest Management.
- Rosset, P. et al (1998) World Hunger: Twelve Myths: Earthscan, London
- Sharma, D. (1995): *GATT to WTO: Seeds of Despair.* Konark Publishers, New Delhi, India.
- Sharma, D. (1997): *In The Famine Trap.* The Ecological Foundation, New Delhi and UK Food Group, London, UK.
- Simms, Andrew (1999) Selling Suicide: farming, false promises and genetic engineering in developing countries: Christian Aid, May
- Smiley, R. W. (1992) ‘Influence of glyphosate on Rhizoctonia root rot, growth and yield of barley.’
- Susan George (1991) How the Other Half Dies: the real reasons for World Hunger : Harmondsworth, Penguin
- The Royal Society (July 2000); Transgenic Plant and World Agriculture:
- United States Department of Agriculture (1999) ‘Genetically engineered crops for pest management.’